नागरीप्रचारिणी पत्रिका

[संवत् २०२१ वि०]

वर्ष ६९ अंक १-२

संपादकमंडल

डा० संपूर्णानंद : श्री कमलापति त्रिपाठी
डा० नगेंद्र : श्री शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र'
श्री करुणापति त्रिपाठी : श्री सुधाकर पांडेय
—संयो०, संपा० मंडल —संयो०, पत्रिका एवं सह-संयो०, संपादक मंडल

काशी नागरीप्रचारिणी सभा

पत्रिका के उद्देश्य

१—नागरी लिपि और हिंदी भाषा का संरक्षण तथा प्रसार।

२—हिंदी साहित्य के विविध अंगों का विवेचन।

३—भारतीय इतिहास और संस्कृति का अनुसंधान।

४—प्राचीन अर्वाचीन शास्त्र, विज्ञान और कला का पर्यालोचन।

सूचना

१—प्रतिवर्ष, सौर वैशाख से चैत्र तक पत्रिका के चार अंक प्रकाशित होते हैं।

२—पत्रिका में उपर्युक्त उद्देश्यों के अंतर्गत सभी विषयों पर सप्रमाण और सुविचारित लेख प्रकाशित है।

३—पत्रिका के लिये प्राप्त लेखों की प्राप्तिस्वीकृति शीघ्र की जाती है और उनकी प्रकाशन संबंधी सूचना एक मास में भेजी जाती है।

४—लेखों की पांडुलिपि कागज के एक ओर लिखी हुई, स्पष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। लेख में जिन ग्रंथादि का उपयोग या उल्लेख किया गया हो उनका संस्करण और पृष्ठादि सहित स्पष्ट निर्देश होना चाहिए।

५—पत्रिका में समीक्षार्थ पुस्तकों की दो प्रतियाँ आना आवश्यक है। उनकी प्राप्तिस्वीकृति पत्रिका में यथासंभव शीघ्र प्रकाशित होती है। परंतु संभव है उन सभी की समीक्षाएँ प्रकाश्य न हों।

नागरीप्रचारिणी सभा, काशी

उर्दू गद्य का एक दुर्लभ नमूना

[डा० सैयद अतहर अब्बास रिज़वी के बुलेटिन आव दि स्कूल आव ओरिएंटल ऐंड अफ्रिकन स्टडीज, यूनिवर्सिटी आव लंदन, भाग २७, खंड २, १९६४, में प्रकाशित निबंध का सारतत्व]

हाई वीकांब, बकिंघमशायर (इंगलैंड) निवासी श्री जे० के० गबिंस के पास उर्दू गद्य का एक दुर्लभ नमूना मौजूद है। यह इनके पुरखे, जान पैंटन गबिंस को शाहजहानाबाद (दिल्ली) से स्वदेश वापसी पर बिदाईपत्र के रूप में भेंट किया गया था। हाल ही में लंदन विश्वविद्यालय के 'स्कूल आव ओरिएंटल ऐंड अफ्रीकन स्टडीज' ने इस बिदाईपत्र की फोटो प्रतिलिपि प्राप्त की है।

बिदाईपत्र पढ़ने से ज्ञात होता है कि श्री जान पैंटन गबिंस ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारी के रूप में भारत में २७ वर्षों तक विभिन्न पदों पर काम करते रहे। अपनी नौकरी के अंतिम सात वर्षों तक आप शाहजहानाबाद (दिल्ली) में दौरा (सेशन) जज के पद पर रहे और वहाँ से अवकाश लेकर सन् १८५२ ई० अर्थात् सन् १८५७ की प्रथम भारतीय क्रांति के पाँच वर्ष पहले इंगलैंड चले गए। श्री गबिंस फारसी और उर्दू के विद्वान् थे। फारसी में वह पत्रव्यवहार कर लेते थे और उर्दू तो उनकी ऐसी सलीस तथा बामुहावरा होती थी कि दिल्ली के गिने चुने लोग ही उर्दू बातचीत में उनके सामने टिक पाते थे।

यह बिदाईपत्र ८·२ इंच लंबे और ६ इंच चौड़े १५ पृष्ठों में लिपिबद्ध है। हाशिया छोड़कर प्रत्येक पृष्ठ के इबारती अंश का आकार ५ इंच×३ इंच है। बिदाईपत्र के सभी पृष्ठों के हाशिए पर भव्य नक्काशी अंकित है जिसके बीच सुनहले और नीले रंगों की चमकदार घुटाई की गई है। बिदाई पत्र के प्रथम पृष्ठ पर नक्काशी और रंगों की चमक विशेष बारीकी और कारीगरी के साथ की गई है। इसके पहले छह पृष्ठों में बिदाईनामे का मजमून अंकित है और शेष पृष्ठों पर बिदाई देनेवाले दिल्ली के विशिष्ट नागरिकों के हस्ताक्षर फारसी, अंग्रेजी या गुजराती लिपि में हैं और कितने ही लोगों ने फारसी लिपि की अपनी मुहर भी अंकित की है। कुछ ने अपने हस्ताक्षरों के साथ अपनी वल्दियत और सकूनत भी अंकित की है। उस समय दिल्ली में उर्दू फारसी का ही बोलबाला था। अतः अधिकांश हस्ताक्षर इसी लिपि में हैं और गुजराती तथा अंगरेजी में हस्ताक्षर अपवाद स्वरूप ही हैं।

बिदाईपत्र में श्री गबिंस की प्रशंसा विशेषरूप से इस बात के लिये की गई है कि उनके न्यायाधीश काल में अदालत के अमलों की मनमानी ज्यादती नहीं चलने पाई। अधिकांश अँगरेज हाकिम उर्दू फारसी से अनभिज्ञ होते थे। अतः मुकदमों में पेश किए गए कागजातों तथा कानून की नजीरों का जैसा कुछ अर्थ पेशकार आदि, मुवक्किलों से घूस लेकर, हाकिम को समझा देते थे उसी के अनुसार वह मुकदमों का फैसला करते थे। फलतः लोगों को अदालतों से न्याय पाने के प्रति विश्वास उठ गया था। परंतु श्री गबिंस उर्दू फारसी के जानकार होने के नाते मिसिल के कागजातों और कानून की नजीरों का अध्ययन स्वयं करते थे और अहलकार लोग अपना उल्लू सीधा नहीं कर पाते थे। अतएव उनके फैसलों से व्यापक संतोष होता था। उनकी इस विशेषता की बिदाईपत्र में भूरि भूरि प्रशंसा की गई है।

उर्दू भाषा का यही सबसे पहला उपलब्ध बिदाईपत्र है। इसकी भाषा सरल, मुहावरेदार और प्रवाहपूर्ण है। इसमें वैसा बनावटीपन और तथाकथित कलात्मकता नहीं है जिसे उर्दू पद्य और गद्य लेखन का अनिवार्यतः आवश्यक अंग माना जाता रहा है और जिससे आज भी उर्दू भाषा पूरी तरह मुक्त नहीं हो पाई है। शैली के कुछ घिसे पिटे विधानों और विशेषणों को इस बिदाईपत्र में भी स्थान अवश्य मिला

है परंतु वह इतना नहीं है कि मूल विचार भाषा के बोझ से दब जायँ और सारा मतलब ही खत्म हो जाय। १९वीं शताब्दी के मध्य में दिल्ली का सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन कैसा था और श्री गबिंस का उसमें कितना योगदान रहा, इसकी सुंदर झाँकी विदाईपत्र पढ़ने से मिल जाती है।

बिदाईपत्र के साथ दिल्ली के नागरिकों ने श्री गबिंस को चाँदी का एक कलमदान भी भेंट किया था जिसपर फारसी में निम्नांकन था :

जज दादगर जान पांटन जदेहली।
बनामे निकोशुद बइंग्लैंड रुखसत॥
बशुक्रिये तारीख बर यादगारी।
नविश्तेम बाहाय गम हाय फुर्कत॥
(२८५२)

विदाईपत्र पर हस्ताक्षरकर्ताओं में कुछ नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिनका दिल्ली के तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक जीवन में विशिष्ट स्थान था। ऐसे नामों में दो सर्वप्रमुख हैं—मुहम्मद सदरुद्दीन खाँ बहादुर और (सर) सैयद अहमद खाँ। सदरुद्दीन खाँ संभवतः वही हैं जो रामपुर के नवाब, हिज हाइनेस नवाब यूसुफ अली खाँ के शिक्षक थे और जिनका पूरा नाम था मुफ्ती सदरुद्दीन आजर्दा (मृत्यु सन् १८६८ ई०)। इन दोनों के हस्ताक्षर विदाईपत्र के पृ० ७ (ब) पर अंकित हैं। पृ० ९ (ब) पर अंतिम मुगल सम्राट् बहादुरशाह 'जफर' के काव्यगुरु 'जौक' का हस्ताक्षर है। इनका पूरा नाम है मलिकुश्शुअरा खाकानिएहिंद मुहम्मद इब्राहीम खान बहादुर। इन्होंने अपने हस्ताक्षर के आगे अपनी कलम से ही यह भी लिखा है—'खाकसार उस्ताद सुल्तानी' (सम्राट् का विनम्र शिक्षक)। इसी पृष्ठ पर उस्ताद 'जौक' के दो लड़कों—मुहम्मद इस्माइल खाँ और नदीमुदौला खिलाफतुलमुल्क हाफिज मुहम्मद दाऊद खाँ मुस्तहकम जंगबहादुर—के भी हस्ताक्षर हैं। 'जौक' तथा 'गालिब' की लाग डाँट की बात तो सर्वविदित ही है। अतः यह कैसे संभव हो सकता था कि जिस विदाईपत्र पर उस्ताद 'जौक' तथा उनके दो बेटों के हस्ताक्षर हों उसी पर मिर्जा 'गालिब' भी हस्ताक्षर करने को सहमत हो जायँ। फलतः इसमें मिर्जा गालिब का हस्ताक्षर ढूँढ़ने पर नहीं मिलता। साहित्यक क्षेत्र का एक और उल्लेखनीय नाम है मौलाना मोहम्मद हुसेन आजाद का। यह श्री गबिंस की विदाई के समय २० वर्ष के ही थे और कालेज के विद्यार्थी थे। अतः इन्होंने बिदाईपत्र पर अपने नाम के आगे अपने परिचय स्वरूप यह भी लिखा है—वल्द मोहम्मद बाकर, 'इस्कालरे मदरसा'

पृ० ११ (ब) पर हस्ताक्षर है दिल्ली कालेज के गणित के ज्येष्ठ प्रोफेसर श्री रामचंद्र का। इन्होंने उर्दू में गणित की कई पुस्तकें लिखी थीं और उस समय ३५ वर्ष के थे। इसी कालेज के गणित के द्वितीय प्रोफेसर राधाकृष्ण और फारसी के तृतीय प्रोफेसर करीमबख्श के हस्ताक्षर भी इसी पृष्ठ पर हैं। अंगरेजी में हस्ताक्षर करनेवालों में हैं दिल्ली कालेज के हुसैनी 'Hosinee'। कुछ ने अंग्रेजी और फारसी दोनों में हस्ताक्षर किए हैं, जैसे डा० चमनलाल, जो हिंदू से ईसाई हो गए थे। इन्हें बाद में १८५७ की क्रांति भड़कने पर ११ मई को उत्तेजित जनता ने मार डाला था। कई साहूकारों और महाजनों ने या तो केवल गुजराती में या गुजराती और फारसी दोनों में हस्ताक्षर किए हैं, जैसे 'गिरधारीलाल वल्द लाला शूगनचंद'। विदाईपत्र में दो विशिष्ट पत्रकारों के हस्ताक्षर हैं (पृ० ११); ये हैं जाफरीया प्रेस के मैनेजर इमदाद हुसेन और 'उर्दू अखबार', दिल्ली के भूतपूर्व मैनेजर मोतीलाल पंडित।

सर सैयद अहमद की तो श्री गबिंस से विशेष घनिष्ठता ही थी। अतः विदाईपत्र पर उनका हस्ताक्षर न होना आश्चर्य की बात होती। यह श्री गबिंस की मातहती में ही दिल्ली में १८४६ से १८५५ तक मुंसिफ पद पर रहे। इससे पहले भी सर सैयद के साहित्यिक व्यक्तित्व के विकास में श्री गबिंस से प्रोत्साहन मिला था। श्री गबिंस के ही सुझाव पर सर सैयद ने सम्राट् जहाँगीर के संस्मरणों 'तुजक-जहाँगीरी' का संपादन किया। इसका प्रकाशन सर सैयद ने बाद में १८६३-६४ में कराया। विदाईपत्र का लिप्यंतरण निम्नांकित है :

बिदाईपत्र

बिस्मिल्ला हिर्रहिमानिर्रहीम व
बः निस्तश्रीन
हामिदन व मस्लीयन
ऐ सखावत शोत्रारे अदल
पनाह जानेपाटन गुर्विशे आलीजाह

चूँकि वसवब पेश आने बाज बाज अमूरात जरूर यह कि आपने कुसाजे मुराजिअत तरके वतन मालूफ की किया है इस खबर वहशत-अंगेज हसरतअफ्जा की सुनी से हम रऊसा शाहजहाँबाद बल्कि तमाम रिआया देहली के दिलों पर जो जो गम व अलम गुजरते हैं ताकत नहीं कि मआविज बयान में उसकी जुबाने कलम में शिगाफ पड़ गया है किस तरह अहातए तहरीर में ला सके और क्यों न हो जो कुछ हो सो थोड़ा है ऐसा हाकिम आदिल इंसाफ परवर जाद गुस्तर नेक सीरत सखावत तीनत अकील औ फहीम जकी उलतबा साहब दयानत व अमानत बुर्दबार व हलीम अगर चिराग लेकर ढूँढेंगे तो न पावेंगे खयाले मुफारकत खिदमत का हरदम दिल को मजरूह करता है और इसपर यादे इंसाफ व हकपरस्ती और सने इख्लाक नमकपाशी करती हैं।

जैसा कि एक जमाने में तमाम अहाले शहर आपकी महासने सफात से मुस्तफीज व बहरेयाब होकर शादान व फिरहान शुक्रगुजार होती थी वैसा ही अब आपके सिवा बिके एहसानात को याद कर मुहरजन व गमगीन होती हैं। अब बेअख्तियार है जबान पर आता है कि वह राहत व आराम जो कि आपके जमाने में पाये अगराबन अइय्याम में मुबदिल यह तकलीफ व बे आरामी होते तो बहुत सहल थी बनिस्बत इस मुसीबत व गिजाब के जो कि मुफारकत खिदमते आली से दिलों पर गुजरता है।

लगूजुबिउल्लाहमिनुलहुनर बईदुलफुनर

मुद्दत सत्ताइस साल है कि आप दाह हिंदुस्तान हुए अलीउलखसूस सात बरस के अरसे से कि आप ओहदे सेशनजजी दारुलखलाफा शाहजहाँबाद पर मनसूब हैं तमाम रियाया शहर आपकी दादगस्तरी और अदल परवरी से मस्कूर व ममनून और इसकदर गरे अंबारे मिन्नत व एहसान है कि सिर नहीं उठा सकती।

सिर्फ हम लोगों के आराम व आसाइश के लिये आपने तिब्बए नाजुक पर बारे मिहनत उठाकर अपने तकलीफ और बेआरामी गवारा की।

आपका कसरते तवज्जह व अलकाब और मजीद तहकीकात से मुमकिन न पाया कि... अपने हक के लिये महरूम रह जाय और दादख्वाह अपनी दाद को न पूँछे। अकशार जहजार अहले हिंद का कौल था कि सरकारी मुहकमों में अहल्कारों को अख्तियार तमाम और मुदाखिलत कुली हासिल होते और यह ख्याल खाम उनके दिलों पर ऐसा नुकश का लेहजा हो रहा था कि कोई सूरत उसके मिटने की समझ में न आती थी लेकिन सुभानल्लाह अपनी किस लताफत से उनके इस कौल को बिलकुल नुकश बर आब कर दिखाया कि वह लोग खुद लाजवाब हो गए।

मुदाखिलत तो बहुत दूर है, वक्त दरपेश मुकदमा सिवाय वकलाम जाबनीन किसी को ताकत दम मारने की भी नहीं होती ज्यादातर काबिले मुदह व तौसीफ यह अमर है कि फैसला मुकदमात में आपने सिर्फ इल्फाज व जाहिर इबारत ही पर कानून की कुछ ख्याल-नुकियाँ बल्कि असल गरज और मनशाए कानून की तरफ भी गौर की और बमवज्जिब उसके हुक्म व अहकाम जारी किए कि यह दलील काते व बिरहान साते से कमाल नुकतारसी व दकीकाफहमी इलमे वसूल कवानीन पर।

जबाने फारसी में जैसी चाहिए वैसी महारत व इस्तआदाद आपको पाए हतो कि अकसर साहबों से बतौर खुद रस्न अरसाल व तरसील मुरासिलात बतौर अहले फारसी भी जारी है।

दर हकीकत जुबाने उर्दू मुस्त आमिलहे खवास अहले हिंद मुआफिक मुहावरह रोजमर्रह की इस खूबी व लताफत और फिसाहत व सिलासत से आपको अदा करती हुई देखा

कि बेहतरी इस मुल्क की भी इस न्यामत से महरूम और इस कूचे से ना बलेदंगे बल्कि इस वास्तें सुना गया कि आपको दरबावे फैसला मुकदमात मशालखवानी व उजराय हुक्म अहकाम वगैरह में हाजत अहले अमला के असला नहीं होती।

तरतीब को अगज व इन्ताजामे दफ्तर जब सिरिश्ता और मुआफिक कवानीन मुजार यह कि जैसा कि चाहिए वैसा मुहकमए आली में देखा गया।

पाबंदी कवानीन व दाब व आदाब खसूस वक्त इजलास हैबत व जलालते दरबारे दुर्रबार काबिले देखने के है और फिर बावजूद इस जाहो जलाल की हलम व बरोबारी भी आपकी इस रुत्बा पर कि अपने वक्त पर मुर्तकबे जुर्म व उज़ुर ख्वाह से वह दरगुजर और चश्मपोशी अमल में आती है कि मुश्ताक लुत्फ व करम व रहमतुलाह और मुजहरे जुमरगीज व अफो माश वाजह व आश्कार होता है कि तफसील हर एक की इस जगह मुवरिंशे ततूवील हो कागज मुतहमिल गुंजाइश नहीं।

हका कि कमालात व औसाफ जात बाबरकात की अहातह तहरीर से बाहर हैं।

हलम व तहम्मुल और हुस्ने इख्लाक और कदरदानी अहले कमाल और कयाम मिजाज व इस्तकलाल अमर तिब्बी व जिब्ली मालूम होता है। तवाजा व इन्कसार और खौफ खुदाए कहार भी अपनी मुकाम पर पुख्तर पाया।

खैरात मबरात से अकशर फुकरा व गुर्बा मश्कूर पाए जाते हैं।

तहजीब अहले हिंद और तरवेज अलूम अमूमन और खसूसन तरक्की मदरसा और परवरिश तालिब इलमान मदरसा में आपने बड़ी सई व कोशिश को काम फरमाया। हकीकत यह है कि वह औसाफ व कमाल जो कि लवाजिमे हुकामे निसन्निकहे शुआर से हैं आपकी जात जामुलकमालात में कुमाहकहे मुजतमा पाए।

अलम खस्र की बदली में इस राहत आराम की जो कि आपकी नजम व नश्क व इंतजाम से इस मुल्क में खास व आम ने पाए रोसा व रियाया बखबर उसकी और कुछ नहीं कह सकते कि शुक्र है उस खुदा का जिसने हमें ऐसे हाकिम की जेरे हुक्म इस राहत व आराइश में रखा लेकिन फिर भी बेसाख्ता यही जुबान से निकलता है कि सरासर मुकामे हसरत व अफसोस है कि ऐसा हाकिम आदिल इल्म दोस्त अकील व फहीम मुंतजिम व कारगुजार खैरख्वाह सरकार व रियाया सरकार इंसाफ व शारे हकपरस्त सखावत शुआर हली मुल्तिब्ब नेक तीनत कदर शनास अहले रुत्बा व कमाल अपने मदाहान खैर अंदेश को छोड़कर आजिमे वतन असली हो और दाए हसरत व नाकामी दिलों पर यादगार छोड़ जाय।

बल्कि आप जैसे साहब अखलाक साहबे हिफाक से यकसर महले तअज्जुब है कि ऐसी खैरख्वाह दुआ गो रियाया तर्क करने को क्योंकर दिल सफा मुंजिल ने गवारा मगर इस अमर को बखबर कमकिस्मती हमारे मुल्कवालों की और क्या तसव्वुअर किया जाय। ज्यादहतर महल्ले हसरत व हुरमानं यह है कि हमको इतनी इस्तताअत दोस्ते कुदरत नहीं कुछ चारह नहीं बन आता जो ऐसी यकानए उसर व यकताए देहर को रोक सकें।

अब दुआ है जनाबे इलाही में कि आप बखैरो आफियत वतन असली में पहुँचकर सिरगमें ऐश व कामराने हों और अल्लाह तआला हमदारिज आलियह फायजं कहे और उम्रतिब्बी को पौंचाए जमीउ मुतालिब व मुकासिद मुवाफिक मरजी के हासिल होती रहें जश्म जख्मे हवादिशे रोजगार व मुफरत हुरिंसाने ऐदाय बद कर्दकार से अपने जुल हिमायत में महफूज व मुसव्वुन रखे। आपके मुहासिन व मुकर्रिम तो दमे जिन्नत तक न भूलेंगे हमारे लिये तुम्हारी यादगारी दाग मुफारकृह सफहए दिल पर निशानी काफी व दाफी है लेकिन हमलोगों के तरफ से यह कलमदान बतौर यादगारी और इजहार एहसानमंदी व मौत कवली खिदमतें आली में गुजराना जाता है अगर इस हिदए मुहतकुरह को जेवे कबूल बख्शिए तो इख्लाद हमीदह से कुछ बईद नहीं और कमाले एहसान आखिर है इन अलाह यजबुल महनीन।

हस्ताक्षरकर्ता (अकारादि क्रम से)

अ अब्दुल अली खान, पुत्र बख्शीश अली खान, सुप्रसिद्ध मर्सियाख्वाँ, दिल्ली। अब्दुल हकीम, हाफिज, प्रतिनिधि नव्वाब हयात-उन् निसा बेगम। अब्दुल नबी। अबुल हसन बेग, पुत्र शाकिर अली बेग, पौत्र इब्राहिम बेग खान, उपाधि जोलपई, अर्थात् जागीरदार सुल्तानी। अहमद अली, मीर रिसालादार, सरकार, वाली-ए-हैदराबाद। अहमद खान, मीर। अहमद कुली खान बहादुर, शम शाम् उद्-दौला, अमीर उल्-मुल्क, जफरजंग। अहमद शेख, व्यापारी। अली हुसेन। अली खान। मीर अली नकी खान। अमान अली, दारोगा ए-सरकार-ए मिरजा तिमूर शाह बहादुर। अमानत अली खान, भूतपूर्व वकील, रेजिडेंसी, दिल्ली। अमीन उद्-दीन अहमद, पुत्र नव्वाब अहमदबख्श। अमीर अली मीर, दौहित्र सैय्यद्ध जकरिया शाह, शेख उल् मशायख। अमीर अली, सैय्यद, असद खान नाम से प्रसिद्ध। अनवर उल् हक, मुहम्मद, पुत्र मुहम्मद इहसान् उल्हक, पौत्र मुफ्ती मुहम्मद इकराम उद्दीन। असद अली खान, मीर, पौत्र नव्वाब साहिबमहल बेगम साहिबा, सादात खानी नाम से प्रसिद्ध। अता उल्लाह खान बहादुर।

इ इब्राहीम अली खान बहादुर, इंतिखाब् उद्दौला। इब्राहीम अली खान, मुहम्मद, जागीरदार, जाईता, सादातखानी नाम से प्रसिद्ध तथा सरकार ए शाहजादा के खान, मुहम्मद खान बहादुर, मलिक उश् शुअरा, खाकानी ए हिंद, शाहंशाह ए देहली के अध्यापक। इहसान् उल् हक, पुत्र मुफ्ती इकराम् उद्दीन। इमामबख्श मिर्जा, हमदानी, आखुंदजादा नाम से प्रख्यात। इमदाद अली बेग खान, भूतपूर्व प्रतिनिधि, सरकार ए पियारीबेगम साहिबा। इमदाद अली खान, दौहित्र मुहम्मद जफर अली खान, मुरस्सा रकम, मुहम्मद अकबर शाह बादशाह गाजी के अध्यापक। इममाद हुसेन, मैनेजर, जफरीय प्रेस, इमराउल हक, मुहम्मद, कैप्टन जेम्स स्कीनर के प्रतिनिधि, हाजिरबाश गुरगावाँ कोर्ट। इनायत हुसेन, मुहम्मद, पुत्र मुंशी नूरउद्दीन अहमद। इक़बाल हुसेन, मुहम्मद, पुत्र मुंशी नूरउद्दीन अहमद। इसमाईल खान, मुहम्मद, पुत्र खाकानी ए हिंद मलिक उश् शुअरा, शाहंशाह ए देहली के अध्यापक।

क कलंदर अली खान बहादुर, अफजल उद्दौला, फिद्वी मुहम्मद अकबर शाह बादशाह गाजी, पुत्र अफजल उद्दौला। कलंदर अली खान बहादुर, मंसबदार सुल्तानी, विदित अफजल उद्दौला कलां। कलंदर अली खान बहादुर, फिद्वी मुहम्मद अकबर शाह बादशाह गाजी, अफजल उद्दौला, मंसबदार सरकार सुल्तानी। कमर उद्दीन, मौलवी, एजेंट नवाब इतिमात उद्दौला सैयद हामिद अली खान मुहतमीम जंग। कुतब उद्दीन, मुहम्मद, हाजी, सौदागर दिल्ली।

क कन्हैयालाल, वकील, सारिश्ता। करम अली खान, मुंसिफ हवाली, दिल्ली। करमत अली खान, दारोगा (अपठित) बेगम साहिबा, पुत्री स्व० जनाब अब्दुल अहमद खान। करीम बख्श, तृतीय प्रोफेसर परशियन, दिल्ली कालेज। करीम बेग खान, मिर्जा, पुत्र मिर्जा खान, दारोगा। अकबर शाह बादशाह गाजी की पुत्री हुसैनी बेगम के सरकार के। काशीराम, रेकर्ड कीपर, अदालत फौजदारी, दिल्ली। किश्वर लाल, एजेंट, बाबा नंदू रावबहादुर

ग गणेशलाल। गंगाधर, पंडित, थानेदार भोलचा पहाड़ी पास, दिल्ली। गंगाप्रसाद, पुत्र भोलानाथ वकील, बादशाह। गंगाप्रसाद, पंडित, प्रतिनिधि जोसेफ स्कीनर तथा कैप्टन् जेम्स स्कीनर। गंगाराम, राय पुत्र स्वर्गीय राजा उमीद सिंह। गुलाम अब्बास खान, सैय्यद, सइफ् उद्दौला, मुईन उल् मुल्क, सलाबतजंग बहादुर। गुलाम अली। गुलाम हुसेन खान। गुलाम इज्ज् उद्दीन, भ्रातृज नव्वाब अहमदबख्श खान बहादुर। गुलाम

मुर्तजा खान । गिरधरलाल, पुत्र लाला शुगुण चंद, बैंकर, दिल्ली ।

च चमनलाल, डाक्टर । चुन्नामल ।

ज जफर अली खान, सैयद, सिराज उद्दउला, बुरहान-उल-मुल्क, नसरत जंग बहादुर जका उल्ला, द्वितीय प्रोफेसर गणित, दिल्ली कालेज । जामिन अली, मिर्जा मुहम्मदी अली । एजेंट, मोतीबेगम, जिया उद्दीन, अहमद खान बहादुर, पुत्र नवाब अहमद बख्श खान बहादुर । जुल्फिकार उद्दीन, हैदर, सैयद, मुइन उद् दउला 'उमदात उल्-उमरा, सफदर उल-मुल्क । नजारत जंग, खान बहादुर । जलाल उद्दीन हुसेन । जलाल उद्दीन हुसेन मिर्जा, दिलावरखानी नाम से प्रख्यात । ज्वालानाथ पंडित, खजांची. ए. सरकार. ए. राजा नाहरसिंह बहादुर, बल्लभगढ़, जबीर उद्दौला (अस्पष्ट मुहर) ।

दावूद अली, नायब नाजिर अदालत, दिल्ली । दावूद अली, सैयद । दावूद खान, मुहम्मद हाफिज, नदीम् उद्दौला, खलीफत उल्मुल्क, मुस्तहकम जंग बहादुर ।

न नबीबख्श खान बहादुर, दिलावर जंग, फिद्वी मुहम्मद बहादुरशाह गाजी । नजफ अली । नजफ अली, पुत्र सैयद असगर अली खान मसबदार सुल्तानी । नंदकिशोर, पुत्र लाला रामसहाय, नाजिम, अदालत सरकार, इंदौर । नंदलाल सद्र जैन, दिल्ली । नरायनदास साहु, दिल्ली, पुत्र रामजी मल, साहु गुदामवाला । नासिर अली, मीर, नाती सैइद अब्दुल जलील खान सैफखानी मंसबदार सुल्तानी । निजामउद्दीन, मुहम्मद फख उद्दीन, पुत्र शेख उल-पुशा' इख काले साहिब । नौंदा राय, एजेंट नवाब मिर्जा मुगलबेग खान साहिब, जागीरदार, पालम । नूर उद्दीन अहमद, नूर उद्दीन एक्स मीर मुन्शी, शाहजहाँबाद ।

प पियारेलाल, पुत्र राय लाडलेदास, मुंशी बादशाही । पियारेलाल, वकील, विभाग, सदर उस्-सुदूर बहादुर ।

फ फख उद्दीन हुसेन खान । मुहम्मद फतहउल्ला बेग खान । फजल अली, मीर असदखानी नाम से प्रसिद्ध । फजल अली बेग, मिर्जा शायस्ता खान नाम से प्रसिद्ध ।

ब बहादुरसिंह, रईस, शाहजहानाबाद । बहादुरसिंह, राजा बख्शीश अली, सेवक अलीबख्श बख्तावर सिंह, चौधरी, सर्राफ, दिल्ली । बलदेवसहाय, प्रतिनिधि सरकार-एनव्वाब ताजमहल बेगम, भोलानाथ, वकील बादशाही ।

बिहारीलाल । बिहारीलाल सहाय, प्रतिनिधि लाला मैंगराई, संसारीमल, साहूकार बंसीधर, रेवेन्यू नाजिर, दिल्ली ।

म महबूब अली खान बहादुर, मुइज्जुद्दउला, इतिमादु उल मुल्क, शहावत जंग बहादुर । महफूज अली खान 'मशहूर' । अली अकबर खान । महफूज अली खान, मीर, दारोगा इमलाक सुल्तान । महफूज अली खान, सैइद, मशहूर, हकीमखान । मथुरादास सालिकराम साहू, खजांची, दिल्ली । मंभर अली, सैईद, मशहूर, अकबर अली खान । मीर हुसेन, पुत्री मुफ्ती कादिमी पंजाब । मीर खांन, दामाद, हुसैनी बेगम साहिबा, पुत्री अकबर शाह बादशाह गाजी । मोतीलाल पंडित, एक्स मैनेजर, दिल्ली उर्दू अखबार । मुहम्मद अली, प्रपौत्र, स्व० मिर्जा मुहम्मद अस्करी । मुहम्मद अली, खानबहादुर, जुल्फिकार उद् दउला । मुइन–उल्–मुल्क, गालिब जंग हुसैनी, अलमुसावी, प्रपौत्र स्व० नवाब नफज खान, पदवी जुल्फिकार उद्दउला मुइन उल् मुल्क मिर्जा । महमूद खान बहादुर, गालिब जंग, बख्शी उल्लमकालिक् हुसम मुसवी । मुहम्मद अली, सैइद, बख्शी । मुहम्मद बख्श, सौदागर दिल्ली । मुहम्मद बेग, जागीरदार, टोडापुर, परगना, जुनूब । मुहम्मद हुसेन आजाद, पुत्र मौलवी बाकिर दिहलवी, एक्स टीचर मद्रसा वाइज दिल्ली और एक्स तहसीलदार और सरिश्तादार ।

मुहम्मद हुसैन मभरुल्ला, आफिशिएटिंग असिस्टेंट, सरायताल, आगरा । मुहम्मद खां जहान खान, पुत्र नवाब खान अली खान साहिब बहादुर । मुहम्मद नकी, सैयद, पुत्र स्व० सैयद शाह मुहम्मद हुसेन बख्श । मुहीउद्दीन खान, सैयद, अलाउद्दौला, यामीन उलमुल्क, इस्तिकमत

जंग बहादुर, पुत्र नवाब मुहम्मद मीर खान बहादुर। मुहसिल अली, मीर, पुत्र मिर्जा अहमद हुसेन, प्रपौत्र हाफिज उल-हुकमा हकीम। मासूम अली खान, हकीम सुल्तानी। मुहसिल अली मीर, प्रपौत्र मलिक उल अतिब्बा, हाजिक उल हुकमा। मिर्जा अली अकबर खान, ताबीब सुल्तानी। मुनव्वर हुसेन, पदवी नासिरखानी। मुरादअली बुखारी, सैयद। मुर्तजा खान रिसालादार। मुसर्रफ हुसेन, पदवी सफीरखानी। मुजफ्फरहुसेन, पुत्र मिर्जा मुहम्मद हुसेन, सुपरिंटेंडेंट इस्टेट।

राधाकृष्ण, खजांची मद्रसा। राधाकृष्ण, द्वितीय प्रोफेसर गणित, दिल्ली कालेज। रहीम उद्दीन, पुत्र शरीफ उद्दीन। रहमत अली, मीर, लाखिराजीदार जिला मुरादाबाद। रजब खान, मुहम्मद, रामचंद्र, दोयम प्रोफेसर गणित, दिल्ली कालेज, रामजी दास पुत्र बख्शी रामसहाय गोटेवाला, प्रपौत्र लाला बख्शीराम दिल्ली। रामप्रसाद छोटेलाल साहु। राम सहाय, ठीकेदार, फिरोजाबाद रामसहाय, नाजिम अदालत दीवानी, कस्बा इंदौर, नौकर महाराजा होलकर बहादुर, निवास दिल्ली। रामसरन दास, राय डिप्टी कलेक्टर, दिल्ली, रमजान बेग, मुहम्मद, पुत्र मिर्जा संगीनबेग, तहसीलदार कोट कासिम, थानेदार लाहौरी दरवाजा। रतनलाल, पुत्र राय लाडले दास, रेकर्ड कीपर, अदालत सुल्तानतुफैल हुसैन, नौकर दावरबख्श। वाहीद उद्दीन अहमद खान बहादुर, ख्वाजा, मुख्तार उद्दउला, वजीरअली, मीर, टीचर, अंग्रेजी स्कूल। शंकरदास, लाइब्रेरियन, अंग्रेजी स्कूल। शराफ उल् हक, कोतवाल, दिल्ली। शाउक राम सरिश्तादार अदालत फौजदारी, दिल्ली। शिवराम पंडित। सिद्धमल, राय, कानूनगो कदीम, दिल्ली। सुभानबख्श, द्वितीय टीचर, मद्रसा, दिल्ली। सदर उद्दीन खान बहादुर, मुहम्मद सदुल्ला, शेख, जागीरदार सफदर अली, प्रपौत्र नवाब असगर खान बहादुर तुजुकजंग। सफदर अली खान, पुत्र इमाम अली खान, प्रपौत्र शेख मुहम्मद अली दारोगा शाह निजामउद्दीन, सूबा शाहजहाँबाद। साहिब राम, पंडित, मुख्तार अदालत शाहजहाँबाद। सैद अहमद खान, मुंसिफ, प्रथम श्रेणी, शाहजहाँबाद। सैयद अली असदखानी। सैयद दाऊद, नाती जकरिया शाह। शेख उलफशा इख। सैयद हसन, दिल्ली। सैयद मुहम्मद, प्रथम मास्टर, गवर्नमेंट स्कूल। सालिकराम, राजा, फिदवी मुहम्मद बहादुरशाह गाजी, पुत्र स्व० राजा जयसिंह राय बहादुरशाह बेग।

ह हैदर हुसेन, सैयद, खान बहादुर, मुतामिन् उद्दौला, दारोगा तोपखाना सुलतानी। हमीदउद्दीन, सैय्यद, पुत्र सैय्यद हसन माफीदार, दौहित्र शाह सरफुउद्दीन हसन अली, खान बहादुर। हिमायत उल्लाह खान, मीर, फिदवी शाह आलम बादशाह गाजी, दारोगा खास कलाँ सुलतानी। हिंदूराव बहादुर, प्रतिनिधि महाराजा हीरालाल, हरसहाय, कंपनी के भूतपूर्व वकील। ए. हुसेनअली खान, दारोगा, सरकार, मुर्शिदजादा मिर्जा जहाँगीराबाद। शाहजादा हुसेन अली खान, मुहम्मद, बेगम समरू के हकीम। हुसेन बेग, जागीरदार, तोदापूर। हुसेन खान, सैयद, पुत्र हिमायत उल्लाह खान, पौत्र सैयद आलम खान बहादुर हुसेनी (होसिनी), दिल्ली कालिज। हुसाम् उद्दीन हैदर खान बहादुर, हुसामजंग, मुमताज्-उल्-मुल्क, सैय्यद।

———

समीक्षा

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यसिद्धांत[1]

हिंदी के स्वाभाविक प्रचार और प्रसार के कारण इसके अध्येताओं की संख्या भी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। उधर हमारी सदोष शिक्षाप्रणाली ने परीक्षा की जैसी दूषित पद्धति अपना ली है उसके कारण अधिकांश विद्यार्थियों ने चरित्र निर्माण अथवा ठोस ज्ञान की प्राप्ति आदि को शिक्षा का उद्देश्य न मानकर किसी प्रकार परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाना ही परम पुरुषार्थ समझ लिया है। इधर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सुविधाजनक मार्ग पर ही चलने की वर्तमान भारतीय प्रवृत्ति ने भी इसके लिये उन्हें प्रोत्साहित किया है। अतः इस मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ है कि आकर ग्रंथों की उपेक्षा करके छात्रमंडली प्रत्येक विषय और प्रत्येक प्रश्नपत्र के लिये 'कुंजी', 'नोट्स' आदि खोजा करती है। वास्तविक विद्वत्ता, मौलिक चिंतनशक्ति और सहज प्रतिभा से रहित कुछ अध्यापक भी कैंची लेई की सहज सहायता से सस्ती ख्याति और पैसा पैदा करने के लोभवश ऐसे 'नोट्स' प्रायः प्रस्तुत करते रहते हैं। आलोच्य पुस्तक भी उसी कोटि की है परंतु साधारण 'नोट्स' की तुलना में अधिक पृष्ठ और शानदार है। इसकी रचना का उद्देश्य भी एम० ए० कक्षा में आलोचना संबंधी प्रश्नोत्तर तैयार करने में परीक्षार्थियों को सुविधा प्रदान करना है। इसलिये इसमें भारतीय और पाश्चात्य आलोचना के सिद्धांतों का संकलन इस विषय की सुप्रसिद्ध और सर्वमान्य रचनाओं में से किया गया है। इस प्रकार गंभीर अध्ययन से जी चुरानेवाले परीक्षार्थियों के लिये प्रस्तुत पुस्तक तपस्या बिना ही प्राप्त वरदान सदृश सिद्ध होगी। प्रश्नोत्तरी शैली ने भी वैसे लोगों के लिये इसकी उपयोगिता में वृद्धि कर दी है।

शिक्षाशास्त्र का एक साधारण सिद्धांत है कि विद्यार्थी के समक्ष कोई भी गलत चीज कथमपि न आनी चाहिए। इसीलिये विद्यार्थियों के उपयोग में आनेवाली पुस्तकों में मुद्रण की शुद्धता पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता है परंतु यह देखकर खेद होता है कि प्रस्तुत पुस्तक में मुद्रण की ऐसी अनेक अशुद्धियाँ हैं जिनसे विद्यार्थियों के भ्रम में पड़ने की संभावना है। उद्धहरणों (उद्धरणों[1]) प्रहसनपित्ति (प्रहसनमिति[2] ?), मधुसूधन (मधुसूदन ?[3]), Theire (Their[4] ?), Ordely (orderly), Denoument (Denowment[5] ?) तद्रोपौ (तद्दौपौ ?) जैसी अशुद्धियों का निवारण आसानी से किया जा सकता था।

हिंदी एक सभ्य देश की राजभाषा है अतः उसमें विदेशी शब्द लिखते समय वर्तनी के साथ किया जानेवाला मजाक अब बंद हो जाना चाहिए। अब वे दिन नहीं रहे कि मैकडॉनल को मुग्धानल और मैक्समुलर को मोक्षमूलर लिखा जाय। ऐसी स्थिति में Murray's Dictionary (मरेज डिक्शनरी) को 'मूर्य कोश' लिखना कहाँ तक उचित है, इसपर लेखक को ही विचार करना चाहिए था। यदि किसी विदेशी शब्द का उच्चारण न मालूम हो तो किसी जानकार से पूछ लेने में हेठी नहीं होती परंतु मिथ्या अभिमान ऐसा करने में बाधक होता है और उसका परिणाम यह होता है कि लोग Crabbe (क्रैब) को क्रैब्बे और Saint ((Sainte ?) Beuve (स्यांत बूव) को संत ब्यव लिख जाते हैं। अच्छी अंग्रेजी अथवा टूटी फूटी फ्रेंच भाषा का ज्ञान रखनेवाले भी जानते हैं कि फ्रेंच भाषा में किसी शब्द के अंत्य स्वर वर्ण का पूर्ववर्ती स्वर वर्ण व्यंजन हो जाता है।

पुनः 'कॉलरिज की काव्यकला की समीक्षा कीजिए' और 'सिद्ध कीजिए कि मिल्टन अंग्रेजी काव्य के सर्वोत्तम कवि हैं' जैसे प्रश्नों और उनके उत्तरों से पुस्तक की कलेवरवृद्धि करने की क्या आवश्यकता थी, यह समझ में नहीं

१—ले० देशराजसिंह भाटी, प्र० हिंदी साहित्य संसार, दिल्ली और पटना, पृ० सं० १०+२३१+२४७=४८८, मू० ६ रु० ५० पैसे।

आता। क्या हिंदी के प्रश्नपत्रों में भी कॉलरिज और मिल्टन की काव्यकला पर प्रश्न पूछे जाते हैं? यदि ये प्रश्नोत्तर अंग्रेजी के छात्रों की सुविधा के लिये हैं तो यीट्स, कीट्स, बायरन, ब्राउनिंग, इलियट, ओडेन, ब्रुक आदि ने क्या अपराध किया था कि उनकी उपेक्षा कर दी गई?

प्रस्तुत पुस्तक में एक गोरखधंधा और है। इसमें एक स्थान पर 'प्रथमावृत्ति' का उल्लेख है परंतु भूमिकाएँ दो हैं जिनमें दूसरी पर स्पष्टतः द्वितीयावृत्ति लिखी है। प्रथम आवृत्ति की उद्धृत भूमिका के नीचे 'लेखकद्वय' मुद्रित है और द्वितीयावृत्ति की भूमिका के नीचे अकेले भाटी जी का नाम है, अतः प्रस्तुत संस्करण से यह पता नहीं चलता कि इस पुस्तक का वह दूसरा लेखक कौन था?

अंत में यह भी उल्लेख्य है कि किसी पुस्तक का हाथोंहाथ बिक जाना ही उसकी सफलता और उपादेयता का प्रमाण नहीं हुआ करता, प्रायः अभाव कदन्न को परमान्न और प्रचार निकृष्ट को उत्कृष्ट समझने के लिये विवश कर देता है।

—'रुद्र' काशिकेय

चाणक्य[1]

यह लघु नाटक लोकप्रसिद्ध, विचक्षण कूटनीतिज्ञ चाणक्य का जीवनवृत्त प्रस्तुत करता है। किंतु नाटककार चाणक्य का पांडित्यप्रदर्शन करने में इतना व्यस्त हो गया है कि वह ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा कर बैठा है। विष्णुगुप्त को चाणक्य बनाने की प्रमुख घटना का कहीं संकेत भी नहीं मिलता और वररुचि (कात्यायन) मगध नरेश का महामात्य होने के स्थान पर गांधार नरेश का मंत्री बन गया है। इसी प्रकार नाटककार देशकाल की परिधि को भी भूल गया है। आंभीक को सटका पान करते दिखाया गया है और 'सचिवालय' का जो दृश्य खींचा गया है उसे देखकर यह प्रतीत होता है कि नाटककार वर्तमान में पहुँच गया है।

इस नाटक में तीन अंक हैं, प्रत्येक अंक के मध्य चार चार दृश्य हैं जो अत्यंत छोटे हैं और विभिन्न स्थानों पर खुलते हैं। भाषा पात्रानुकूल रखने की चेष्टा की गई है।

शंकराचार्य[2]

यह जगद्गुरु के जीवन पर प्रकाश डालता है। यह नाटक उस घटना से प्रारंभ होता है जब वे ग्राह से पकड़े जाने पर माता द्वारा संन्यास लेने का आदेश प्राप्त करते हैं। वस्तुतः यह संपूर्ण नाटक शास्त्री जी के अद्वैतवाद विषयक गंभीर पांडित्य, बौद्धायन और महात्मा बुद्ध विषयक ऐतिहासिक विवेचन का शुभ दर्शन है। देश काल का इस नाटक में पूर्णत: निर्वाह हुआ। अभिनेय होते हुए भी रंगमंच व्यवस्था श्रमसाध्य है। भाषा पात्रानुकूल संस्कृतनिष्ठ, तथा गंभीर विचारों को लिए हुए है। अंत प्रभावोत्पादक है।

यह नाटक भी तीन अंक का है और प्रत्येक में चार दृश्य हैं।

लोकमान्य[3]

यह नाटक बालगंगाधर तिलक के राजनीतिक जीवन के पृष्ठ खोलता है। विषय सामयिक है तथा इस नाटक का प्रारंभ गोरों तथा तिलक के मध्य होनेवाले एक छोटे से संघर्ष से होता है। यही संघर्ष उनका राजनीतिक जीवन बन जाता है और वे ब्रिटिश शासन के विरोध में 'केसरी' पत्र निकालते हैं, उत्तेजक भाषण देते हैं और छह वर्ष के लिये

---

१. ऐतिहासिक नाटक, ले० श्री रामबालक शास्त्री, पृ० सं० १०+६२; १९५८ ई०, मूल्य १।), प्रकाशक साहित्य मंदिर, रामापुरा, नई बस्ती, वाराणसी।

२. धार्मिक नाटक, ले० श्री रामबालक शास्त्री, पृ. २ + १३+९६, मूल्य २।।), १९५९ ई०, प्रकाशक — हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी, वाराणसी।

३. राजनीतिक नाटक, ले० रामबालक शास्त्री, पृ. सं. २ + ४ + ८६, सं. २०१४ वि., मूल्य २), प्रकाशक— साहित्य मंदिर, रामापुरा, नई बस्ती, वाराणसी।

कारागार के मेहमान बनते हैं, वहाँ 'गीता रहस्य', 'आर्योयन' तथा कई राजनीतिक पुस्तकें लिखते हैं। यह नाटक निःसंदेह लोकमान्य के राजनीतिक जीवन की पूर्ण झाँकी देता है पर नाटक रंगमंच की वस्तु है और उसकी एक सीमा होती है। नाटककार ने संपूर्ण जीवन को तीन अंक के मध्य आनेवाले कई नन्हें नन्हें दृश्यों में बाँध दिया है। इस नाटक को पाठ्य नाटक मान लिया जाय तो ठीक होगा। अन्यथा इसमें नाटकीयता नाममात्र को नहीं है। बोझिल तथा क्लिष्ट शब्दों में लंबे लंबे भाषणों का प्राचुर्य है।

संवाद सप्तक[1]

यह सेठ जी का 'जीव और देह', 'नारी और नर', 'धर्म और विज्ञान,' 'न्याय और प्रेम,' 'शांति और समर,' 'पिता और पुत्र' तथा 'सूर्य और चंद्र' इन सात शीर्षकों में लिखा पद्यात्मक संवाद है। संपूर्ण पुस्तक में अमित्राक्षर छंद का प्रयोग किया गया है। सभी संवाद अच्छे बन पड़े हैं। अपने विचारों को सरलतम ढंग से प्रस्तुत करने में सेठ जी को पूर्ण सफलता इस संग्रह में मिली है, इसमें संदेह नहीं।

अपूर्व बंगाल[2]

यह नाटक मूल रूप में मराठी भाषा में लिखा गया है और अब इसका हिंदी अनुवाद पाठकों के संमुख प्रस्तुत है। इसमें नोआखाली में घटी पैशाचिक घटनाओं को अत्यंत नाटकीय ढंग से प्रस्तुत किया गया है। मूलतः नारियों पर किए गए सामूहिक बलात्कार की अत्यंत शिष्ट झाँकी इस नाटक में प्रस्तुत की गई है। परवश नारियों के खंडित आचरण को संमान दिलाने की जबर्दस्त वकालत की गई है। अभिनय की दृष्टि से भी यह नाटक महत्वपूर्ण कहा जा सकता है। अनुवादक ने नाटक की मूल आत्मा को सुरक्षित रखने का भरपूर प्रयत्न किया है। इस प्रकार के साहित्यिक प्रयत्न हिंदी भाषा एवं साहित्य के लिये भी आवश्यक हैं।

तिरंगा झंडा[3]

यह 'तिरंगा झंडा', 'सीमांत का संतरी', 'ध्वजपोत' और 'आशीर्वाद' नामक चार एकांकियों का संग्रह है। सभी नाटक राष्ट्रीय भावनाओं के पोषक हैं और विद्यालयों में बालकों के बीच खेले जाने योग्य हैं।

अनंग[4]

यह खंडकाव्य है जिसके पात्र उषा, रति, काम, अनुराग, वासना और संयम नामक सात सर्गों में समाप्त हुआ है—रति, काम, आनंद, दर्शन, छवि, मन, कामना, कल्पना, विलासिनी, वासना, भोग, घृणा, हिंसा, ईर्ष्या, संशय, करुणा, मनीषा और ज्ञान जिसके पात्र हैं। मानसिक जगत् में मूर्तिमान होनेवाले भावों को उपस्थित करके कवि ने महाकवि प्रसाद कृत 'कामायनी' का स्मरण दिला दिया है और साथ ही व्यवहृत छंदों की ललित कोमलकांत पदावली कविसम्राट् 'हरिऔध' के 'प्रियप्रवास' की अनुगामिनी होने का संकेत देती है।

सृष्टि के आरंभ से ही 'काम' के गूढ़ रहस्यों के प्रति आकृष्ट होकर मानव इसकी तर्कसंमत विविध दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता रहा है। काम के सूक्ष्म तत्वों से स्वयं अवगत होकर वह अन्य संबद्ध लोगों पर भी रहस्योद्घाटन का बराबर प्रयत्न करता रहा है। इस अंतर्मंथन एवं चिंतन के परिणामस्वरूप इस मनोविकार से संबद्ध अनेकानेक दृष्टिकोण मानव की प्रज्ञा के समक्ष प्रस्तुत हो सके हैं। अपनी व्यापकता, सार्वभौमिकता, विश्वजनीनता, उत्कट आस्वाद्यता तथा गंभीर विवेचनसामर्थ्य के कारण इसके विविध क्रियाकलाप मानवहृदय के

१. ले० सेठ गोविंददास, प्र० भारतीय विश्व प्रकाशक, दिल्ली।

२. लेखक भार्गवराम विट्ठल (मामा) वरेरकर, अनु० र० श० केलकर एम० ए०, प्र० आत्माराम ऐंड संस।

३. ले० विराज, प्र० नेशनल पब्लिशिंग हाउस।

४. ले० पुत्तूलाल शुक्ल 'चंद्राकर', प्रकाशक बंगीय हिंदी परिषद्, कलकत्ता, मूल्य पांच रुपये।

प्रमुख उपजीव्य रहे हैं। चंद्राकर जी का 'अनंग' इसी परंपरा का खंडकाव्य है। उनका प्रमुख प्रतिपाद्य है :

'विश्वव्यापी है चिरंतन है अमित,
काम-रति का लोक मन का लोक है।
सृष्टि कण-कण स-रति और स-काम है,
प्रेम की ही विश्व में अंतिम विजय।'

इस दृष्टिकोण की सफल व्यापक व्याख्या 'अनंग' में हुई है। उषा की उल्लासमयी पृष्ठ-भूमि में रति की उद्भावना मानव हृदय के उल्लास एवं आनंद की अवस्था इस मनोविकार की उद्भूति की ही परिचायिका है।

प्रकृति के प्रांगण में दार्शनिक पृष्ठभूमि पर इसका स्वरूप आकर्षक एवं संमोहक बन पड़ा है। इनके विवेचन में 'कवि' की नवोन्मेषशालिनी विधायक कल्पना की उद्भावना देखते ही बनती है। 'काम' को लेखक ने मनसिज के अर्थ में ग्रहण किया है। मन के विविध क्रियाकलापों का जब सौंदर्य के साथ सहभाव एवं सामंजस्य होता है तो उस आकर्षण के मूल में 'काम' की ही भावना निहित रहती है। इसके वशीभूत हो 'मानव' अनुरागपाश से आवद्ध होता है, पर इस अनुराग में संमिलन की अवस्था के पूर्वप्रेम के 'अश्रुसिक्त' एवं विरही स्वरूप का प्राधान्य रहता है इसीलिये स्वरूपवर्णन एवं सूक्ष्म मूल्यांकन में 'चंद्राकर' जी विशेष तल्लीनता का अनुभव करा सके हैं। परिणय की पूर्ण परिणति की जिस पृष्ठभूमि का विवेचन इसमें हुआ है, वह उल्लासमय वातावरण स्पृहणीय है। भाषा पर कवि का सहज अधिकार जान पड़ता है जिससे विचारों की प्रवहमान धारा निर्बंध होकर बही है। खड़ी बोली का नवीनतम रूप इसमें आते आते रुक गया है, यदि कवि ने इस ओर भी ध्यान दिया होता तो एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति हुई होती।

जीवनदीप[1]

गद्य गीतों का यह विशिष्ट लघु संग्रह अनेक दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। भाषा एवं भावों की सुस्पष्टता ने इसमें चार चाँद लगा दिया है। सभी गीतों में हृदय की स्पृहणीय वेदना का चित्रण हुआ है। छायावादी कवियों की भाँति रमणीय सुकोमल भावों को इसमें स्थान मिला है। निराश प्रेम की सहज एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति द्वारा सभी गीत स्वतंत्र होते हुए भी परस्पर संबद्ध जान पड़ते हैं। लेखिका की तन्मयता पाठकों को भी तन्मय कर देने में सफल हुई है।

—(डॉ०) त्रिभुवनसिंह

ब्रजभाषा और खड़ी बोली का तुलनात्मक अध्ययन[2]

प्रस्तुत पुस्तक हिंदी की एक प्रमुख साहित्यिक बोली ब्रजभाषा और खड़ी बोली के परिनिष्ठित रूप का तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित करती है। हिंदी और उसकी बोलियों का तुलनात्मक अध्ययन बहुत कम हुआ है। पर इस प्रकार के अध्ययन की बहुत आवश्यकता है।

हिंद क्षेत्र भिन्न भिन्न बोलियों में बँटा हुआ है। बोलियों का अपना साहित्य है, अपना इतिहास है। और यह आवश्यक है कि हिंदी की बोलियों का परस्पर, और हिंदी का अन्य बोलियों से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जाय जिससे हिंदी क्षेत्र की मूलभूत बोलियों की एकता स्पष्टतः सिद्ध हो सके। डा० भाटिया की पुस्तक इस दिशा में महत्वपूर्ण चरण है। ब्रजभाषा संबंधी सामग्री देने में लेखक सतर्क और सावधान रहा है। खड़ी बोली की सामग्री तो लेखक के निजी व्यवहार में आनेवाली है ही।

इस पुस्तक में लेखक के व्यक्तित्व की भाषावैज्ञानिक छाभा स्पष्ट होती है। संस्कारतः लेखक का संबंध खड़ी बोली से ही है, पर वातावरण सदैव ही उसे ब्रजभाषा से बाँधे रहा।

---

१. ले० कुमारी कांति त्रिपाठी, प्राप्तिस्थान साहित्य भवन प्रा० लिमिटेड, इलाहाबाद।

२. लेखक डा० कैलाशचंद्र भाटिया, एम० ए०, पी-एच० डी०, प्रकाशक सरस्वती पुस्तकसदन, आगरा, मूल्य ६.५०।

पुस्तक में नियोजित उदाहरणों में मात्र साहित्यिक ब्रजभाषा से सामग्री नहीं ली गई है, उसमें व्यावहारिक ब्रजभाषा के भी उदाहरण विशेष रूप से दिए गए हैं। साथ ही भाटिया जी ने अपने निजी स्रोत से भी सामग्री जुटाई है, तथा इधर ब्रज क्षेत्र की बोलियों पर जो विवरणात्मक अध्ययन प्रस्तुत हुए हैं, उनका भी सजग उपयोग किया गया है। तुलनात्मक रूप से सामग्री को सँजो दिया गया है कि पाठक स्पष्ट रूप से तथ्यों से अवगत हो जाय। अनावश्यक विस्तारजन्य उलझनों से पाठक को मुक्त रखने की चेष्टा की गई है। सामग्री नियोजन की यह स्पष्टता लेखक की स्पष्ट दृष्टि और सुनिश्चित निष्कर्षों की द्योतक है।

पुस्तक की योजना भी वैज्ञानिक है। इसको दो भागों में विभाजित किया गया है: भूमिका तथा तुलना। भूमिका भाग, तुलना-भाग से कुछ बड़ा हो गया है। दोनों भागों का परिमाणगत अंतर वैसे देखने में कुछ बेडौल सा लगता है। भूमिका में छह अध्याय हैं: प्राकृत से प्राकृत, प्राकृत, अपभ्रंश, संक्रांति युग, ब्रज और ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली। पृष्ठभूमि की तारतम्यता की दृष्टि से केवल प्रथम अध्याय ही अनावश्यक सा कहा जा सकता है पर इस अध्याय में केवल सात पृष्ठ हैं, इससे यह आभास होता है कि लेखक केवल एकसूत्रता लाने के लोभ से ही यह अध्याय जोड़ रहा है। 'प्राकृत' वाले अध्याय में सामान्य रूप से अन्य प्राकृतों पर तथा विशेष रूप से 'शौरसेनी' पर विचार किया गया है। स्रोत के विवेचन की दृष्टि से 'शौरसेनी' का महत्व है और अन्य प्राकृतों से उसका संबंध निरूपित किया गया है। साथ ही शौरसेनी का भाषावैज्ञानिक रूप भी विस्तार के साथ दिया गया है। अन्य प्राकृतों के रूप पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ मात्र हैं। 'अपभ्रंश' वाले अध्याय में केवल 'शौरसेनी' पर ही विशेष लिखा गया है। अपभ्रंश युग की भूमिका भी दी गई है। विषयसूची के अनुसार 'अपभ्रंश' से आगे का अध्याय 'संक्रांति युग' होना चाहिए था। पर, न जाने कैसे वह 'अपभ्रंश' वाले अध्याय का ही एक शीर्षक बन गया है: कलेवर में इसपर अलग अध्याय नहीं है। यह भूल तो सामान्य है, पर संक्रांतिकालीन भाषासामग्री पर अविकल विचार विमर्श किया गया है। इस काल के संबंध में जो नवीनतम खोज हुई है, उनका लेखक ने, संकेत रूप में ही सही, उपयोग किया है। प्रस्तुत संकेतों में एक प्रेरणा भी अंतर्हित है और एक संभावना भी। संभवतः लेखक संक्रांतियुग पर विशेष अध्ययन करने का इच्छुक है। पाँच अध्याय ब्रज तथा ब्रजभाषा की भौगोलिक एवं ऐतिहासिक सीमाओं और स्थिति से संबंधित हैं। 'खड़ी बोली' की पृष्ठभूमि पर छठे अध्याय में विचार किया गया है। लेखक ने इस अध्याय में एक महत्वपूर्ण प्रश्न पर प्रकाश डाला है—'क्या इस भाषा का आधार निश्चित किया गया?' पर मुझे ऐसा लगा कि लेखक ने कुछ विद्वानों का मत देकर इसको चलता कर दिया है क्योंकि यह पुस्तक का प्रकृत विषय नहीं है। इस प्रश्न पर और भी विचार होना शेष अवश्य दीखता है। अब भी यह प्रश्न विचारणीय है कि हिंदी या खड़ीबोली कृत्रिम भाषा है या नहीं? आधुनिक दृष्टि से खड़ी बोली का रूप क्या हैं, इसपर लेखक ने संक्षिप्त पर पैनी टिप्पणियाँ अवश्य दी हैं। तुलनात्मक विषय पारिभाषिक है। द्वितीय भाग के पहले अध्याय में 'ध्वनि' और द्वितीय में 'रूप' पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। अंत में एक महत्वपूर्ण परशिष्ट जोड़ा गया है: 'ब्रजभाषा और अवधी'। विषय को विस्तार देते हुए जैसे एक विस्तृत रूपरेखा दे दी गई है जिसमें इसकी संभावनाएँ और अनुसंधान कार्य का पूर्वाभास मिल जाय। ग्रंथ के अंत में सहायक सामग्री की सूची है। इस सूची से लेखक के द्वारा सामग्री का उपयोग करने की स्वीकृति की सचाई स्पष्ट है।

जहाँ तक विषय के विवेचन का प्रश्न है विश्लेषक की दृष्टि प्रायः यह रही है कि संक्षिप्त सूत्र देकर उदाहरणों के द्वारा उसे सुस्पष्ट कर दिया जाय। उदाहरणों के चुनाव में लेखक ने पर्याप्त सतर्कता बरती है। फिर भी जहाँ तहाँ कुछ शैथिल्य रह गया है; जैसे अनुनासिक स्वरों के उदाहरण में खड़ी बोली का एक उदाहरण 'बिंदिया' दिया है। किंतु यह शब्द

खड़ी बोली में नहीं प्रयुक्त होता। उदाहरणों में ग्रामीण और साहित्यिक ब्रजभाषा का मिश्रण भी है। कुछ ऐसी प्रवृत्तियों पर भी प्रकाश डाला गया है, जो साहित्यिक ब्रजभाषा में नहीं मिलतीं। ल-न की प्रवृत्ति ब्रज की निम्न जातियों में मिलती है: चल्तु=चन्तु, कल्सा=कन्सा। इस प्रकार के उदाहरणों से विषय में परिपूर्णता आती है। लेखक के द्वारा इस बात की चेष्टा की गई है कि साहित्यिक ब्रजभाषा के उदाहरण भी छूटें नहीं। एक बात और होनी चाहिए थी: लेखक को ब्रजभाषा के उदाहरणों के हिंदी पर्याय भी दे देने चाहिए थे। कुछ स्थापनाएँ हल्के रूप में दे दी गई हैं। एक स्थान पर लेखक ने एक टिप्पणी दी है (पृ० १३५) '(स) से प्रारंभ होने वाले गुच्छों में आद्य स्थिति में 'ई' का आगम भी हो जाता है।' पर यहाँ इस टिप्पणी को पूर्ण बनाने के लिये यह कहना आवश्यक था कि अर्धस्वरों के साथ संयुक्त होने पर आगम नहीं होता, जैसे 'स्याम' तथा 'स्वच्छ'। 'लगभग' का प्रयोग वैज्ञानिक सुनिश्चिता के स्वर को भंग कर देता है। इनकी संख्या लगभग १५० है (पृ० १३५)। पृ० १३८ पर लिखा है: शब्दों के मध्य (य्) तथा (व्) क्रमशः 'ए' तथा 'ओ' हो जाते हैं। शायद 'ऐ' के स्थान पर 'ए' लिख जाना प्रेस की भूल हो सकती है। पर वस्तुतः यह नियम भी ठीक नहीं: व-उ, य-इ की प्रवृत्ति ही है। इसके पूर्व अ की संधि से 'औ' या 'ऐ' हो जाता है। ब्रजभाषा की संज्ञा की रूपतालिका देते हुए दो टिप्पणियाँ दी गई हैं: 'अकारांत संज्ञाएँ स्त्रीलिंग ही बहुधा होती हैं, पुलिंग होने पर वे उकारांत हो जाती हैं' तथा 'उकारांत संज्ञाएँ सदैव पुल्लिंग ही होती हैं, अकारांत शब्द भी उकारबहुला प्रवृत्ति के कारण ही उकारांत हो जाते हैं।' (पृ० १४८) वास्तविक बात यह है कि 'अ' स्त्रीलिंग का तथा 'उ' पुल्लिंग का प्रत्यय है। अतः नियम देने में इसका भी ध्यान रखना चाहिए था। 'हो जाती है' से यह आभास होता है कि लेखक कोई ऐतिहासिक चर्चा कर रहा है। साथ ही लेखक ने लिखा है 'अकारांत संज्ञाएँ पाँच रूप ग्रहण करती हैं (पृ० १४८)'। मेरा विचार यह है कि पाँच रूप ग्रहण करनेवाली संज्ञाएँ अकारांत नहीं, व्यंजनांत हैं। पृ० १५२ पर लेखक ने एक स्थापना की है: 'मूल रूप एकवचन तथा बहुवचन में औकारांत को छोड़कर अन्यत्र नहीं होता।' पर 'उ' प्रत्यय से युक्त मूल एकवचन तिर्यक् एकवचन में 'अ' से युक्त रूप होते हैं: घरु-घर। विकृत बहुवचन की रचना के लिये जो प्रत्यय बताए गए हैं, उनमें व्यंजनांत शब्दों के साथ प्रयुक्त होनेवाले 'अन' को छोड़ दिया गया है। नु का प्रयोग कर्ता बहुवचन में होता है। इसकी समानता हिंदी 'ने' से वस्तुतः भिन्न नहीं है। 'औकारांत' संज्ञाएँ बहुवचन में अवश्य एकारांत हो जाती हैं: तारौं-तारे। सर्वनामों की रूपरचना में उत्तमपुरुष एकवचन के विकृत रूप मो, मोहि, मोय दिए हैं। वस्तुतः 'मो' ही विकृत रूप है। शेषांश तो विभक्तियाँ हैं। इसी प्रकार खड़ी बोली के सर्वनाम मेरा, मेरे, मेरी दिए गए हैं। वास्तव में सर्वनाम का विकृत रूप तो 'मे' ही है, शेष तो संबंधवाचक विभक्तियाँ और लिंग वचन प्रत्यय हैं। क्रिया के रूपों की चर्चा करते हुए लेखक ने लिखा है 'संस्कृत से विकसित होकर तो केवल दो तीन काल ही आए' वैज्ञानिक दृष्टि से संख्या निश्चयात्मक ही होनी चाहिए। इस प्रकार के व्यत्यय कुछ देखने को मिल सकते हैं। वस्तुतः ब्रजभाषा और खड़ी बोली की तुलना से जो समग्र प्रभाव पड़ना चाहिए उसमें कोई व्यवधान उपस्थित नहीं होता। साथ ही दोनों में ऐसी मौलिकता सिद्ध हो जाती है, जिसकी ओर लेखक का ध्यान रहा है। दोनों भाषारूप परस्पर अबोधगम्य नहीं हैं।

उक्त पुस्तक के संबंध में यही कहा जा सकता है कि कुल मिलाकर पुस्तक बड़ी उपयोगी है। हिंदी क्षेत्रों में विद्यार्थियों को जब ब्रजभाषा में रचित साहित्य पढ़ना पड़ता है तो उन्हें एक कठिनाई का अनुभव होता है। कभी कभी तो उनके सामने एक प्रश्न आ खड़ा होता है: 'क्या यह भी हिंदी है? क्या इसे भी हिंदी-साहित्य' कहा जा सकता है? इस प्रश्न पर हिंदी क्षेत्र के विद्वानों ने अभी ध्यान नहीं दिया है। कुछ ऐसा होना चाहिए कि हिंदी के अहिंदी क्षेत्रीय विद्यार्थी तुलनात्मक दृष्टि से दोनों

के संबंध में कुछ समझ सकें। मेरी दृष्टि में इस पुस्तक से इस आवश्यकता की भी काफी अंशों में पूर्ति हो सकती है। इसके लिये केवल यह अभिप्रेत है कि उदाहरण साहित्यिक ब्रज के होने चाहिए। लेखक ने यह किया भी है। आशा है, हिंदी तथा अहिंदी दोनों क्षेत्रों में इस पुस्तक का स्वागत होगा।

—(डॉ०) चंद्रभान रावत

'प्रेमविजय'[१]

प्रस्तुत आलोच्य ग्रंथ 'प्रियप्रवास' शैली में प्रणीत हिंदी के मूर्धन्य नाटककार सेठ गोविंददास जी की पौराणिक साहित्य के कृष्णकालीन अध्याय में आए प्रसिद्ध 'ऊषा अनिरुद्ध' प्रणयाख्यान पर आधारित सुंदर काव्य कृति है जो सन् १९१६–१९ के अंतराल में 'वाणासुर पराभव' नाम से संपूर्ण, १९३० के कवि के जेल-जीवनयापन-काल में वर्ण्य वस्तु में महत्वपूर्ण स्थलों पर परिवर्तित तथा सन् १९५९ में 'प्रेमविजय' नाम से अंततोगत्वा प्रकाशित है।

कृति के प्रारंभ में 'निवेदन' शीर्षक आत्मकथ्य में कवि ने संस्कृत के प्रसिद्ध लक्षणग्रंथ 'साहित्यदर्पण' से महाकाव्य की परिभाषा विषयक प्रमुख लक्षण संबंधी श्लोकों का उद्धरण देते हुए लिखा है, 'हिंदी महाकाव्यों में शायद इससे छोटा कोई महाकाव्य नहीं है।' कृति को पूर्णतया पढ़ जाने पर वस्तुत: यह सुंदर काव्यकृति के रूप में ही मिलती है।

कथावस्तु में नई उद्भावनाओं के पुट से कवि ने अपनी मौलिक प्रतिभा का यथेष्ट प्रमाण दिया है। मूल कथा के अनुसार वाणासुर की कन्या उषा बाल्यावस्था में कैलास में पार्वती से योगशिक्षा ग्रहण करती है किंतु कवि ने प्रस्तुत कृति में असुरगुरु शुक्राचार्य के आश्रम में उसे शिक्षित दिखाकर असुर-वर्ग एवं असुरों के गुरु शुक्राचार्य की संगति ही बिठाई है। आश्रम में अपनी सखी चित्रलेखा के साथ योग विद्या में पारंगत हो उषा अपने पिता वाणासुर की नगरी शोणितपुर आती है। यहाँ कवि पुनः मूल कथा में परिवर्तन कर नाटकीय रोचकता का संनिवेश करता है। मूल कथा में वर्णित है कि उषा स्वप्न में अनिरुद्ध के दर्शन करती है और अनिरुद्ध पर अनुरक्त हो जाती है। उसकी सखी चित्रलेखा योग-विद्या द्वारा अनिरुद्ध को द्वारका से शोणितपुर लाती है। तदनंतर उषा अनिरुद्ध से गोपनीय ढंग से गंधर्व विवाह कर लेती है। कवि ने कथा के इस प्रसंग को सप्रयोजन सुंदर मोड़ देते हुए यह दिखलाया है कि उषा और चित्रा दोनों वाणासुर को अनिरुद्ध के आने की सूचना देती हैं। फलस्वरूप तीनों को कारावास का दंड भुगतना पड़ता है। तत्पश्चात् कृष्ण के प्रयास से वाणासुर का हृदयपरिवर्तन कवि कुशलता से दिखलाता है और इस तरह संग्राम के बिना ही, जैसा मूल कथा में आया है, सुरासुर संधि दिखलाकर कवि ने एक ओर जहाँ उषा के निष्कपट हृदय और आदर्श चरित् को रखा है वहाँ दूसरी ओर कथावस्तु के प्रस्तुतीकरण में गांधीयुग के अहिंसक युगबोध का स्वर भी सफलता से सँवारा है।

कृति कवि के वर्णनाविलास, तत्सम शब्दों के प्रयोग, भाषागत सौष्ठव और प्रवाह से अत्यंत रमणीय हो गई है। लंबी सामासिक पदावलियों से मुक्त पंक्तिरचना इसे क्लिष्टता और दुरूहता के दोष से भी बचाती है। फिर भी कवि का 'सु' के प्रयोग के प्रति अत्यधिक मोह है, जैसे सुरंग, सुपात्र, सुशांति, सुसर, सुमूर्ति सुवस्त्र, सुनिर्मित, सुतेज, सुस्निग्ध, सुवीर। यह कवि के पास ऐसे शब्दों के अभाव का द्योतक है जो 'सु' से युक्त हुए बिना पदपूर्ति करते हों। 'अनेकों', 'छादिता', के चिंत्य प्रयोग से मुक्त होने पर कृति में निखार अधिक आता।

प्रस्तुत काव्यकृति इस दृष्टि से अत्यधिक महत्व की है कि इससे हिंदी जगत् को अपने प्रिय नाटककार के कविस्वरूप का परिचय मिल जाता है। छपाई सफ़ाई सुंदर है और चमक दमक पूर्ण; आवरणपृष्ठ नयनाभिराम है। कृति का समुचित स्वागत होगा, विश्वास है।

---

१. काव्यकृति, कवि : सेठ गोविंददास, प्रकाशक भारतीय विश्व प्रकाशन, दिल्ली, मूल्य २-५०।

'पत्र पुष्प'[1]

गीता के श्लोकांश 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' से पत्र पुष्प लेकर हिंदी के यशस्वी नाटककार सेठ गोविंददास ने अपने कवि जीवन की प्रारंभिक रचनाओं का संकलन ही इस नाम से प्रस्तुत किया है। विनयावनत कवि के दो शब्दों में संग्रहीत रचनाएँ तुकबंदियाँ हैं। जो 'षड् ऋतु' वर्णन से लेकर भारतदर्शन तक की विभिन्न भाव-भूमियों पर चित्रित हैं। 'जन्म-भूमि प्रेम', 'भारत दर्शन' शीर्षक लंबी रचनाओं में जहाँ एक ओर कवि का देशप्रेम फूट पड़ा है वहाँ दूसरी ओर 'षड्ऋतु', 'प्रभात संध्या', 'प्रकृतिपूजा, 'ऋषि केश की गंगा' आदि रचनाओं में उसका प्रकृति-प्रेम यथेष्ट रूप से विद्यमान मिलता है जो कवि के देशप्रेम की ओर उन्मुख होने की प्राथमिक भूमि प्रस्तुत करता है। जैसे अधिकांश कवियों की प्रारंभिक रचनाओं में अनमजे शब्द, बेडौल भाव, अटपटी भाषा आदि दोष मिल जाया करते हैं, वैसे इन रचनाओं में भी ये यत्र तत्र विद्यमान है। रचनाएँ अमित्राक्षर एवं गीत दोनों प्रकार के छंदों में प्रणीत मिलती हैं।

कलितकलेवर संग्रह की छपाई सफ़ाई अतीव सुंदर है।

—देवनाथ पांडेय 'रसाल'

हिंदी पद परंपरा और तुलसीदास[2]

प्रस्तुत शोधप्रबंध के लेखक ने इस ग्रंथ का प्रणयन बड़े अध्यवसाय और श्रम के साथ किया है। 'गोस्वामी जी' पर हिंदी में बहुत कार्य हुआ है फिर भी उसका अधिक बल 'मानस' पर रहा है। उस कृति को 'गोस्वामी जी' ने प्रबंध में निबद्ध किया है और नानापुराणनिगमागम तथा वाल्मीकि रामायण, अध्यात्म रामायण आदि की ओर दृष्टि रहने से उनकी व्यक्तिगत भक्तिभावना आदि का प्रसार, निश्चय ही कुछ न कुछ परिमित रहा होगा।

यद्यपि उनकी भक्ति तथा भावबोध की अभिव्यक्ति वहाँ भी उच्चतम धरातल और पूर्ण विकास तक पहुँची हुई है, तथापि पदपरंपरा में निबद्ध उनके ग्रंथों—'श्री कृष्णगीतावली', 'श्री राम गीतावली' और 'विनयपत्रिका'—में उनकी भक्ति और भावना, आंतरिक विनम्रभाव और भक्तिचेतना का जो उल्लास प्रकट हुआ है, उसकी अपनी कुछ विशेष रम्यता है। अतः इनको केंद्र में रखकर 'तुलसी' के भावजगत, भक्तिभावना एवं अनुभूतिबोध का अनुशीलन और विश्लेषण करते हुए डा० रामचंद्र मिश्र ने 'तुलसी' का महत्वपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत किया है।

वस्तुतः पदशैली की गीतपरंपरा में साहित्य और संगीत दोनों के रम्य एवं कलामय तत्वों का योग रहने से, उसकी अपनी विशिष्ट मधुरिमा और समर्थता होती है।

इस ग्रंथ में ऐतिहासिक, साहित्यिक, भक्तिपरक आदि अनेक दृष्टियों से पदसाहित्य के नाना अंगों का अध्ययन करते हुए 'तुलसी' की विशेषताओं, मान्यताओं और साहित्यिक उपलब्धियों का जो विवेचन हुआ है वह निश्चय ही श्रमसाध्य और शोधपरक है।

बारह अध्यायों के इस ग्रंथ में 'हिंदी पद-साहित्य के स्रोत', 'लोकसाहित्य और लोक-नाट्य में गीत', 'संगीत और उसकी नवीन परिणति' और 'तुलसी पूर्ववर्ती पदसाहित्य' की व्यापक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है और उसी में 'तुलसी के गीतकाव्य के वर्ण्य विषय', 'उनके पदसाहित्य का भाव, रस, भाषाशैली, छंद, संगीत शास्त्रीय स्वरूप' आदि की शोधपूर्ण और साहित्यक आलोचना मिलती है जिससे लेखक की विवेचनदृष्टि का पूर्ण परिचय मिल जाता है। इसी के साथ साथ 'मध्ययुगीन साहित्यिक परंपराएँ और तुलसी' तथा 'तुलसी के अनंतर राम-पद-काव्य की परंपरा का अध्ययन' करते हुए लेखक ने दास्यपरक एवं मर्यादावादी दृष्टियों से निर्मित परवर्ती साहित्य का परिचय तो दिया ही है, 'रसिक' और 'मधुर' भाव के पदसाहित्य की भी चर्चा की है।

अंत में लेखक ने तुलसी के पदसाहित्य का उपसंहारात्मक वैशिष्ट्य दिखाया है। इसमें

१. कवितासंग्रह, कवि : सेठ गोविंददास, प्रकाशक भारतीय विश्वप्रकाशन, दिल्ली, मूल्य रु० १–७५।

२. ले० डॉ० रामचंद्र मिश्र, प्र० हिंदी साहित्य संसार, दिल्ली—६:पटना—४। पृ० सं० १५+३४० मू० रु० १२.५०।

तुलसी के सामान्य साहित्य और पदसाहित्य के पूर्वविश्लेषित निष्कर्षों का उल्लेख करके ग्रंथ को पूर्ण बनाया है।

प्रस्तुत ग्रंथ निश्चय ही लेखक के अध्ययन और अनुशीलन का सूचक है। इसमें अध्यवसाय और मनोयोग के साथ विवेच्य विषय की मीमांसा की गई है। निष्कर्षों में तटस्थ रहने का पूर्ण प्रयास है। हो सकता है, कहीं कहीं किसी का मतभेद हो। तुलसी की माधुर्यपरता से संबद्ध मान्यताओं को कुछ अध्येता सप्रमाण अस्वीकार भी कर सकते हैं। अन्यत्र भी ऐसे विवादास्पद प्रसंग हैं जिन्हें स्वीकृत सिद्धांत न कहकर विचारणीय दृष्टि कह सकते हैं। फिर भी सब मिलाकर लेखक का प्रबंध अपने आपमें महत्वपूर्ण भी है और उस पद्धति से अध्ययनकर्ताओं के लिये प्रेरणादायक भी। हम लेखक की कृति का स्वागत करते हैं।

सूरसारावली : एक अप्रामाणिक रचना[1]

'सूर-सारावली' को बहुत दिनों तक (और अनेक विद्वानों द्वारा अब भी) 'सूरसागर'-कार महाकवि 'सूरदास' की रचना मानते रहे हैं। अध्ययन अध्यापन में न रहने के कारण ग्रंथ को बिना देखे हुए ही अधिकांश विद्वान् उसे 'सूरदास' द्वारा लिखित ग्रंथ स्वीकार कर लेते थे। अंतर्बहिःसाक्ष्यों के आधार पर उसकी प्रामाणिकता अप्रामाणिकता के विचार का प्रश्न ही उनके सामने नहीं उठ पाया। 'सूरसागर' के साथ साथ 'सारावली' (सूरसारावली या सूरसागर सारावली) और 'साहित्यलहरी' का नाम भी वे गिनाते रहे।

'सारावली' की रचना बृहत् होलीगीत के रूप में हुई है जिसमें दो दो पंक्तियों के ११०० से कुछ अधिक बंद हैं। आरंभ में मंगलाचरण के पद की समाप्ति के बाद टेक के रूप में निम्नांकित पंक्ति है :

"खेलत यहि विधि हरि होरी हो, हरि होरी हो, वेद विदित यह बात।" विभिन्न संस्करणों में विभिन्न रूपों में एक या अधिक बार यह टेक दुहराई गई है। उन संस्करणों की 'सूचनिका' में तथा 'अंतिम' वक्तव्य में इस ग्रंथ को सूरदासकृत सवा लाख पदवाले सूरसागर का सूचीपत्र कहा गया है। आरंभ में 'रागकल्पद्रुम' शब्द भी मिलता है तथा एक संस्करण के अंत में प्रकाशित है—"इति श्री रागसागरोद्भव रागकल्पद्रुम सूरसागरस्य सूरसारावली समाप्तम्।"

इन सबका सारांश यह निकलता है कि 'सारावली' की रचना बृहत् होलीगीत के रूप में हुई है और उसका उद्देश्य था 'सूरसागर' के वर्णित प्रसंगों विचारों का सूचीरूप में सार उपस्थित करना। अब प्रश्न यह उठता है कि इस 'सूरसारावली' का रचनाकार क्या स्वयं 'सूरदास' थे? बहुत दिनों से मानी हुई बात के रूप में अधिकांश विद्वान् 'सूरदास' को ही उक्त ग्रंथ का कर्ता स्वीकार करते चले आ रहे हैं। उसे एक स्वीकृत तथ्य सा मान लिया गया। पर विद्वानों ने ग्रंथ का तथा उसके अनेक संस्करणों के पाठादि का जब अध्ययन अनुशीलन किया तब पूर्वस्वीकृत सिद्धांत कुछ विद्वानों की दृष्टि में पूर्वपक्ष मात्र रह गया।

इस संबंध में 'सूरकृत' पक्ष का समर्थन करनेवालों के बहुत से प्रमाणतर्कों में दो बातें बड़े जोर से कही जाती हैं—(क) 'सूरसागर' के शब्द, वाक्यांश, उपवाक्य आदि का 'सरावली' में ज्यों का त्यों पाया जाना और सूरसागर के ढंग पर उसका 'सूरसारावली' नाम रखना।

डा० प्रेमनारायण ने प्रस्तुत ग्रंथ के आरंभ (पृ० १७) में उक्त तर्कों का प्रत्याख्यान करते हुए कहा है—"परंतु वास्तविकता यह है कि यह छाप उस महाकवि की लोकप्रियता का लाभ उठाने की क्षुद्रतम मनोवृत्ति से प्रेरित होकर जोड़ी गई है और स्पष्ट है कि तब उसका रचयिता अपनी रचना को ऐसा रूप भी देना चाहता है जिससे उक्त नाम संगत जान पड़े। 'सूरसागर' के शब्द, वाक्यांश उपवाक्य आदि ज्यों के त्यों 'सारावली' में मिलने का यही मुख्य कारण है।"

---

[1] लेखक श्री प्रेमनारायण टंडन, प्र० हिंदी साहित्य भंडार, लखनऊ, पृ० ४५१, मू० १२·५०।

श्री द्वारकादास परीख और श्री प्रभुदयाल मित्तल ने 'सूरनिर्णय' एवं 'सारावली' (भूमिका) में उक्त कृति के विषय में अंतरंग बहिरंग प्रमाणों और साक्ष्यों के आधार पर 'सारावली' को प्रसिद्ध अष्टछापी सूरदास की प्रामाणिक रचना सिद्ध की है।

डा० प्रेमनारायण टंडन इस मत को अस्वीकार करते हैं। उनका निश्चित मत है—"सारावली कदापि स्वतंत्र रचना नहीं है। वह निश्चय ही रची तो गई है 'सूरसागर' का सार देने के लिये, उसकी सूची प्रस्तुत करने के उद्देश्य से, परंतु वास्तव में है वह एक भ्रामक और अप्रामाणिक रचना जो उन श्रद्धालु वैष्णवों को, जिनकी 'सूरसागर' के प्रति श्रद्धा तो थी, परंतु जिनके पास उसकी प्रति नहीं थी, धोखा देकर कुछ अर्थलाभ की आशा से लिखी गई थी।" (पृ० २४)

इस संबंध में ध्यान रखने की बात है कि यह ग्रंथ—हो सकता है—दूसरे व्यक्ति ने लिखा हो, पर यह भी आवश्यक नहीं है कि धोखा देने और अर्थलाभ के स्वार्थ से ही वह लिखा गया हो। किसी भक्त, असमर्थ कवि ने भी भक्तिभाव से ही इसका संग्रह किया हो तो यह असंभव नहीं है।

इस विषय में मित्तल जी का एक तर्क महत्व रखता है। गुजरात के भक्त कवि द्वारा गुजराती में अनूदित सारावली की जिस प्रति का उल्लेख उन्होंने किया है, वह संवत् १८८० की प्राचीन प्रति है।

परंतु उक्त अनुवाद से कृतिकार का निर्णय नहीं होता है कि वल्लभ मतानुयायी पुष्टिमार्गियों में उक्त ग्रंथ समादृत था। साथ ही सौ पचास वर्ष पूर्व अवश्य ही उसकी रचना हुई थी, वह सूर की रचना है—इसका निर्णय नहीं हो सकता।

'नामछाप' निर्णायक हो सकती है और भ्रमोत्पादक भी। संभवतः उसी से—यदि भ्रम हुआ है तो—भ्रामकता फैली। वह यथार्थ कर्ता की नामछाप भी हो सकता है और मूल ग्रंथकार—सागरनिर्माता—'सूर' के 'कथनसार' का भी सूचक हो सकता है।

इस संबंध में बाह्य प्रमाणों से पूर्ण भ्रम-निराकरण न होकर 'सूरकर्तृत्व' का ही थोड़ा बहुत संकेत मिलता है। फिर भी उन्हें प्रामाणिक नहीं कह सकते। अतः अंतः-साक्ष्य के आधार के लिये श्री प्रेमनारायण जी ने जो साहित्यिक एवं इतर प्रमाण उपस्थित किए हैं—वे कुछ अधिक दूर तक इसे 'सूर' की अप्रामाणिक रचना सिद्ध करते हैं। पर उनको भी दूसरे पक्ष की मान्यता में यह कहकर लगाया जा सकता है कि संक्षेपीकरण और कथामात्र के वर्णन के कारण साहित्यिक एवं भाषा संबंधी प्रौढ़ता का दर्शन यहाँ नहीं होता।

पर एक बात अवश्य है। 'सारावली' की भाषा और उसका प्रयोगरूप देखकर यह स्पष्ट ही जान पड़ता है कि 'सूर' के समान भावुक और समर्थ कवि की यह रचना नहीं है, कम से कम 'सूरसागर' बनाने के बाद की तो नहीं है। अन्यथा 'सूर' की भाषा की प्रौढ़ि तथा समर्थ चारुता अवश्य ही यहाँ भी मिलती। अतः साहित्यिक दृष्टि से ग्रंथ का अध्येता श्री टंडन के ही मत की ओर झुकेगा। पर निश्चयात्मक निर्णय करना कुछ कठिन हो गया है। भविष्य में ऐसा कुछ प्रमाण या अधिक प्रामाणिक प्रति यदि मिल जाय तभी केवल अनुमानपरक तर्कों से आगे बढ़कर प्रश्न का समाधान हो सकेगा।

'बोध और व्याख्या'[1]

प्रस्तुत पुस्तक लेखक के ही मत से शत-प्रतिशत छात्रोपयोगी है। लेखक के ५५ निबंध संगृहीत हैं और ४ खंडों में विभाजित—(क) सैद्धांतिक विवेचन (१३ अध्याय), (ख) ऐतिहासिक विवेचन (२२ अ०), (ग) वैयक्तिक (साहित्यकारों का) (१८ अ०) और (घ) भाषा वैज्ञानिक (२ अ०)। प्रथम

१. ले० कामेश्वरनाथ शर्मा, प्रका० नोवेल्टी ऐंड कंपनी, पटना—४, मू० रु० ६—५० पै० पृ० सं० ४५०।

खंड में कला, साहित्य, रस, आलोचना, शैली का विवेचन है, द्वितीय में हिंदी के वीरगाथा काल से आज तक के ऐतिहासिक और वैकासिक आलोच्यालोचन के आधार पर समीक्षात्मक व्याख्या की गई है। तृतीय खंड में कबीर से लेकर 'दिनकर' तक के कुछ प्रमुख हिंदी साहित्यकारों का महत्व और संदेश एवं उनकी देन और वैशिष्ट्य का संक्षिप्त निरूपण है। चतुर्थ भाग अति सामान्य है।

इन सबमें कुछ नवीन से लगनेवाले विषयों का भी कहीं कहीं समावेश है और कहीं कहीं आधुनिक दृष्टि से भी विश्लेषण है। सब मिलाकर मुद्रण अशुद्धियों के बावजूद, ग्रंथ छात्रोपयोगी और परीक्षोपयोगी है। साहित्यप्रेमी भी इसका लाभ उठा सकते हैं।

'पदमावती'[1]

'जायसी' का प्रसिद्ध प्रेमाख्यानक काव्य 'पद्मावत' हिंदी में आज अत्यंत प्रसिद्ध है। किसी भी सूफी कवि की किसी भी अन्य रचना का उतना अध्ययन और वैसी चर्चा नहीं हुई जैसी 'पदमावत' की हुई। इससे 'पद्मावत' का साहित्यिक महत्व स्वतः स्पष्ट हो उठता है। 'जायसी' के उक्त काव्य को यह संमान और महत्व आज के युग में ही प्राप्त है—ऐसा न समझना चाहिए। आज से ३०० वर्षों पूर्व आराकान के राज्याधिकारी 'मागन ठाकुर' ने उक्त कृति के लालित्य और काव्यरस का आस्वादन किया था। वे 'पदमावत' से इतने प्रभावित हुए थे कि तत्कालीन प्रसिद्ध बंगला-कवि, अलाओल' से उस काव्य का बंगला भाषा में रूपांतर कराया। बंगला के उस 'पद्मावती' का नागरी लिपि में 'क० मु० हिंदी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्व० आगरा'—द्वारा प्रकाशन किया गया है।

यह रूपांतर पूर्णरूप से बंगलानुवाद नहीं है। 'पद्मावती' का यह बंगला रूप वस्तुतः 'जायसी' और आलाओल की संयुक्त रचना बन गई है। 'जायसी' के 'पद्मावत' की कथावस्तु और तदर्थक काव्योक्तियों को बंगाल के कवि ने अपनी काव्यचेतना के रंग और रेखाओं से रूपांतरित किया। इसकी पूरी सूचना मिल सकती है—दोनों काव्यों का अक्षरशः तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करनेवाले शोधकर्ता से ही। फिर भी ग्रंथ के विद्वान् संपादक डा० सत्येंद्रनाथ घोषाल की भूमिका से इस विषय का थोड़ा बहुत आभास मिल जाता है। इसका एक बँगला संस्करण बहुत पहले छपा था—वह भी आज दुर्लभ है। अतः उक्त आगरा विद्यापीठ का यह प्रकाशन अत्यंत अवसरोचित और अनुसंधायकों के लिये बड़ा ही उपयोगी है।

'साहित्यिक' दृष्टि से भी इसका महत्व है। 'जायसी' और 'अलाओल' के काव्यबोध का सूक्ष्म और तुलनात्मक मूल्यांकन करने में इसके अध्ययन से सहायता अवश्य मिलेगी। पर इसके साथ ही साथ भाषानुशीलन की दृष्टि से ३०० वर्ष की बँगला का तत्कालीन मैथिली, अवधी, ब्रज और खड़ी बोली के साथ तुलनात्मक विवेचन करने में भी इस ग्रंथ का पर्याप्त उपयोग हो सकेगा। विद्वान् संपादक ने जिस वैदुष्य और लगन के साथ प्रस्तुत ग्रंथ का संपादन किया है और 'आगरा विद्यापीठ' तथा उसके संबद्ध अधिकारियों ने जिस उत्साह और तत्परता से इसका प्रकाशन किया है—तदर्थ और विशेषतः डा० सत्येंद्र बधाई के पात्र हैं। आशा है, हिंदी के आलोचकों और शोधकर्ताओं द्वारा इसका समुचित उपयोग किया जाएगा।

'भाषा'[2]

पत्रिका का उद्देश्य यद्यपि प्रादेशिक भाषाओं के सहयोग से हिंदी की संमृद्धि और पारस्परिक आदान प्रदान की प्रवृत्ति को बढ़ावा देना है,

---

१. पद्मावती—संपादक—डा० सत्येंद्रनाथ घोषाल, प्रकाशक—क० मुं० हिंदी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा। मू० ७.००

२. केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय के हिंदी निदेशालय के हिंदी त्रैमासिक पत्र का शांतिरक्षा अंक, जनवरी, १९६४। आकार डबल क्राउन अठपेजी, पृष्ठसंख्या १४८, संपा० श्री तारा तिक्कू, कलासज्जा श्री मनोहरलाल ओबेराय, छपाई कागज अत्युत्कृष्ट, वार्षिक ३·५०, एक अंक १·००।

तथापि प्रस्तुत अंक उस भावधारा का प्रतिनिधित्व करता है जो चीन के वर्तमान आक्रमण से आसेतुहिमाद्रि बुद्धिजीवी वर्ग को आलोड़ित और मथित किए हुए है। इस अंक में संकलित सामग्री मुख्यतः आठ स्तंभों में वर्गीकृत है :

(१) 'जय जननी, जय भारती', (२) कहानियाँ, (३) द्वाभा, (४) लेखकों का दायित्व, (५) गीतिनाट्य, (६) कला, (७) कविता और (८) इंटरव्यू। अंत में 'लेखक-परिचय' है।

प्रथम स्तंभ में संकलित कविताओं में भारत और भारती की अर्चना है। स्व० 'निराला' जी की 'भारति जय विजय करे' के अतिरिक्त शेष समस्त कविताओं में चीनी आक्रमण पर हुई जनमानस की तीव्र प्रतिक्रिया अंकित है। हिंदी की मौलिक कविताओं के अतिरिक्त बँगला, मराठी और अँगरेजी से भाषांतरित कविताएँ भी हैं। यह ठीक है कि इधर इस कोटि का जो प्रभूत काव्यसाहित्य सामने आया है, वह अधिकांश भरती जैसा है और उसमें अनुभूति की वह तीव्रता तथा अभिव्यक्ति की वह प्रांजलता नहीं है, जो भारतीय काव्य-साहित्य का सांप्रतिक सर्वसामान्य निजस्व है, फिर भी संकलित कविताएँ उस कोटि की नहीं हैं। कहानियाँ हिंदी (मौलिक) के अतिरिक्त पंजाबी, उर्दू, गुजराती तथा विदेशी भाषा से अनूदित हैं। सभी कहानियों का प्रेरक-तत्व देशप्रेम है, फिर भी उनमें शैलीगत कलात्मक भंगिमा का यथेष्ट आकर्षण है, जो कथा वाङ्मय की सफलता का अनिवार्य और अपरिहार्य अंग होता है। "द्वाभा" स्तंभ में श्री मैथिलीशरण गुप्त की कविता "विजयपर्व" पंजाबी अनुवाद सहित श्री 'दिनकर' की कविता "जौहर", बँगला अनुवाद सहित, श्री 'बच्चन' की कविता "चेतावनी", तमिल अनुवाद सहित और श्री नंद चतुर्वेदी की कविता "आइ हेनसांग" गुजराती अनुवाद सहित संकलित है। "दायित्व" स्तंभ में श्री भगवतशरण उपाध्याय का निबंध "कालिदास का हिमालय" मुख्यतः परिचयात्मक है, जिसमें पूर्व पश्चिम फैली हिमालय की शृंखलाओं के शिखरों, उपत्यकाओं और उनमें प्रवहमान नदियों आदि का विस्तृत वर्णन है। इस स्तंभ के शेष लेख विचारप्रधान हैं और उनसे वर्तमान परिस्थिति में विभिन्न क्षेत्रों में कार्य कर रहे लोगों के दायित्वों और कर्तव्यों की मीमांसा है : एक ओर तो उदात्त मानवीय गुणों के प्रति भारतीय कर्तव्यभावना की वाणी है, दूसरी ओर श्री प्रभाकर माचवे का निबंध "चीन में साहित्य पर नियंत्रण" है, जो हृदय, मन और मस्तिष्क से युक्त मानव को भी नरपशु बनाने की माओ की अभिसंधि की व्याख्या करता है। "गीतिनाट्य" के अंतर्गत श्री सुमित्रानंदन पंत का "ध्वंसशेष" गुजराती अनुवाद सहित दिया गया है। "कला" स्तंभ में श्री दिनकर कौशिक द्वारा वर्तमान संकटकालीन स्थिति में कलाकारों के कर्तव्य का विवेचन है। "कविता" स्तंभ में विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं के अग्रणी कवियों की कतिपय चुनी हुई रचनाएँ हिंदी अनुवाद सहित दी हुई हैं। अनुवादों में मूल भावों के व्यंजक तत्वों की सुरक्षा बड़ी सावधानी के साथ हुई है। अंत में "इंटरव्यू" स्तंभ है, जिसमें विभिन्न वर्गों में से दो प्रतिनिधि वर्गों के एक एक चुने हुए व्यक्तियों से चीनी आक्रमण द्वारा उनपर हुई प्रतिक्रिया अंकित है। इन दो व्यक्तियों में से एक हैं अंतरराष्ट्रीय ख्याति के भाषावैज्ञानिक और प० बंगाल की विधान सभा के अध्यक्ष डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ('चटर्जी' वे केवल विदेशी भाषाओं में प्रयुक्त करते हैं) और दूसरे हैं केंद्रीय शिक्षा मंत्रालय के वरिष्ठ अधिकारी श्री प्रेमनाथ धीर। चाटुर्ज्या महोदय का उत्तर भारत की अहिंसात्मक या शांतिवादी नीति की भ्रामक व्याख्या करनेवालों को सावधान करता है। उनका कहना है कि 'शांति' का यह अर्थ कदापि नहीं कि हम आत्मरक्षात्मक प्रवृत्तियों तक को त्याग दें। हमारी इस प्रवृत्ति अर्थात् रक्षात्मक प्रयत्नों के विरुद्ध देश और विदेशों में बहुत कुछ कहा और कहलाया जा रहा है। परंतु इस प्रकार की टीका टिप्पणी उन्हीं की ओर से की जा रही है, जिन्हें भारत की सफलता रुचिकर नहीं। श्री धीर मूलतः उस पंजाब के रहनेवाले हैं जो प्रागैतिहासिक काल से विदेशी आक्रमणों का सामना करता आया है। नानक, गोविंद, रणजीत की परंपरा के पंजाब का पौरुष चीनी आक्रमण का समा-

चार मिलते ही जाग उठा था। आधुनिक पर्वतीय युद्ध के लिये आवश्यक साज सामान का अभाव होते हुए भी वहाँ के रणबाँकुरों ने शत्रु की बर्बर वाहिनी को लोहे के चने चबवा दिए। धीर जी चार सुयोग्य पुत्रों के पिता हैं, जिनमें दो को तो तत्काल उन्होंने सेना में भेज दिया। तीसरे चिरंजीवी भी उसी की तैयारी कर रहे हैं। चौथे बहुत छोटे हैं, फिर भी योगायोग से प्रतीत होता है, वे भी वयस्क होकर उनका ही अनुगमन करेंगे। जिस देश का एक नहीं हजार चीन भी निरंतर आक्रमण करके बाल बाँका नहीं कर सकते।

सबसे अंत में 'लेखक परिचय' है। यह शीर्षक भ्रामक है होना चाहिए — 'लेखकों के पते', क्योंकि ६० से अधिक लेखकों में से केवल तीन के संबंध में गिनती के दो दो शब्दों का परिचय है, अन्यथा सबके पते मात्र अंकित हैं और एकाध में वह भी अशुद्ध है।

कुल मिलाकर 'भाषा' का यह अंक पठनीय ही नहीं, अनेक दृष्टियों से संग्रहीय हुआ है और तदर्थ हिंदी निदेशालय, विशेषतः 'भाषा'— संपादिका, धन्यवादार्ह हैं।

—शंभुनाथ वाजपेयी

कुतुबन कृत मृगावती[1]

कुतुबन कृत 'मृगावती' की चर्चा हिंदी साहित्य के इतिहासग्रंथों और विविध निबंधों में बहुत पहले से होती चली आ रही है, परंतु इसकी हस्तलिखित प्रति का सर्वप्रथम उल्लेख नागरीप्रचारिणी सभा, काशी की सन् १९०० ई० की खोजरिपोर्ट में ही प्राप्त हो सका था। तदनंतर समय समय पर मृगावती की अन्य प्रतियों की सूचनाएँ यत्रतत्र प्रकाशित होती रहीं किंतु इसका प्रामाणिक, बोधगम्य और वैदुष्यपूर्ण संपादन डाक्टर शिवगोपाल मिश्र के श्रम से ही संभव हुआ है।

प्रस्तुत रचना के संपादन, पाठानुशीलन और विश्लेषण तथा विवेचन में डाक्टर मिश्र ने चौखंभा, भारतकला भवन बनारस, अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर और मनेर शरीफ इत्यादि की चार प्रतियों का पूरा पूरा लाभ उठाया है, लेकिन फतेहपुर जिला स्थित एकडूला गाँव में प्राप्त पांडुलिपि को सार्वाधिक प्रामाणिक मानकर उसी के आधार पर पुस्तक के कलेवर को अंतिम स्वरूप प्रदान कियागया है।

आलोच्च कृति का महत्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि संपादक ने चौसठ पृष्ठों की पांडित्यपूर्ण भूमिका में न केवल 'मृगावती' नामक अन्य रचनाओं, उसके पूर्व उल्लेखों, कुतुबन कृत मृगावती का रचनाकाल, कवि का जीवनकाल, 'मृगावती' कथा के मूल स्रोत आदि पर तथ्यपूर्ण निर्णय प्रस्तुत किये हैं अपितु उन्होंने बँगला, जैन, और हिंदी साहित्य में प्राप्य इस नाम की विभिन्न रचनाओं की प्रामाणिक कथाओं के अतिरिक्त कृति में आई अंतकथाओं, पात्रों, देशकाल, वर्ण्यविषय, भाषाशैली, काव्यरुढ़ियों, सूफी सिद्धांत आदि पर भी अपना सम्यक् दृष्टिकोण दे दिया है। साथ ही भूमिकागत पाठसंबंध, संपादन— सिद्धांत (प्रस्तुत कृति संबंधी) और पादटिप्पणियों में दिए गए पाठांतर के कारण रचना को समझने में विशेष कठिनाई नहीं रह जाती। तो भी परिशिष्ट २ में दी गई शब्दार्थ सूची बहुत ही छोटी, अपर्याप्त और सामान्य शब्दों से भरी है। संभवतः लेखक ने उसे अपनी सुविधानुसार ही जुटाया है, कुछ पाठकों और अध्येताओं को दृष्टिपथ में रखते हुए नहीं।

परिशिष्ट ३ में उल्लिखित 'मृगावती' से संबंधित प्रकाशित लेखों की सूचना के द्वारा कृति का विशिष्ट अध्ययन भी संभव एवं सरल हो गया है। परंतु पर्याप्त सतर्कतापूर्ण संपादन के बाद भी पुस्तक में कुछ भूलें एवं त्रुटियाँ रह गई हैं। जैसे मूलपाठ में नायक की द्वितीय पत्नी का नाम रुक्मिनी है किंतु भूमिका में उसे सर्वत्र रुपमिनी ही रखा गया है। कहीं कहीं पाठ छूट गया है और कतिपय स्थलों पर वह अप्रासंगित एवं कथा से असबंद्ध भी है। आशा है भावी संस्करण में इन त्रुटियों का शोध दिया जाएगा।

निष्कर्षतः प्रस्तुत ग्रंथ के संपादन से हिंदी के मध्यकालीन साहित्य अनुशीलकों तथा

१. संपादक डा० शिवगोपाल मिश्र, प्राध्यापक, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रकाशन हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, उ० द्वि० पृ० संख्या २१० । मू० ६ रु०
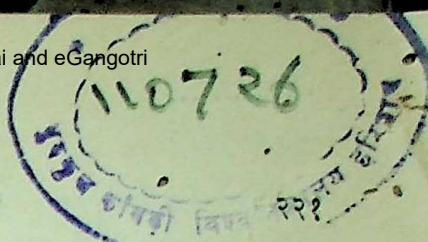
पाठकों को प्रेरणा के साथ साथ नए दृष्टिकोण से अनुशीलन परिशीलन की दिशा तथा सुविधा प्राप्त होगी। भारतीय और सूफी प्रेमाख्यानक काव्यों की एक लुप्त कड़ी का प्राप्त हो जाना तो इस ग्रंथ की एक निश्चित एवं अनुपम उपलब्धि है ही।

कैलाश चंद्र शर्मा

सरभक्ख[1]

आलोच्य उपन्यास 'सरभक्ख,' 'अत्यंत विस्तृत सस्पेंस को रहस्यमय बनाने के अतिव्यामोह में 'किसी स्वप्नमयी मैजिकल फैंटेसी' को 'आत्मसात' करने के बजाए क्लिष्ट कल्पना का एकत्रासद व्यायाम मात्र बनकर रह गया है। उसके कलेवर में उभरे 'स्तब्ध प्रश्न' चाहे खोखले दिमाग की सिड़ी विचारधारा से निसृत' न हों पर गाँवगली के लोगों अथवा अड़ोस पड़ोस में हमारी अपनी भूमि पर संचरण करनेवाले व्यक्तियों के जीवन से निश्चित ही उनका दूर का भी संबंध नहीं है।

कथाकृति के नायक 'बाबू जी' ने अपने जीवन को बलात एक तथाकथित वैज्ञानिक प्रयोगशाला बना लिया है और अपने उन्हीं वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा उद्भूत प्रतिक्रियाओं से प्राप्त अनुभवों को अभिव्यक्त करने के एकमात्र ध्येय को लेकर वह अपने व्यक्ति और व्यक्तित्व को इतनी दूर ले जाता है कि उसका जीवन खुद ही एक अप्रत्यक्ष नाटकीय प्रयोग बन जाता है, जिसमें न 'संन्यासी' का उग्र अहम् है, और न 'जिप्सी' की आत्मतुष्टि के लिये भटकती बुर्जुआ आत्मा।' विपरीत इसके उसका वह अज्ञात आयामों में विचरण करनेवाला मदहोश जीवन 'मश्शाक–रज्जाक' से टकराकर 'निशा' तक आते आते अपने असफल्य एवं असार्थक्य को पूर्णतः पहचान लेता है। तब, तब उसके सामने आत्मघात के अतिरिक्त दूसरा कोई विकल्प नहीं रह जाता और आत्मघात, चाहे उसे कितना भी मोहक बनाने का प्रयास क्यों न किया जाये, न कभी स्तुत्य और जीवनोपयोगी रहा है, न रहेगा।

ईश्वर से अपने नाम को जपवाने (समपर्ण में) की हिरण्यकशिपुवत् कामना में ही संभवतः उपन्यास को 'मैंने सुना नहीं, तुमने क्या कहा प्रिये ? वह बना दिया है। लेखक की अप्रचलित और अप्रयोगोपयुक्त भाषा भी इसके लिये पर्याप्त उत्तरदायिनी है। उदाहरणतः—'अधिकांश फफूंद के गुल्म सडियल कडियल न बनें, इस अर्द्धचेतन मन के पास कोई जवाब नहीं, और अगर इन पेड़ों की सोई जुगुप्सा परिंदों दरिंदों की सरकराती चीत्कार बने, तो कसम है इस दूर से आनेवाली फलाँदती सड़क की चिरमई हड़बुड़ पर कि कोई तलवार कटार निकालकर रात्रि की सघनता को कच से फाड़ देगी।'

असंख्य इस तरह के बेमानी, उछलते कूदते शब्दों के अतिरिक्त लगातार कई कई पृष्ठों तक चलनेवाले अँग्रेजी भाषा के नागरी लिपि में लिखे हुए संवाद कृति को सर्वसाधारण के लिये और भी दुरुह और अबोधगम्य बना देते हैं।

कैलाश चंद्र शर्मा

अकेली आकृतियाँ[1]

नवोदित कहानीकार प्रयाग शुक्ल की आलोच्य संग्रहगत सन् ५८ से ६३ के बीच रचित पंद्रह कहानियों में से अधिकांश अस्पष्ट और निर्बल अभिव्यक्ति के कारण बहुत दूर से आते हुए डूबे से स्वर के समान जान पड़ती हैं, जिनसे किसी स्वरभाव की उपस्थिति का आभास तो अवश्य होता है, किंतु मानसपटल पर कहीं कोई भी चित्र अंकित नहीं हो पाता। संभवतः 'तथाकथित' 'नई कहानी तकनीक' को अपनाने के आयास के कारण ही ऐसा हो गया है। जीवन के खंडचित्र उनमें से हरेक में अवश्य हैं, पर अतिबिखराव के कारण उनका कोई समन्वित प्रभाव पड़ता हो, ऐसा नहीं ही है।

---

१. उपन्यास लेखक श्री अरविंद गुर्टू, प्रकाशक—मेट्रोपोलिटन बुक कंपनी प्राइवेट लिमिटेड, १, नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली–६। प्रथम संस्करण सन् १९६३ ई० मूल्य ११ रुपए। पृ० सं० ६०७।

१. कहानी संग्रह—लेखक—प्रयाग शुक्ल, प्रकाशक-सरस्वती प्रेस, सरदार पटेल मार्ग, ५—इलाहाबाद। प्रथम संस्करण १९६१, मूल्य तीन रुपये, पृष्ठ सं० १६७।

सन् अट्ठावन की 'अकेली आकृतियाँ' में वातावरण के सूनेपन के साथ साथ व्यक्ति का आंतरिक अकेलापन ही हाथ लगता है। इकसठ के 'तहे' में नया नया ड्राइवर अपनी मानसिक घुटन को सर्वत्र व्याप्त पाता है और उसी के प्रभाव में उसे सड़क भी 'संकरी खड्डोंभरी मालूम होने लगती है। तिरसठ की 'बातें' मन को रमाने में नितांत असमर्थ हैं और इसी वर्ष का 'अंत' एक फूलती कली लीरेन को भी मृत्यु के भयावह आतंक से आच्छादित देखना चाहता है; भूखे शिक्षक की नंगी वासनाओं को उद्घाटित करने में कोई कोर कसर नहीं उठा रखता। भाषा, आदमी, जन्म, खोज, शामें, शहर, भूलें, सामान, कड़ियाँ, छायाएँ और सड़क का दोस्त इत्यादि में कहीं भी कोई जीवन से बहुत अधिक परिचित नहीं मिलता।

कहानियों की भाषा कामचलाऊ और साधारण होने के साथ साथ एकरसता भी पैदा कर देती है। बीच बीच में अँग्रेजी के अनावश्यक शब्द और वाक्यांश उसे बोझिल बना देते हैं। वाक्य अवश्य छोटे छोटे हैं।

—कैलाश चंद्र शर्मा

ग्रंथ समीक्षा[1]

प्रस्तुत ग्रंथ मानसार नामक प्रसिद्ध संस्कृत वास्तुशास्त्रीय ग्रंथ का हिंदी में अनुवाद मात्र है। अनुवादक ने स्वयं ही कहा है कि डा० प्रसन्न कुमार आचार्य के द्वारा संपादित मूल पाठ और उन्हीं के अंग्रेजी में किए अनुवाद पर ही यह अनुवादग्रंथ पूर्णतया आधारित है।

प्रस्तुत ग्रंथ विशेषज्ञों के लिये नहीं है, बल्कि आजकल के शिल्पिओं को प्राचीन भारत की एक प्रसिद्ध (और उपयोगी) विद्या के सामान्य परिचय देने के लिये है। इसी दृष्टि से ग्रंथ में मूलश्लोक देने की आवश्यकता नहीं समझी गई, ऐसा प्रतीत होता है। मूलश्लोक के नहीं रहने से अनुवाद पर ऊहापोह नहीं किया जा सकता, और न उसकी आवश्यकता ही है, क्योंकि यह कोई विचार विमर्शकारक-ग्रंथ नहीं है। ग्रंथ में विषयानुक्रमणी की आवश्यकता थी, और हम आशा करेंगे कि आगामी संस्करण में कम से कम एक प्रमुख शब्दसूची (अर्थसहित) अवश्य दी जाए। भूमिका में अध्यायानुसार विषयसूची है।

संस्कृत न जाननेवाले शिल्प विद्याविद (आधुनिक इंजीनियर आदि) इस ग्रंथ से लाभान्वित होंगे, क्योंकि अनुवाद की भाषा स्पष्ट है। संलग्न रेखाचित्रों से अनेक अस्पष्ट पदार्थों की रूपरेखा स्पष्ट हो गई है। अच्छा होता कि अनुवादक महोदय कहीं कहीं पादटिप्पणियों के विशिष्ट शब्दों की व्याख्या कर देते। अनेक स्थलों में विविध कोष्टकों के प्रयोग द्वारा अर्थों का स्पष्टीकरण किया गया है, जो बहुत ही सार्थक हुआ है। अनुवाद को पढ़ने से ऐसा मालूम पड़ता है कि अनुवादक ने डा० आचार्य के अनुवाद को देखकर यह हिंदी अनुवाद किया है, मूल संस्कृत श्लोकों पर स्वतंत्र रूप से विचार नहीं किया। यह ग्रंथ जिन लोगों को लक्ष्यकर लिखा गया, है, उनके लिये स्वतंत्र विचार करने की आवश्यकता नहीं थी—ऐसा प्रतीत होता है।

ग्रंथ की भूमिका संक्षिप्त है, पर है सुपाठ्य। शास्त्र का जो परिचय दिया गया है, वह सामान्य पाठकों के लिये अवश्य ही उपयोगी है। अवश्य ही हमारे नवीन इंजीनियरों को यह ग्रंथ देखना चाहिए।

ग्रंथ में कुछ ऐसी मुद्रण की अशुद्धियाँ हैं, जिससे अर्थबोध में बाधा होती है या कभी-कभी विपरीत ज्ञान हो जाता है। भूमिका के चतुर्थ पृष्ठ में 'वितरीत' छपा है, जो 'वितस्ति' होगा, यह नापम विशेष का नाम है, अतः 'वितरित' छप जाने से पाठक को भ्रम हो सकता है।

अनुवाद को हमने जहाँ तहाँ मूल से मिलाकर देखा तो प्रतीत हुआ कि इसमें डा० आचार्य के द्वारा कृत अंग्रेजी अनुवाद का भाव अविकल रूप में संरक्षित हुआ है, अतः इस अनुवाद को पढ़कर बहुत दूर तक मूलग्रंथ का लाभ उठाया जा सकता है।

डा० रामशंकर भट्टाचार्य

१. मानसार वस्तुशास्त्र—अनुवादक—व्रजमोहन लाल, प्रकाशक इंस्टिट्युशन आफ इंजीनियर्स (इंडिया), कलकत्ता, मूल्य—

मध्ययुगीन वैष्णवसंस्कृति और तुलसीदास[1]

गो० तुलसीदास के ग्रंथों पर हिंदी में लिखित साहित्य की मात्रा, कदाचित् सर्वाधिक है। उनके ग्रंथों-विशेषरूप से 'रामचरितमानस' पर लिखित टीकाओं और भाष्यों के माध्यम से जो विवेचन हुए हैं, उनमें भी जाने कितने गंभीर और चिंतनपूर्ण विचार भरे पड़े हैं, जिनसे 'तुलसीदास' के साहित्यिक कृतित्व पर अपार प्रकाश पड़ता है। पर उन सबको छोड़ देने पर भी इस महाकवि लिखित स्वतंत्र ग्रंथों की संख्या भी हिंदी में सर्वाधिक है। साहित्यिक, वैचारिक, कविकौशल, भाषापांडित्य, दार्शनिक, सांप्रदायिक, संतत्वसूचक, सुधारपरक, भक्तिनिष्ठ उपासक, वैदुष्यमूलक, ज्ञानगरिमा आदि अनेक दृष्टियों से उनके काव्य प्रतिभा, सर्जनाशक्ति, व्यापक ज्ञान और भक्तिभाव आदि का व्यापक विचार हुआ है, परंतु उस कवि की कुछ ऐसी अपूर्व विद्वत्ता है, ऐसी कवित्व प्रतिभा है, समन्विति क्षमता है और ऐसी जागरूक सांस्कृतिक चेतना है कि वह जितना प्रिय है विद्वमंडली में, संस्कृति दर्शनिज्ञों में, व्यासों में, साहित्यालोचकों में और भक्तों में, उपासकों में उतना ही वह लोकप्रिय है (कम से कम उनका 'मानस') सामान्य हिंदी भाषी जनता में। यह सर्वक्षेत्रीय प्रियता और आदर-गोस्वामी जी के अतिरिक्त और किसी कवि को प्राप्त नहीं है। इसी कारण इस 'कवि' की कविता पर इतने ग्रंथ लिखे जा रहे हैं और जब तक हिंदी जीवित रहेगी, तब तक लिखे जायँगे।

डॉ० रामरतन भटनागर एक सिद्धस्त प्रौढ़-लेखक भी हैं और विषयों के विवेचन में गतानुगतिक दृष्टिमात्र से न चलकर नए परिप्रेक्षण का पक्ष लेकर नए ढंग से विषय का नूतन विश्लेषण करना चाहते हैं। इसी कारण इतने विशाल 'तुलसी' आलोचना साहित्य के रहने पर भी उन्होंने आलोच्य ग्रंथ का सर्जन किया है।

अपने प्राक्कथन के आरंभ में ही वे एक प्रकार से घोषणा कर देते हैं कि भारत के मध्ययुग की दो संस्कृतियाँ हैं—(१) स्वदेशी (२) विदेशी। स्वदेशी संस्कृति पल्लवित होती है 'वैष्णवसंस्कृति के रूप में और विदेशी अथवा ईरानी का विकास होता है मुगलसंस्कृति के रूप में। यह दूसरी मुगलसंस्कृति भी विशुद्ध विदेशी नहीं है वरन् भारतीय संस्कारों के मिश्रण से, संश्लेषण से एतद्देशीय बन गई है। (यहाँ मध्ययुगीन संस्कृति से हिंदी की विकासपरक काल-सीमा के अनुसार हिंदी मध्यकाल का युग समझना चाहिए। भारतीय इतिहास की दृष्टि से मध्ययुग का आरंभ अनेक शताब्दियों पूर्व ही हो जाता है। अतः वह यहाँ अभीप्सितार्थ नहीं है।)

इस शोधप्रबंध का लेखक भारत की राष्ट्रीय संस्कृति को चैतन्योन्मुख मानता है तथा यूरोप, ईरान, चीन आदि की संस्कृतियों को जड़ोन्मुख। अतः इन अचैतन्योन्मुख संस्कृतियों में देहबुद्धि की प्रधानता है और उनका दृष्टिकोण है धर्मबद्ध या संप्रदायबद्ध। परंतु भारतीय संस्कृति का केंद्रीय मूलाधार चेतनब्रह्म है। इस कारण उसकी दृष्टि में अभेदचेतना है, जो जड़ता से अनाबद्ध होकर चैतन्य की दिशा में गतिशील रहती है।

लेखक के अनुसार मध्ययुग की मुख्य और व्यापक रूप से देशप्रचलित राष्ट्रीय संस्कृति है, 'वैष्णवसंस्कृति' जिसका चरमोत्कर्ष लक्षित होता है तुलसीदास की रचनाओं में। उनमें दृढ़-संस्कार हैं, सनातन और नूतन जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा है, भावबोध और कर्मबोध में आस्था है तथा उसका जीवनचिंतन उदात्त है जिसमें भावुकतापूर्ण रससाधनात्मिक तत्व वर्तमान हैं। यदि उसमें एक ओर विनम्रता और आत्मत्याग है तो दूसरी ओर कर्तव्य और आचार के प्रति दृढ़ता तथा व्यक्तित्व का स्वाभिमान भी है।

लेखक के शब्दों में कह सकते हैं। 'वह पूर्वपरंपरा के सर्वश्रेष्ठ को सहज में आत्मसात् कर लेती है और 'नानापुराण-निगमागम

---

१. 'मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति और तुलसीदास (शोधपूर्ण प्रबंध—पृ० सं० १८३), लेखक—डॉ० रामरत भटनागर, एम०, ए०, डी० फिल्। प्रकाशक—हिंदी साहित्य संसार, दिल्ली—६। मू० ७=५० पै०

संमतम्' कहकर अपने को सनातन घोषित करती है; परंतु साथ ही 'क्वचिदन्यतोपि' के बहाने नूतनत्व भी समावेश करने से नहीं चूकती। वह सच्चे अर्थों में राष्ट्रीय संस्कृति है और उसका साहित्य मध्ययुग का राष्ट्रीय साहित्य कहा जा सकता है।'

इसी केंद्रीय दृष्टि को लेकर मध्ययुगीन वैष्णवसंस्कृति के परिवेश में गो० तुलसी के चरमोत्कृष्ट प्रतिनिध्य का बड़े ही सबल और समर्थ शब्दों एवं तर्कों द्वारा—लेखक ने प्रतिपादन किया है। १६ शीर्षकवाले क्रमबद्ध निबंधों में विद्वान् लेखक ने अनुशीलनात्मक और चिंतनात्मक विचारों द्वारा अपनी मान्यता को साधार प्रमाणित किया है।

मध्ययुगीन संस्कृति और तुलसीकाव्य के विविध पक्षों का इन श्रृंखलागत निबंधों में तर्कपुष्ट ढंग से प्रतिपादन और विवेचन किया गया है। ग्रंथकार की प्रतिपादन शैली अत्यंत प्रौढ़ है; उनमें लक्षित मान्यताएँ सबल व्याख्यात्मक तर्कों द्वारा उपस्थापित हैं। भाषा और अभिव्यक्तिशैली भी अत्यंत समर्थ है। विषयक्रम की योजना भी श्रृंखलाबद्ध है। प्रस्तुत जिल्द में अंतिम तीन शीर्षकों (१७–तुलसी-संस्कृति, १८—तुलसीदर्शन और निष्कर्ष) के अंश नहीं है, परिशिष्ट भी नहीं।

अतः अधिक न कहकर निःसंकोच रूप से इतना कहा जा सकता है कि डा० भटनागर यह ग्रंथ निश्चय ही लेखक की दृष्टि की विवेचना के विचार से महत्वपूर्ण है, पठनीय है, मननीय है और प्रेरणादायक भी है। निश्चय ही अनेक पाठकों को इसमें नई चेतना और नई दृष्टि के साथ साथ अनेक नई सूचनाएँ भी प्राप्त होंगी। ग्रंथ स्वागतार्ह है।

करुणापति त्रिपाठी,

व्रजभाषा के कृष्णकाव्य में माधुर्य भक्ति[क]

दिल्ली विश्वविद्यालय की पी-एच्० डी० उपाधि के लिये लिखित शोधप्रबंध का यह ग्रंथ प्रकाशित रूप है। शोधकर्ता डा० रूपनारायण पांडेय ने एक विशेष कालसीमा के भीतर विवेच्य विषय के अनेक अङ्गोपाङ्गों का नूतन परिप्रेक्ष्य में आकलन किया है। इस ग्रंथ के पूर्व भी माधुर्यपरक कृष्णभक्तिवाङ्मय के विषय में अनेक ग्रंथ लिखे जा चुके हैं। अधिकांश ऐसे हैं, जिनके वर्ण्य विषय मुख्य रूप से संप्रदाय विशेष की सीमा को आक्रोडित करते हैं। प्रसंगतः अन्य सगुणकृष्णभक्ति संप्रदायों की चर्चा वहाँ हो जाती है। इस प्रकार के ग्रंथों में सबसे महत्व की कृति है डा० दीनदयाल गुप्त की रचना 'अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय'। डा० व्रजेंद्रस्नातक और गोस्वामी ललिताचरण–इन दोनों महानुभावों ने 'हितहरिवंश संप्रदाय' पर बहुत ही सूक्ष्म और विस्तृत विचार किया है। डॉ० स्नातक के ग्रंथ का परिवेश व्यापक, विवेचनसरणि वैज्ञानिक और विवेच्य संयोजना अधिक अनुशीलनात्मक (एकाडेमिक) है। डॉ० रत्नाकुमारी ने भी अपने ग्रंथ '१६वीं शती के हिंदी और बंगाली के वैष्णवकवि'—में चैतंयचरितामृत के प्रकाश में यथास्थान गौड़ीय वैष्णवों की माधुर्य भक्ति की संक्षिप्त चर्चा की है। 'हिंदीभक्ति के श्रृंगार का स्वरूप' में डा० मिथिलेशकांति ने भी इस विषय का विवेचन प्रस्तुत किया है। परंतु उनका दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न है। उन्होंने एक प्रकार से मनोवैज्ञानिक अंतःप्रेरणा की प्रकाशच्छाया में प्रेममूलक भावभक्ति के श्रृंगारप्रभावित अथवा तथाकथित उदात्तीकृत मधुरभक्ति का अंतर्विश्लेषण करने की चेष्टा की है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी की पुस्तक—'मध्यकालीन धर्मसाधना' तथा परशुराम चतुर्वेदी की 'मध्यकालीन प्रेमसाधना' में भी इस पक्ष की प्रसंगानुकूल संक्षिप्त—पर साथ ही सप्रमाण—चर्चाएँ हुई हैं। म० म० पंडित गोपीनाथ कविराज, करपात्री जी महाराज तथा अन्य अनेक महानुभावों ने माधुर्यभक्ति पर अनेक लेखादि लिखे हैं। ब्रह्मचारी बिहारीशरण जी की निम्बार्कमाधुरी, आचार्य ललितकृष्ण गोस्वामी का 'श्री निंबार्कवेदान्त' में भी यथाप्रसंग मधुर-

(क) व्रजभाषा के कृष्ण-काव्य में माधुर्यभक्ति—ले० डा० रूपनारायण पांडेय। हिंदी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली विश्वविद्यालय के निमित्त—यंगमैन एंड कंपनी—दिल्ली द्वारा प्रकाशित मूल्य—रु० १२·००। पृ० संख्या—लगभग ५२५।

भक्ति या प्रेममूला भक्ति की यथावसर चर्चा हुई है। 'कल्याण' (मासिक पत्रिका गोरखपुर) के भक्ति अंक (विशेषांक) में अनेक विद्वानों द्वारा तथा अन्य अनेक अंकों में श्री पोद्दार जी आदि के लेखों में इस विषय की चर्चा काफी की गई है। पंडित श्रेष्ठ श्री बलदेव उपाध्याय के 'भागवत-संप्रदाय, नामक ग्रंथ में भी अनेक वैष्णव संप्रदायों के उपासनापक्ष का संक्षिप्त पर बहुत ही स्पष्ट परिचय दिया गया है। उनकी दूसरी कृति—'भारतीयवाङ्मय' में श्री राधा' में इस पक्ष की बहुत अधिक और शास्त्रीय विवृति हुई है। इसी प्रकार श्री शशिभूषणदास गुप्त के ग्रंथ 'श्री राधा का क्रमिक विकास' में भक्ति के माधुर्यपक्ष का गौड़ीयपरिवेश में बड़ा ही पांडित्यपूर्ण परिचय मिलता है। श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार की 'राधातत्व' नामक रचना में भी चर्चा है। इधर 'श्री हरिभक्तिरसामृतसिंधु' का हिंदी अनुवाद प्रकाशित हुआ है—जिसके आरंभ में 'भक्तिरसामृत सिंधु' के प्रतिपाद्य और 'माधुर्य भक्ति' पर डा० विजयेंद्र स्नातक तथा श्री रामसागर त्रिपाठी के लेख में भी माधुर्यभक्ति का स्वरूप बताया गया है, जिसके मुख्याधार हैं खास तौर में गौड़ वैष्णवों के विषयसंबद्ध विविध ग्रंथ।

परंतु इन ग्रंथों के परिप्रेक्ष्य भिन्न हैं। कुछ कृतियों का मुख्य विषय माधुर्य भक्ति का निरूपण न होकर अन्य कुछ है। आनुषंगिक रूप से मधुरभक्ति का प्रसंग वहाँ आ गया है। कुछ में भक्तिरस के गौड़ीय मत का स्वरूप उपस्थित किया है। कुछ में सामान्य सिद्धांत अथवा स्वरूप की साधारण या विशिष्ट विवेचना है। कहीं कहीं उसका शास्त्रीय पक्षमात्र उपस्थित कर दिया गया है।

प्रस्तुत प्रबंध की विवेच्यसीमा, विवेच्यदृष्टि तथा विवेचनशैली की अपनी खास विशेषता है।

(१) इस ग्रंथ में विवेच्य कालसीमा को ध्यान में रखकर आलोच्य विषय का आकलन किया है। ब्रजमंडल के प्रायः उन सभी प्रमुख संप्रदायों की माधुर्य भक्ति के स्वरूप का परिचय दिया गया है, जो वहाँ प्रचलित थे। स्वरूप-परिचय के साथ साथ उनके सिद्धांतों का प्रामाणिक उपस्थापन तथा उनकी तुलनात्मक विश्लेषण भी की गई है। फलतः ब्रजभाषा के कृष्ण-काव्य की मधुरभक्ति या प्रेमाभक्ति को एक व्यापक दृष्टि से समझने समझाने का प्रयास, यहाँ लक्षित होता है। मूल भाव की एकता के रहने पर भी कृष्ण के मधुरोपासकों के मूलगत विभिन्न दृष्टिभेद को स्पष्टतापूर्वक दिखाया गया है। इस दृष्टि से अनुशीलन का परिवेश व्यापक बनाने के लिये लेखक ने मधुरभक्ति (प्रेमाभक्ति या उज्जवल शृंगार या भक्तिरस) का जो तुलनात्मक अध्ययन उपस्थित किया है उसमें **दार्शनिक और साहित्यिक** आधारों साथ-साथ **मानसशास्त्रीय** विवेचनदृष्टि—तीनों धाराओं का त्रिवेणी संगम लक्ष्यायित करने का सक्षम प्रयास मिलता है।

प्रसंगतः यह भी उल्लेनीय है, हिंदी के अनेक कृष्णभक्त ऐसे कवियों की साहित्यिक चर्चा मिलती है जो अपने अपने साहित्य के अप्रकाशित रहने के कारण अपरिचितवत् एवं नए लगते हैं। विभिन्न संप्रदायों के प्रमुख कवियों की परिचयचर्चा के प्रसंग में साहित्यिक सूचना के साथ साथ ऐतिहासिक विवरण भी संक्षेप में पर यथासंभव प्रामाणिक रूप से मिल जाता है। इस ग्रंथ की यही सब कुछ विशेषताएँ हैं। जिनके कारण ग्रंथ का आलोच्य धरातल व्यापक बन गया है और विवेचनदृष्टि नूतन लगती है।

बारह अध्यायों में विभाजित इस प्रबंधग्रंथ के प्रथम दो अध्यायों में वैष्णवधर्म का आरंभ और कृष्णभक्ति का अंतिम, विकास तथा उसके अंतर्गत माधुर्य भक्ति का आविर्भाव विवेचित है। तृतीय अध्याय परिचय देता है विषयसंबद्ध सामाजिक पृष्ठभूमि का चतुर्थ अध्याय में प्रमुख कृष्णभक्ति संप्रदायों और उनके भक्तिसिद्धांतों का संक्षिप्त परिचय है। पाँचवें अध्याय का विषय है प्रमुखतः प्रबंध का विवेच्यः—"माधुर्यभक्ति उसका दार्शनिक, साहित्यिक तथा मनोवैज्ञानिक आधार"। यह अध्याय वस्तुतः महत्वपूर्ण भी है और शोधप्रबंध लेखक ने बड़ी सावधानी से विषय का संयोजन और विनियोग किया है। संबद्धविषय से संपृक्त विषयों और उपासना संप्रदायों का दृष्टिपरिचय देने के साथ साथ अपेक्षित उपादान और उपकरण का सामान्य ज्ञान

उपस्थित किया गया है यह विषय स्वतः इतना गंभीर और व्यापक है कि १०४ पृष्ठों के अध्याय में इससे अधिक गहराई से प्रविष्ट होकर विश्लेषण करने पर विषय का अत्यंत विस्तार हो जाता। पर प्रस्तुत शीर्षक के शोधप्रबंध में वह कदाचित अनपेक्षित जान पड़ता, अतः जो है उससे अधिक विस्तार, गंभीरता और सूक्ष्म विश्लेषण —यहाँ अप्रासंगिक और अनपेक्षित समझकर ही शायद लेखक को लेखनी की गति अवरुद्ध करनी पड़ी।

छठें से लेकर दसवें अध्याय में प्रस्तुत विषयसंबंद्ध कृष्णभक्ति के विभिन्न संप्रदायों पसंप्रदायों—निंबार्क, गौड़ीय वैष्णव, राधावल्लभ, हरिदासी और वल्लभ—की माधुर्यभक्ति के स्वरूपों का (जिनमें साथ ही साथ उपासनातत्व उपासकतत्व तथा कभी कभी उपस्थित स्वरूप का) पृथक् पृथक् अच्छा परिचय दिया गया है। साथ ही तत्तत्संप्रदायों के प्रमुख कवियों का यथावश्यक इतिवृत्तात्मक एवं साहित्यिक परिचय दे दिया गया है। एकादश अध्याय में मीराबाई की माधुर्यभक्ति की चर्चा है। 'माधुर्य भक्ति के अन्य कवि' कहकर भी और नाम लेकर भी यहाँ 'रसखान' का उल्लेखमात्र है। बारहवें अध्याय का शीर्षक है 'मधुरोपासक कृष्णकवियों का हिंदी साहित्य को योगदान'। यह वस्तुतः उपसंहार है। इसमें कृष्णकाव्य की मधुरभक्ति के वैशिष्ट्यों का सिंहावलोकनात्मक परिचय देकर रामकाव्य' की मधुरोपासना के स्वरूप का परिचय दिया गया है तथा दोनों की तुलना भी की गई है। अंत में विवेच्य कृष्णभक्ति के कवियों के योगदान का संक्षिप्त वर्णन करते हुए ग्रंथ समाप्त कर दिया गया है। परिशिष्ट में संक्षिप्त रूप से अष्टछाप के कुछ कवियों—सूरदास परमानंददास, कुंभनदास, कृष्णादास—और तदितर रसखान—का इतिवृत्तात्मक एवं साहित्यिक परिचय दिया गया है। सबसे अंत में ग्रंथानुक्रमणिका है।

निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि ग्रंथ में यद्यपि सामग्री की दृष्टि से मौलिकता कम हो है तथापि विषयों का तर्कपुष्ट, युक्तिसंगत और विवेच्योपयोगी ग्रंथ से संयोजन अवश्य ही मौलिक है। समस्त कृष्णभक्ति के प्रेमपरक भक्तिशब्द के परिवेश में हिंदी साहित्य के संबद्धवाङ्मय को रखकर व्यापक दृष्टि से और नूतन परिप्रेक्ष्य में देखने का महत्वपूर्ण कार्य लेखक ने किया है इससे साहित्यिक दृष्टि के अनुशीलकों के संमुख अध्ययन की हिंदी में नई दिशा का संकेत मिलता है। अतः शोधकर्ता बधाई का पात्र है और ग्रंथ स्वागतार्ह।

करुणापति त्रिपाठी

भाषा[1]—(त्रैमासिक पत्रिका) द्विवेदी स्मृति अंक।

भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय के केंद्रीय हिंदी निदेशालय द्वारा प्रकाशित त्रैमासिक पत्रिका 'भाषा' का द्विवेदी स्मृति अंक बड़ी सजधज के साथ सामने आया है। आचार्य द्विवेदी के महान् व्यक्तित्व और व्यापक कृतित्व को ग्यारह भागों में विभक्त करके प्रत्येक पर हिंदी के कृती साहित्यकारों द्वारा लिखे लेख और निबंध प्रस्तुत किए गए हैं। इस अंक द्वारा आचार्य द्विवेदी जी के व्यक्तित्व के परिचय के साथ ही साथ उनकी साहित्याराधना तथा भाषा और साहित्य विषयक उनके सिद्धांतों की संक्षिप्त किंतु अच्छी जानकारी मिल जाती है। द्विवेदी जी के चित्रों एवं हस्तलेखों का इसमें मूल्यवान संग्रह है।

इस महत्त्वपूर्ण अंक में खटकनेवाली बात मुद्रणशोधन की है। यत्र तत्र पृष्ठ की भूलें विशेष कष्टकर हैं। पत्रिका में संपादक या संपादक मंडल का कहीं उल्लेख न होना भी पाठक का ध्यान आकृष्ट करता है।

निश्चय ही यह महत्वपूर्ण अंक द्विवेदी जी के जीवन एवं कृतित्व के संबंध में अपनी गरिमापूर्ण सामग्री के संबंध एक स्थायी संग्रहणीय कारण संदर्भ ग्रन्थ है।

ड्यूटी मुस्कराने को[2]

इस पुस्तक में लेखक की पंद्रह कहानियाँ संगृहीत हैं। प्रत्येक कहानी लेखक की गहरी

---

१. भाषा—त्रैमासिक, हिंदी निदेशालय दिल्ली द्वारा प्रकाशित

२. ले० रामकुमार भ्रमर। प्र० सहयोगी प्रकाशन मोदी नं० ३ सीतावडी, नागपुर। मू० ४.००। आकार—डबल क्राउन। पृ० ३५।

अनुभूति और चिंतन पद्धति को स्वाभाविक ढंग से सामने रखती है। लेखक की समाज विषयक चेतना सर्वत्र समान रूप से उद्बुद्ध मिलती है। वह पाठक को कल्पना के मनोरंजक वातावरण में भरमाने की जगह उसे समाज की वास्तविकताओं से परिचित कराना अपना कर्त्तव्य समझता है। अपने उद्देश्य में लेखक बहुत कुछ सफल हुआ है। लेखक की कहानियाँ विषय व सुची-दृष्टि से भी नवीन चेतना से ही दीप्त है।

भोजपुरी कहानियाँ[1]

भोजपुरी बोली की अभिव्यक्ति क्षमता किसी विद्वान से छिपी नहीं हैं। विदेशीय और भारतीय विद्वानों ने इसका समान रूप से समर्थन किया है। इधर थोड़े ही दिनों में उसमें लिखित साहित्य भी प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुआ है। अतः इस बोली में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन अनिवार्यतः आवश्यक है। काशी से प्रकाशित भोजपुरी कहानियाँ इसी उद्देश्य को दृष्टि में रखकर सामने आई है। भोजपुरी समाज का सुंदर और स्वाभाविक चित्रण उसकी अपनी भाषा में विशेष समीचीनता से प्रस्तुत हुआ है। बहुत से लोग अब तक भोजपुरी को काव्य की बोली ही समझे बैठे थे। उन्हें इसमें गद्य प्रस्तुत कर रखने की क्षमता का अभाव दिखाई पड़ता था। यह पत्रिका इस भ्रम का निरावरण करने में सर्वथा समर्थ है। प्रत्येक सहृदय इस पत्रिका का स्वागत करते हर्ष का अनुभव करेगा।

सुधाकर पांडे

समीक्षार्थ प्राप्त

प्रेमविजय—ले० सेठ गोविंददास। प्र० भारतीय विश्व प्रकाशन, दिल्ली। मूल्य रु० २'५०, पृ० १५४, क्राउन। बाणासुर की कथा पर प्रबन्धकाव्य।

पत्र पुष्प—ले० सेठ गोविंददास। प्र० भारतीय विश्व प्रकाशन, दिल्ली। मूल्य रु० १'५७ पृ० ९४, क्राउन, स्फुट काव्यसंग्रह।

पत्र-लेखन-कला—ले० बनारसी दास चतुर्वेदी, हरिशंकर शर्मा। प्र० आत्माराम एंड संस, दिल्ली। मूल्य रु०० '७५ पृ० ४६ डिमाई।

पंछी जाल अहेरी—ले० अनंत। प्र० विश्वास प्रकाशन, कलकत्ता—७, मूल्य रु० २'०० पृ० ६२, कवितासंग्रह।

हैमवती उमा—ले० हरिमोहन मिश्र। प्र० साहित्यालय, आलमनगर (सहरसा) मूल्य रु० १'०० पृ० ४८, क्राउन, केन उपनिषद पर आधारित हिंदी और अंग्रेजी में आध्यात्मिक काव्य।

पी कहाँ—ले० परमहंस मिश्र 'हंस'। प्र० 'हंस', मानसरोवर, मलय नगर, बलिया मूल्य रु० १'५० पृ० ८८, क्राउन, खंडकाव्य।

वंशी तुम धर दो—ले० जीवन शुक्ल। प्र० मुकुट मनोज प्रकाशन, इलाहाबाद, मूल्य रु० ३'००, पृ० ८८, क्राउन, काव्यसंग्रह।

जयघोष—ले० डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'। प्र० साहित्यलोक प्रकाशन भरतपुर। मूल्य रु० २'००, पृ० १०४, क्राउन, काव्यसंग्रह।

कवितामयी—ले० हरिमोहन मिश्र। प्र० साहित्यालय, आलमनगर (सहरसा) मूल्य रु० २'००, पृ० ७८, क्राउन, कवितासंग्रह।

नेहरू जी की सूक्तियाँ—संकलन कर्ता—गोविंद सिंह। प्र० हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, काशी, मूल्य रु० १'०० पाकेट बुक, पृ० १३२, संकलन।

क्रांतिकारी कवि निराला—ले० डा० बचन सिंह। प्र० नंदकिशोर एंड संस, काशी, मूल्य रु० ५'००, पृ० २४२, क्राउन, समीक्षा।

महामानव निराला कृतित्व एवं व्यक्तित्व—ले० सत्यनारायण दूबे 'शरतेंदु'। प्र० नवयुग पुस्तक भंडार लखनऊ। मूल्य रु० २'००, पृ० ९५, क्राउन, समीक्षा।

सूझबूझ की कहानियाँ—प्रकाशक—राजपाल एंड संस, दिल्ली। मूल्य रु० ०'७५ पृ० ३२, बालोपयोगी।

रोग दानव से युद्ध—ले० डा० इंद्रसेन वर्मा। प्र० राजीव प्रकाशन, आगरा। मूल्य रु० १'५०, पृष्ठ ९६, डिमाई। स्वास्थ्य।

---

१. संपादक—स्वामीनाथ सिंह, प्रकाशन भोजपुरी संसद, जगतगंज, वाराणसी।

हमारे देश की नदियाँ—ले० भूपेन्द्रनाथ सान्यास। प्र० नेशलन पब्लिशिंग हाउस दिल्ली। मूल्य रु० २·५०, पृ० १०६, डिमाई, भारतीय नदियों का सरल परिचय।

भारत की महान नारियाँ—ले० सावित्री देवी वर्मा। प्र० चंद्र प्रकाशन आगरा। मूल्य रु० १·२५, पृ० ८२, डिमाई।

विश्व और भारत—ले० आनिल्ड टॉयनबी, अनु० पद्मसिंह शर्मा 'कमलेश'। प्र० प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसार मंत्रालय, भारत सरकार। मूल्य रु० ०·७५ पृ० ६४। आजाद स्मारक भाषण माला के व्याख्यान।

विद्यापति—ले० कुँवर सूर्यबली सिंह, लाल देवेंद्र-सिंह, सं० पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, प्रकाशक—नंदकिशोर ऐंड संस, काशी। मूल्य रु० ३·५० पृ० २००, क्राउन, समीक्षा।

हिंदी काव्य में नारी का प्रतिबिंब—ले० ईश्वर चंद्र शर्मा। प्र० हरगोविंद जी धर्ममी, ३५ मिरजा स्ट्रीट, बम्बई—३। मूल्य रु० २·००, पृ० १३६, क्राउन। समीक्षा।

पनघट रहा उदास—ले० शिवकुमार। प्र० हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, काशी। मूल्य रु० ३·००, पृ० २७०, डिमाई, काव्यसंग्रह।

नीम की छाँह पका धान और उलझन—ले० मानिक बच्छावत। प्र० अमिताभ प्रकाशन, कलकत्ता। मूल्य रु० ६·००, पृ० ३७२, डिमाई, काव्यसंग्रह।

स्वर संगम—सं० दुर्गेश एम० ए०। प्रकाशक साहित्यायन प्रकाशन, प्रयाग। मूल्य रु० ३·००, पृ० १२८, डिमाई। प्रयाग के कवियों की कविताओं का संग्रह।

दिग्वधू—ले० राजेंद्र प्रसाद सिंह। प्र० मधुरिमा साहित्य प्रकाशन, मुजफ्फरपुर। मूल्य रु० २.२५, डिमाई आकार के, ७२ पृष्ठ, काव्यसंग्रह।

गौरव गान—ले० डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'। साहित्यलोक प्रकाशन भरतपुर। मूल्य रु० १.००, क्राउन, आकार के ६८ पृष्ठ, काव्यसंग्रह।

श्री सूरदास मदनमोहन जी की वाणी—संग्रहकर्ता—बाबा कृष्णदास जी, प्र० ब्रजवासी पुस्तकालय, वृंदावन, मूल्य रु० ०.७५ क्राउन आकार के ७२ पृष्ठ, स्फुट-काव्यसंग्रह।

प्रेमांजलि—ले० रावत हिम्मत सिंह। प्र० साहित्य रत्न भंडार, आगरा। मूल्य रु० १.०० क्राउन आकार के ८२ पृष्ठ, काव्य।

करील कुंज—ले० वासुदेव गोस्वामी। प्र० गोस्वामी पुस्तक सदन, लश्कर। मूल्य रु० १.०० क्राउन आकार के ७२×८ पृष्ठ, ब्रजभाषा-कविता-संग्रह।

उदीची—ले० ब्रह्मदेव। प्र० सुजाता प्रकाशन, मैगरा, गया। मूल्य रु० ०.८५, क्राउन आकार के ३६ पृष्ठ, गद्यगीति संग्रह।

गांधी बनूँगा—ले० डा० रामगोपाल शर्मा 'दिनेश'। प्रका० साहित्यलोक प्रकाशन भरतपुर। मूल्य रु० १.००, क्राउन आकार के ३२ पृष्ठ, बालकों के लिये कविता।

सद्गुरु कबीर—सं० डा० गुलबदन बिहारी। प्रकाशक डा० गुलबदन बिहारी, अहरौरा, मीरजापुर। मूल्य रु० ४.००, क्राउन आकार के ४१६ पृष्ठ, कबीर की समीक्षा और संग्रह।

बौद्धधर्म के २५०० वर्ष—सं० पी० वी० बापट। प्र० पब्लिकेशंस डिवीजन, ओल्ड सेक्रेटेरियट दिल्ली। ८, मूल्य रु० ३.०० डिमाई आकार के २६० पृष्ठ, आजकल का वार्षिक अंक दिसंबर १९५६।

राष्ट्रीय आंदोलन का इतिहास—ले० मंमथनाथ गुप्त। प्र० सुशील प्रकाशन दिल्ली। मूल्य रु० १.२५, डिमाई आकार के ९० पृष्ठ, राष्ट्रीय आंदोलन का अत्यंत संक्षिप्त और सरल इतिहास।

अंतर्ध्वनि—ले० 'साथी'। प्र० यदुनंदन प्रसाद, साइंस बुकडिपो, चौक बाजार मुंगेर। मू० रु० १.७५, क्राउन आकार के ५४ पृष्ठ, गद्यगीतों का संकलन।

मानस मणि—ले० स्वामीनाथ शर्मा। प्र० लाखाणी बुकडिपो, बंबई–४, मू० रु० २.२५, क्राउन आकार के ११८ पृष्ठ, निबंध-संग्रह।

परमवीर—ले० नारायण सिंह भाटी। प्र० कलावतार पुस्तक मंदिर, जोधपुर। मू० रु० २.५०, क्राउन आकार के ६० पृष्ठ, परमवीर चक्र प्राप्त मेजर शैतान सिंह के प्रति राजस्थानी में श्रद्धांजलि काव्य। साथ ही गद्य में अर्थ भी।

श्री अरविंद चरितामृत—ले० भुवनेश्वर मिश्र 'माधव'। प्र० श्री अरविंद सोसायटी श्री अरविंद आश्रम, पांडिचेरी–२, मू० रु० ५.०० क्राउन आकार के २४६ पृ०, महर्षि अरविंद का जीवनचरित।

श्रीकृष्ण विरह पत्रिका—ले० 'श्री वनमाल'। प्र० वृजवासी पुस्तकालय, वृन्दावन। मू० रु० १.२५ क्राउन आकार के १०६ पृष्ठ, स्फुटकाव्य।

श्री राधासुधा शतक—ले० हठी जी। प्र० वृजवासी पुस्तकालय, वृंदावन मू० रु० ०.३७, क्राउन आकार के ४० पृष्ठ, स्फुट-काव्य।

जयसिंह विरदावली—सं० पं० रविशंकर देराश्री। प्र० हिंदूपत प्रेस, राघोगढ़। मू० रु० ०.५० क्राउन आकार के २६ पृष्ठ, प्रताप शाही रचित प्रशस्ति काव्य।

बिहार की साहित्यिक प्रगति—प्रकाशक–बिहार हिंदी साहित्य संमेलन, पटना। मू० रु० १२.००, डिमाई आकार के ३६० पृष्ठ, बिहार हिंदी साहित्य संमेलन के प्रथम से पच्चीसवें अधिवेशन तक के सभापतियों के अभिभाषण।

व्यक्ति और विचार—ले० चंद्रभानु गुप्त। प्र० एस० चंद एंड कंपनी नई दिल्ली। मू० रु० ४.५०, क्राउन आकार के २३८ पृष्ठ, विभिन्न विषयों पर लेखक के संक्षिप्त विचार।

चिन्तन और कला—ले० जयनाथ 'नलिन'। प्र० भारतीय साहित्य मंदिर, दिल्ली। मू० रु० ३.५० क्राउन आकार के १७२ पृष्ठ, विभिन्न विषयों पर लेखक के निबंधों का संग्रह।

लेखन व्यवसाय—ले० नरोत्तम व्यास। प्र० रामकली प्रकाशन, बंबई–१२। मूल्य रु० २.०० क्राउन आकार के ८८ पृष्ठ, व्यावसायिक लेखनकला।

विश्वविज्ञान—ले० हरिशरणानंद वैद्य। प्र० आयुर्वेद विज्ञान ग्रंथमाला कार्यालय, अमृतसर। मू० रु० ३.०० क्राउन आकार के २१६×८ पृष्ठ खगोल, भूगोल, तथा पदार्थों का परिचयात्मक वर्णन।

भारतीय समाज विमर्श—ले० भगीरथ प्रसाद दीक्षित। प्र० गिदन साहित्यमंदिर लखनऊ। मू० रु० ४.००, क्राउन आकार के २८० पृष्ठ, भारतीय समाज के विकास और प्रसार का ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचन।

सुरा, सुंदरी, संपदा—ले० नरोत्तम व्यास। रामकली प्रकाशन, मुरादाबाद। मूल्य रु० २.०० क्राउन आकार के १३० पृष्ठ, प्रतीकात्मक उपन्यास।

मुंजाल—ले० कमल शुक्ल। प्र० नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। मूल्य रु० १.५० क्राउन आकार के ८४ पृष्ठ, लेखक के अनुसार ११ से १५ वर्ष के बालकों के लिये लिखा गया उपन्यास।

महाश्रमण सुनें! उनकी परंपरायें सुनें!! ले० कृष्ण चंद्र शर्मा 'भिक्खु'। प्र० भारतीय ज्ञानपीठ, काशी। मूल्य रु० २.२५ क्राउन आकार के १०६ पृष्ठ, गौतम पुत्र राहुल के जीवन पर लिखा गया उपन्यास।

कृष्णदास—सं० गो० श्री ब्रजभूषण शर्मा। प्र० पं. कण्ठमणि शास्त्री, अष्टछाप स्मारक समिति, कांकरौली। मू० रु० १०.०० डिमाई आकार के ४७०×४६ पृ०, अष्टछाप के कवि कृष्णदास के पदों का संग्रह और उनकी समीक्षा।

गाँव की ओर—ले० रामवचन द्विवेदी 'अरविंद'। प्र० सुलभ साहित्य सदन, पटना १। मूल्य रु० २.५० क्राउन आकार के ११२+८ पृष्ठ, भोजपुरी कविताओं का संग्रह।

काव्य का देवता निराला—ले० विश्वम्भर 'मानव' लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद —१ मूल्य रु० ४.५० क्राउन आकार के २३२ पृष्ठ, निराला के व्यक्तित्व और कृतित्व की समीक्षा।

शकुन्तला-नाटक—संपादक–नर्मदेश्वर चतुर्वेदी। प्र० परिमल प्रकाशन प्रयाग—२। मूल्य रु० १.५०, क्राउन आकार के ७४ पृष्ठ। नेवाज की इस कृति का संपादित संस्करण।

लखन सेन पद्मावती कथा— संपादक नर्मदेश्वर चतुर्वेदी। प्र० परिमल प्रकाशन प्रयाग—१ मूल्य रु० १.२५, क्राउन आकर के ५२ पृष्ठ, दायो की इस कृति का संपादित संस्करण।

नंददास जी की गोपीभक्ति—सं० प्रयागदत्त शुक्ल। प्र० प्रयाग दत्त शुक्ल, संयोजक नाग कौशल साहित्यकार संगम टेकड़ी रोड, नागपुर—१। मूल्य नहीं दिया है। क्राउन आकार के ४४ पृष्ठ, नंददास के भ्रमरगीत का संपादित संस्करण।

सुन्दर चित्र काव्य—ले० रामसुंदरदास। प्र० बंधु प्रकाशन, तिवारीपुर, दुबावल, इलाहाबाद। मूल्य रु० १.५० क्राउन आकार के १०० पृष्ठ। आधुनिक काल में रचित चित्रकाव्य।

मलय—ले० श्रीकृष्ण दास। राजकमल प्रकाशन दिल्ली। मूल्य रु० २.००, डिमाई आकार के ८२ पृष्ठ, मलय राज्य संघ का भौगोलिक एवं सामाजिक परिचय।

विनोबा के साथ सात दिन—ले० श्री मन्नारायण। प्र० सस्साहित्य प्रकाशन, दिल्ली मूल्य रु० ०.५० क्राउन आकार के ६२ पृष्ठ, भूदान यात्रा के प्रसंग में विनोबा के संस्करण।

परमाणु शक्ति—ले० रत्नसिंह गिल। प्र० नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली। मूल्य रु० १.५०, डिमाई आकार के ४८ पृ०, परमाणुशक्ति का सरल वर्णन।

सूर्योदय का देश—ले० काका साहब कालेलकर।

अनु०—उमा अग्रवाल।
प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद। क्राउन आकार के २२० पृष्ठ, मूल्य रु० २.५०, लेखक की जापानयात्रा का वर्णन।

मंगल प्रभात—ले० गांधी जी।
अनु० अमृतलाल ठाकोर दास नाणावटी प्र० नव जीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। क्राउन आकार के ७६ पृष्ठ, मूल्य रु० ०.३७, यरवडा जेल से नैतिक विचारों पर गाँधी जी द्वारा लिखे गये पत्रों का संग्रह।

पंचायत राज—संग्राहक, आर० के० प्रभु— प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर।
क्राउन आकार के ४२ पृष्ठ, मूल्य रु० ०.३०, गाँधीजी के पत्रों तथा लेखों आदि से तद्विषयक उद्धरणों का संकलन।

सर्वोदय—ले० गाँधी जी।
अनु० अमृतलाल ठाकोर दास नाणावटी प्रकाशक—नवजीवन प्रकाशन मंदि,र अहमदाबाद।
क्राउन आकार के ४० पृष्ठ, मूल्य रु० ०.३५, रस्किन के 'अन्टु दिस लास्ट' के आधार पर गाँधीजी द्वारा लिखे गये लेख का अनुवाद।

आश्रम जीवन—ले० गाँधी जी।
प्रका० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अदमदाबाद। क्राउन आकार के ७२ पृष्ठ, मूल्य रु० ०·७५, यारवडा मंदिर से भेजे हुए पत्र-प्रवचन।

हिंद स्वराज्य—ले० गाँधी जी। अनु अमृतलाल ठाकोरदास नाणावटी। प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद। क्राउन आकार के ९२ पृष्ठ का मूल्य रु० ०.७०।

मेरा धर्म—संपादक भारतन कुमरप्पा। प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। क्राउन आकार के २०४ पृष्ठ, मूल्य रु० २.००, गाँधीजी के भाषणों और लेखों से उनके धार्मिक विश्वासों को व्यक्त करनेवाले अंशों का संकलन।

स्त्रियाँ और उनकी समस्याएँ—संपादक— भारतन कुमारप्पा, प्र० नवजीवन प्रकाशन-मंदिर, अहमदाबाद. क्राउन आकार के

१२४ पृष्ठ रु० १.०० गाँधीजी के भाषणों और लेखों आदि से तद्विषयक उद्धरणों का संकलन।

गीताबोध—ले० गाँधीजी—अनुवादक अमृत लाल ठाकोरदास नाणावटी। प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। क्राउन आकार के ७२ पृष्ठ, मूल्य रु० ०.५०।

कुदरती उपचार—संपादक-भारत कुमारप्पा ने प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। क्राउन आकर के ८८ पृष्ठ, मू० रु० ०.८०, गाँधीजी के भाषणों और लेखों आदि से तद्विषयक उद्धरणों का संकलन।

संयम और ब्रह्मचर्य—ले० केदारनाथ, प्रका० नवजीवन प्रकाशक मंदिर, अहमदाबाद। क्राउन आकार के १६ पृष्ठ, मू० रु० ०.२५।

गृहस्थाश्रम की दीक्षा—ले० केदारनाथ। प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। क्राउन आकार के १३ पृष्ठ, मूल्य रु० ०.२५।

शांति निकेतन की यात्रा—ले० प्यारेलाल। प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, क्राउन आकार के ३२ पृष्ठ, मू० रु० ०.३५, गाँधीजी की शांतिनिकेतन की यात्रा का वर्णन।

आधुनिक जगत् में गाँधी जी की कार्य-पद्धतियाँ—ले० प्यारेलाल। अनु० रामनारायण चौधरी। प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। क्राउन आकार के ६० पृष्ठ, मूल्य रु० १.००।

यवरडा के अनुभव—ले० गाँधी जी। अनु० रामनारायण चौधरी। प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। क्राउन आकार के १०८ पृष्ठ, मूल्य रु० १.००, यरवडा जेल के संस्मरण।

मोहन माला—संग्राहक आर० के० प्रभु। अनु० सोमेश्वर पुरोहित। प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। क्राउन आकार के १२८ पृष्ठ, मू० रु० १.२५, गाँधी जी के लेखों और भाषणों से प्रति दिन के भजन के लिये चुने हुए विचार।

बापू के पत्र कुसुम बहन देसाई के नाम—संपादक-बाबा साहब कालेलकर। अनु० राम नारायण चौधरी। प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। क्राउन आकार के १०८ पृष्ठ, मूल्य रु० १.२५

बापू के पत्र मणिबहन पटेल के नाम—संपादिका-मणिबहन पटेल। अनु० रामनारायण चौधरी। प्रका० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, क्राउन आकार के १६८ पृष्ठ, मूल्य रु० १.५०।

बापू के जीवन प्रसंग—ले० मनुबहन गाँधी। अनु० सोमेश्वर पुरोहित। प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। क्राउन आकार के ५६ पृष्ठ, मूल्य रु० ०.५०।

विचार दर्शन दूसरा भाग—ले० केदार नाथ। संपादक रमणीक लाल मगन लाल मोदी। प्रका० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। क्राउन आकार के १४८ पृ०, मूल्य रु० १.५०, अध्यात्म, नीति और साधना पर लेखक के विचार।

विद्यार्थी मित्रों से—ले० केदारनाथ, प्रका० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, क्राउन आकार के २४ पृ०, मू० रु० ०.३५। विद्यार्थी जीवन की विवेचना।

गीता मंथन—ले० कि० घ० मशरूवाला। अनु० खुशालसिंह चौहान, प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद। क्राउन आकार के ३३६ पृष्ठ, मूल्य रु० ३.००, गीता की व्याख्या।

आत्मकथा—ले० गाँधी जी, अनु० काशी नाथ त्रिवेदी, प्रका० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, क्राउन आकार के ४४० पृष्ठ मू० रु० १.५०।

अहिंसा का पहला प्रयोग—ले० गाँधी जी। संक्षेपण-वनमाला देसाई, प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, क्राउन आकार के १४४ पृष्ठ मू० रु० १.५०।

बापू के पत्र कुमारी प्रेमा बहन कंटक के नाम—संपादक-काका साहब कालेलकर, प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद,

क्राउन आकार के ४१६ पृष्ठ, मूल्य रु० ४.००,

बापू की कलम से—संपादक—काकासाहब कालेलकर। प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद, क्राउन आकार के ४५६ पृष्ठ, मू० रु० २.५०।

आत्मरचना अथवा आश्रमी शिक्षा, तीन भाग—ले० जुगतराम दूबे, अनु० रामनारायण चौधरी, प्रका० नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद।

प्र० भा० डिमाई आकार के १२४ पृ० मू० रु० १.५०।

दू० भा० डिमाई आकार के १३६ पृ० मू० रु० १.५०।

ती० भा० डिमाई आकार के १५६ पृ० मू० रु० १.५०।

आश्रमवास के सिद्धांत, आचार, और, अंतर श्रद्धायें।

आर्थिक और औद्योगिक जीवन—संपादक ही० वी० खेर। प्रका० नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद—१४। डिमाई आकार के २०० पृ०, मू० रु० ४.००, आर्थिक और औद्योगिक जीवन पर गाँधी जी की रचनाओं का संपादित संकलन।

सरदार की अनुभव वाणी—संपादक-मुकुल भाई कलार्थी, अनु० सोमेश्वर पुरोहित, प्र० नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद, क्राउन आकार के १०८ पृ०, मू० रु० १.००, सरदार पटेल के बोधप्रद वचनों का संग्रह।

नमक के प्रभाव से—ले० काकासाहब कालेलकर। अनु० नरेश मंत्री। प्रका० नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद, क्राउन आकार के १४८ पृ०, मू० रु० १.५०, गाँधी जी के साथ यरवडा जेल के संस्मरण।

विवेक और साधना—मूल गुजराती लेखक—केदार नाथ, अनुवादक रामनारायण चौधरी, संपादक किशोरलाल ध० मशरूवाला रमणीक लाल म० मोदी, प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद—१४। क्राउन आकार के ३४६ पृ० मूल्य ४ रुपये धर्म, नीति, अध्यात्म और साधना संबंधी लेखक की अनुभूतियां और विचार।

बापू की छाया में—लेखक एच० एल० शर्मा, नेचरोपैथ, प्रकाशक ईश्वरशरण आश्रम, प्रयाग, क्राउन आकार के ३९६ पृष्ठ मू० १५ रुपये गाँधी जी के संस्मरण।

ऐसे थे बापू—संग्राहक-आर० के० प्रभु। प्रकाशक-नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद—१४। क्राउन आकार के १६० पृष्ठ, मूल्य १.७५ पैसे, गाँधी जी के जीवन-प्रसंग।

जीवन का पाथेय—संपादक मगन भाई डो० पटेल, प्रकाशक नवजीवन प्रकाशन मंदिर अहमदाबाद, क्राउन आकार के ७४ पृष्ठ, मूल्य ०.५० पैसे, श्री रविशंकर महाराज के प्रवास प्रवचनों से संकलित उपदेशात्मक अंश।

शाकाहार की नैतिक आधार
पृ० सं० ३६ मू० ०·२५ पैसे

विश्वशांति का अहिंसक मार्ग
पृ० सं० ५६ मू० ०·४० पैसे

समाज में स्त्रियों का स्थान और कार्य
पृ० सं० ४० मू० ०·२५ पैसे

साम्यवाद और साम्यवादी
पृ० सं० २८ मू० ०·२० पैसे

सहकारी खेती
पृ० सं० १८ मू० ०·२० पैसे

संरक्षकता का सिद्धांत
पृ० सं० ४४ मू० ०·३० पैसे

भारत की खुराक की समस्या
पृ० सं० ६८ मू० ०·५० पैसे

शराबबंदी होनी चाहिये
पृ० सं० २८ मू० ०·२५ पैसे

भारत के नये राज्य
पृ० सं० ३६ मू० ०·३५ पैसे

कांग्रेस और उसका भविष्य
पृ० सं० ५२ मू० ०·४० पैसे

हड़तालें
पृ० सं० २८ मू० ०·३० पैसे

सभा की प्रगति

(वैशाख—आश्विन, सं० २०२१ वि०)

वार्षिक अधिवेशन : निर्वाचन

सभा का ७१ वाँ वार्षिक अधिवेशन २० वैशाख, सं० २०२१ वि० को हुआ जिसमें संवत् २०२१ से २०२३ तक के लिए सभा के निम्नांकित कार्याधिकारी और प्रबंध समिति के सदस्य चुने गए :

कार्याधिकारी

(सं० २०२१–२३ वि०)

(१) सभापति—मान० श्री पं० कमलापति जी त्रिपाठी
(२) उपसभापति—१—श्री डा० वेणीशंकर जी झा
(३) उपसभापति—२—श्री सहदेव सिंह जी
(४) प्रधान मंत्री —श्री पं० शिवप्रसाद जी मिश्र 'रुद्र'
(५) साहित्य मंत्री —श्री प० करुणापति जी त्रिपाठी
(६) अर्थ मंत्री — श्री मोहकमचंद जी मेहरा
(७) प्रकाशन मंत्री —श्री पं० सुधाकर जी पांडेय
(८) प्रचार मंत्री —श्री पं० सहदेव प्रसाद जी पाठक
(९) संपत्ति निरीक्षक—श्री पं० श्रीशचंद्र जी शर्मा
(१०) पुस्तकालय निरीक्षक—श्री चौ० शुकदेव सिंह जी

प्रबंध समिति के सदस्य

(सं० २०२१–२३ वि०)

श्री प्रतापनारायण सिंह, काशी । श्री डा० रामेश्वर सिंह जी चौधरी, काशी । श्री लक्ष्मीकांत जी गुप्त, काशी । श्री सिद्धनाथ सिंह जी, काशी । श्री देवी नारायण जी काशी । श्री दुर्गा प्रसाद जी रस्तोगी 'आदर्श' उत्तर प्रदेश । श्री डा० हरवंश लाल जी शर्मा, उत्तर प्रदेश । श्री महाराजकुमार डा० रघुवीर सिंह जी, अन्य प्रदेश । श्रीमती निर्मल जी तालवार, अन्य प्रदेश । श्री पं० नंददुलारे जी वाजपेयी, अन्य प्रदेश । श्रीमंत सेठ गोविंददास जी, अन्य प्रदेश ।

उपर्युक्त वार्षिक अधिवेशन के अनंतर हुई साधारण सभा में सभा के संविधान के द्वितीय अधिकरण की धारा ५ (८), ६ (१)—ख तथा ६ (४)—क

के अनुसार प्रबंध समिति के रिक्त स्थानों की पूर्ति होने पर संवत् २०२१ तथा संवत् २०२१-२२ के लिये प्रबंध समिति के निम्नांकित सदस्य चुने गए:

(संवत् २०२१ तक)

श्री कृष्णदेव प्रसाद जी गौड़, काशी। श्री डा० भोलाशंकर जी व्यास, काशी। श्री डा० उमाशंकर सिंह जी, काशी। श्री पं० हनुमान प्रसाद जी शर्मा, काशी। श्री राजकुमार जी, काशी। श्री जयनाथ जी शर्मा, उत्तर प्रदेश। श्री पं० लक्ष्मीनारायण जी मिश्र, उत्तर प्रदेश। श्री अशोक जी, अन्य प्रदेश। श्री प्रो० नार्मन ब्राउन, विदेश। श्री डा० आर० एल० टर्नर, विदेश। श्री प्रो० जी० टुच्ची, विदेश।

(संवत् २०२२ तक)

श्री श्रीनाथ सिंह जी, काशी। श्रीमती पद्मावती 'शबनम', काशी। श्री पं० शिवनंदन लाल जी दर, काशी। श्री डा० त्रिभुवन सिंह जी, काशी। श्री पं० रामबालक जी शास्त्री, काशी। श्री ठा० शिवकुमार सिंह जी (संस्थापक, आजीवन)। श्री मैथिलीशरण जी गुप्त उत्तर प्रदेश। श्री त्रिभुवननारायण सिंह जी, अन्य प्रदेश। श्री पं० प्रभात जी शास्त्री, उत्तर प्रदेश। श्री डा० राजबली जी पांडेय, अन्य प्रदेश। श्री सीताराम जी सेकसरिया, अन्य प्रदेश। श्री पं० रामेश्वर जी शुक्ल 'अंचल' अन्य प्रदेश।

राज भाषा

हिंदी-भाषा-भाषी प्रदेशों अर्थात् बिहार, राजस्थान, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश की सरकारों ने सन् १९४८ ई० में ही हिंदी को अपने अपने प्रदेश की राजभाषा घोषित किया था परंतु तत्काल समस्त राजकाज हिंदी में करने में कई प्रकार की व्यवहारिक कठिनाइयाँ थीं अतः साथ ही यह व्यवस्था की थी कि २६जनवरी, सन् १९६५ तक हिंदी के साथ साथ अंगरेजी का प्रयोग भी चलने दिया जाय। इस वर्ष के आरंभ में ही ऐसे लक्षण दिखाई देने लगे कि २६ जनवरी, सन् १९६५ ई० के बाद भी उपर्युक्त प्रदेशों में अंगरेजी अनंत काल तक बनी रहेगी। सभा ने इस संबंध में लोकमत का प्रतिनिधित्व करते हुए सरकारों से संपर्क स्थापित किया एवं पत्रों के माध्यम से भी संबद्ध सरकारों से यह आग्रह किया कि सन् १९४८ में किए गए निर्णय के अनुसार जनवरी, १९६५ के बाद समस्त राजकाज हिंदी के माध्यम से ही किया जाय। बिहार, राजस्थान और मध्यप्रदेश की सरकारों ने तो इसे शीघ्र ही मान लिया, परंतु ऐसा प्रतीत होने लगा था कि उत्तरप्रदेश की सरकार अंगरेजी को बनाए रखने के लिये कृत संकल्प है। अतएव सभा की प्रबंध समिति ने अपना एक विशेष अधिवेशन ४ भाद्रपद को किया जिसमें बड़े जोरदार शब्दों में हिंदी—

संबंधी उत्तर प्रदेश की नीति का विरोध करते हुए सरकार को यह स्पष्ट सूचित कर दिया कि यदि सन् १९४८ में किए गए निर्णय के अनुसार व्यवस्था न की जायगी तो इस प्रतिगामी रवैये का विरोध सामूहिक और सक्रिय रूप में तो किया ही जायगा, सभा उत्तर प्रदेश की सरकार से अपना कोई संबंध नहीं रखेगी।

इस संबंध में सभा के सभापति माननीय श्री पं० कमलापति जी त्रिपाठी ने प्रादेशिक मुख्यमंत्रिणी श्रीमती सुचेता कृपालानी से साक्षात्कार करके उन्हें वस्तु-स्थिति की सूचना दी और हिंदी के स्वतंत्र प्रयोग के विरुद्ध जो निराधार कठिनाइयाँ बताई जाती थीं उनकी निस्सारता बताते हुए उन्हें उपयोगी और व्यावहारिक सुझाव दिए। प्रसन्नता की बात है कि अंततः हिंदी के स्वतंत्र और निर्बाध प्रयोग का मार्ग निकाल लिया गया। जनवरी १९६५ के पश्चात् इस प्रदेश के राजकाज में उसका तदनुसार व्यवहार होने लगेगा।

आर्यभाषा पुस्तकालय

उक्त अवधि में पुस्तकालय १८४ दिन और वाचनालय १७९ दिन खुला रहा। दैनिक पाठकों के अतिरिक्त शोध छात्र एवं शोधछात्राओं की संख्या ५८ रही। और साधारण सदस्यों की कुलसंख्या ३६३ रही जिसमें २३ की वृद्धि हुई। इस प्रकार ३८६ संख्या रही। इस अवधि में ६ ग्रंथों एवं पाक्षिक और साप्ताहिक पत्रोंकी २७९ जिल्दें बंधकर तैयार हुईं। उक्त अवधि में कुल ४४८ मुद्रितग्रंथ और ११८ हस्तलिखित ग्रंथ (संस्कृत और हिंदी संमिलित) जिसमें हमें ३७६ ग्रंथ मूल्य १०२२.०३० पै०; क्रीत १६ ग्रंथ मूल्य ३६३·७० पै.; परिवर्तन में ५६ ग्रंथ १६२–५० पै० के ग्रंथ पुस्तकालय में आए। पत्र-पत्रिकाओं तथा समाचार पत्रों मूल्य की फाइलें भी प्राप्त हुईं।

पुस्तकालय के १३ साधारण सदस्यों और ३५ शोध छात्र एवं शोध छात्राओं ने अपने नाम कराए। नियमानुसार २४ साधारण सदस्यों की अमानत का जमा खर्च किया गया।

उक्त अवधि में ७लोहे की आलमारियाँ और ४ गोदरेज के रेक नए मँगवाए गए तथा २० टॉड़ दीवालों से लग कर बनवाए गए।

हस्तलिखित ग्रंथों की खोज

इसवर्ष खोज विभाग का कार्य श्री कृष्ण देव प्रसाद जी गौड़ के निरीक्षण में संपन्न हो रहा है।

खोज के संक्षिप्त विवरण का संपादन कार्य इस वर्ष के प्रारंभ में समाप्तप्राय हो गया था। शेष कार्य भी इस अवधि में समाप्त करके द्रुतगति से मुद्रण का कार्य

आरंभ कर दिया गया है। प्रथम भाग का मुद्रण समाप्त हो चुका है, दूसरे भाग प्रकाशन का मुद्रण कार्य भी समाप्तप्राय है। आशा है, शीघ्र ही इस ग्रंथ के दोनों भाग प्रकाशित हो जायेंगे।

५५ वर्षों के इस संक्षिप्त विवरण में ६५६० रचयिताओं और उनके द्वारा लिखित १५८८२ ग्रंथों के उल्लेख हैं। इन ग्रंथों एवं ग्रंथकारों का अवधिकाल १० वीं से लेकर २० वीं शताब्दी तक के अंतर्गत है।

संप्रति त्रैवार्षिक खोजविवरणिकाओं के मुद्रण का कार्य कतिपय वर्षों से अवरुद्ध है। विवृत शोध सामग्री वाली प्रांतीय सरकारों से प्रकाशन अनुदान की प्रार्थना की गई है। १९४३ ई० से लेकर १९५५ तक की त्रैवार्षिक खोज रिपोर्ट संपादित की जा चुकी हैं। प्रकाशन संबंधी अनुदान प्राप्त होते ही संपादित खोजविवरणिकाओं का मुद्रण आरंभ हो जाएगा।

इसवर्ष म० प्र० शासन से गतवर्ष का अनुदान नहीं मिला है। म० प्र० शासन से पत्राचार हो रहा है। अनुदान मिलते ही म० प्र० का शोध कार्य भी आरंभ हो जाएगा। अबतक रीवा, सतना, सीधी, शहडोल पन्ना जिलों का शोध कार्य समाप्त किया जा चुका है। अनुदान अवरुद्ध होने के कारण छतरपुर के छठे जिले का शेष कार्य भी बन्द हो गया है।

इस बीच आर्य भाषा पुस्तकालय में जो नवीन हस्तलेख उपलब्ध हुए हैं उनका विवरण लेने का कार्य चल रहा है। अबतक ४३ रचनाएँ विवृत की गई हैं। जिनकी पत्र सं० २३७३ तथा श्लोक सं० ४२२१२ है। इनका र० का० १८ वीं, १९ वीं शताब्दी है। विवृत ग्रंथों में निम्नांकित ग्रंथ विशेष उपयोगी हैं—

प्रागदास कृत (नषसिष), हंसराज बख्शी (पाती जुगलकिसोर की) (तेरामासी), पजनदास (दानलीला), दयादास (विनयमाला), अंमर दास (भक्तविरदावली), छेमराम (फत्तेप्रकास), भूपति (भागवत १० मस्कंध) (उर्दू प्रति), किसोरदास (गीताभाषा-सचित्र), कृष्णदास (भागवत भाषा १० मस्कंध), अकर्तृक रचना (प्रवीणसागर)।

उत्तर प्रदेश में संप्रति बिजनौर जिले में खोज का कार्य हो रहा है। अभीतक ७८ ग्रंथों के विवरण लिए जा चुके हैं तथा ५४ हस्तलेख सभा को प्राप्त महत्वपूर्ण रचनाएं इस प्रकार हैं :—

जादौराम कृत तुलसी चरित्र; किशन चंद कृत (महाभारत-येषीक पर्व); रामचंद कृत चौबीस तीर्थंकर पूजा, मल्लिषेण कृत (सज्जन चित्त वल्लभ); भैरव नाथ कृत चंडी चरित्र; ज्ञानदास कृत भगवद गीता भाषा; कवितरंग कृत तिब्बसहावि; फूलसिंह कृत (भजन सहलोत्रना; प्रकाशित); छज्जूराम कृत (भजन जनकपुर);

विष्णुदास कृत रुक्मिणी मंगल; नवरंगलाल कृत नेमचंद्रिका; भुनक लाल कृत नेमनाथ जी का ब्यहला; रामसिंघ कविराज कृत पिंगलमंजरी। विवृत रचनाएं १८ वीं, १९ वीं शताब्दियों में निर्मित की गई थीं।

बिजनौर से निम्नांकित ग्रंथ सभा को संग्रहार्थ सुलभ हुए हैं :

क. सं.	ग्रंथ	ग्रंथकार	लि० का०	पत्र	भाषा
१	सांगीत अयोध्याकांड	सीताराम ब्राह्मण	१९४० वि०	७१	हिंदी
२	तुलसी चरित्र	जादौराम	१९४४ वि०	१०	,,
३	रामरक्षा स्तोत्र	×	×	६	संस्कृत
४	देविमाहात्म्य	×	१९३१ वि०	१४४	,,
५	भगवत्कीलकं	हरिहर ब्रह्म	×	१४	,,
६	पंचमंगल	रूपचंद	×	४	हिंदी
७	पार्श्वनाथजी की पूजा	×	×	४	,,
८	देवपूजा	×	×	१२	,,
९	बीसविरहमान पूजा	×	×	१	संस्कृत
१०	चौबीसतीर्थंकरपूजा	रामचंद्र	×	३	हिंदी
११	शांतिनाथजी की पूजा	×	×	२	संस्कृत
१२	अकृत्यचैत्यालोक की पूजा	×	×	२	,,
१३	मुनिसुव्रत की पूजा	चंदराम	×	५	हिंदी
१४	सिद्ध की पूजा	×	×	३	संस्कृत
१५	देवपूजा विधान	×	×	३	,,
१६	भक्तामरस्तोत्र	मानतुंगाचार्य(मूलकार)	×	५	,,
१७	नेमिनाथ के छंद	×	×	४	हिंदी
१८	निर्वाणकांड (भाषा)	×	×	२	,,
१९	परमजोति	बनारसी	×	४	,,
२०	सिष्यापंचासिका	द्यानत	×	४	,,
२१	बाईस परीसह	×	×	४	,,
२२	राजुलपच्चीसी	लाल विनोदी	×	७	,,
२३	राजुल की बारामासी	,,	×	५	,,
२४	भक्तामर भाषा	×	×	४	,,
२५	तिव्वसहावी	कवितरंग	×	१४	,,
२६	कीलीविधि	×	×	५	,,
२७	रामायण (बालकांड)	गो० तुलसीदास	१९३७ वि०	१३	,,

२८	रामायण (उत्तरकांड)	,,	,,	५०	,,
२९	भजनसहूलोचना(प्रका०)	फूलसिंह	१९६० वि०	२३	,,
३०	गंगालहरी	पं० राज जगन्नाथ	१९३२ वि०	१८	संस्कृत
३१	भगवद्गीता भाषा	×	×	६०	हिंदी
३२	नाम उपदेश ?	×	×	१५	,,
३३	दानलीला	रामकिशन ?	×	२	,,
३४	शिवनामावली स्तोत्र	शंकराचार्य	१९४० वि०	६	संस्कृत
३५	विष्णुसहस्रनाम स्तोत्र	×	×	४५	,,
३६	गोपाल पटलम्	×	×	३७	,,
३७	चौबीस गायत्री	×	×	३५	,,
३८	विष्णुपंजर स्तोत्र	×	×	१०	,,
३९	नारदगीता	×	×	१०	,,
४०	रामरतास्तोत्र	विश्वामित्र	×	१२	,,
४१	सप्तश्लोकी गीता	×	×	३	,,
४१	सूरसागर	सूरदास	१९१६ वि०	८८	हिंदी
४३	लाललाडली की चौसठि घटि की लीला	×	×	४८	,,
४४	विरहमंजरी	नंददास	×	६	,,
४५	रूपमंजरी	,,	×	२६	,,
४६	रसमंजरी	,,	×	१०	,,
४७	मानमंजरी	,,	×	२०	,,
४८	अनेकार्थ मंजरी	,,	×	६	,,
४९	मैनमंजरी	×	×	१४	,,
५०	सुदामा चरित्र	नरोत्तमदास	×	८	,,
५१	उर्वसी नाम नामावली	सिरोमन	×	१६	,,
५२	अष्टजाम	देव	×	१५	,,
५३	ललिविनोद	चिंतामन	×	३६	,,
५४	फाजिल अलीप्रकास	सुखदेव मिश्र	×	४४	,,

संकेतलिपि विद्यालय

अपने सीमित साधनों के अनुसार इस अवधि में भी विद्यालय हिंदी संकेत लिपि और हिंदी टंकण की शिक्षा देने का कार्य यथावत् करता रहा। मासक्रम से छात्रों की संख्या विद्यालय में निम्नांकित रही :

	संकेतलिपि	टंकण	दोनों विषय	योग
वैशाख	×	१	५	६
ज्येष्ठ	×	२	१	३
आषाढ़	×	३	×	३
श्रावण	×	३	×	३
भाद्रपद	२	६	१	९
आश्विन	१	४	१	६

हिंदी विश्वकोश

सितम्बर १९६४ को समाप्त होनेवाली छमाही में विश्वकोश के चौथे खंड के संपादनमुद्रण का कार्य जारी रहा। साथ ही आगे के खंडों के लिये लेख मँगाने, उनके चयन और संपादन का काम भी होता रहा। चौथे खंड के ५ फार्म ('गोवर्धनाचार्य' तक) इस अवधि के पहले ही छप चुके थे। आलोच्य अवधि में छठें फार्म से ३९ फार्म तक ('गोविंद' से छत' तक) इस अवधि में मुद्रित हुए। इस प्रकार कुल ३४ फार्म इस अवधि में छपे।

साहित्य और मानवतादि अनुभागों में एक नये संपादक सहायक की नियुक्ति इस अवधि के अंतिम दिनों में हुई। फलतः इन अनुभागों के अंतर्गत आनेवाले विषयों का नये सिरे से कार्यविभाजन तीनों संपादक सहायकों के बीच किया गया। आगे के खंडों के लिये विषयसूची के पुनः निरीक्षण, उसमें जोड़ने घटाने के काम पर विशेष रूप से ध्यान केंद्रित किया गया। जिन विषयों पर अब तक लेख नहीं प्राप्त हुए थे, उनके लेखकों को स्मरणपत्र तथा नये लेखकों से लेख लिखने के अनुरोध पत्र भेजने का काम भी जारी रहा।

इस अवधि में ७८ लाइन, ९३ हाफटोन और ६ मानचित्रों के ब्लाक बनवाये गये।

हिंदी विश्वकोश प्रकाशन योजना के प्रारंभ से लेकर आलोच्य छमाही के प्रारंभ तक ६,१५,००० रु० का कुल अनुदान केंद्रीय शासन से प्राप्त हो चुका था। उक्त अवधि में कुल व्यय ६ ००,६२०-६४ रु० हुआ। इस प्रकार १ अप्रैल १९६४ को विश्वकोश के खाते में १४,३७९-३६ की रोकड़ शेष थी। ५०,०००-०० रु० का एक और अनुदान इस अवधि की समाप्ति के महीने में (४ सितंबर को) केंद्रीय सरकार से प्राप्त हुआ। इस ६[illegible]३७९-३६ रु० (१४,३७९ ३६+५०,०००-००) में से कुल ५६,२३१-६२ रु० आलोच्य छमाही (२० सितंबर तक) में व्यय हुआ और (२० सितंबर तक) ८,[illegible]-७४ रु० विश्वकोश के खाते में सभा के पास शेष रहा।

लेखकों के पारिश्रमिकों के भुगतान में शीघ्रता कराने की ओर इस अवधि के अंतिम महीने में विशेष रूप से ध्यान दिया गया। यह खेद की बात है कि तीसरे खंड के भी कितने ही लेखकों के पारिश्रमिक के भुगतान बाकी पड़े थे। उन्हें भी शीघ्र ही पूरा कराने का प्रयत्न हुआ है।

द्विवेदी जन्मशती

सभा की प्रबंधसमिति ने अपने १८ कार्तिक सं० २०२० के अधिवेशन में निश्चय किया था कि स्व० आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की जन्मशती पर शताब्दी समारोह का आयोजन किया जाय। साथ ही प्रबंध समिति ने प्रकाशन मंत्री श्री पं० सुधाकर पांडेय के संयोजकत्व में एक मंडल संगठित कर दिया जिसे आयोजन संबंधी व्यवस्था के कार्य सौंपे गए। मंडल ने देश भर के चुने हुए महानुभावों की संमति और परामर्श लेकर इस आयोजन की रूपरेखा निर्धारित की। तदनुसार समारोह दो अंशों में मनाने का निश्चय किया गया। पूर्वांश का आयोजन १ ज्येष्ठ, २०२१ (१५ मई, १९६४) को हुआ जिसमें बंबई के ख्याति शिल्पी श्री खानविलकर द्वारा निर्मित आचार्यवर की आवक्ष कांस्य प्रतिमा का अनावरण, जिसका मंडपनिर्माण काशीस्थ साहित्यिकों ने कराया है, पत्रभूषण कविवर श्री पं० सुमित्रानंदन जी पंत के करकमलों से संपन्न हुआ। श्रद्धांजलि समर्पण का आयोजन सभाभवन के सामने सजे हुए पंडाल में किया गया था। स्थानीय और बाहर के गणयमान्य साहित्यिक, समाजसेवी तथा प्रतिष्ठित नागरिकों की उपस्थिति में अनुष्ठित यह आयोजन बड़ा ही भव्य रहा। इस अवसर पर आचार्यवर द्वारा सभा को प्रदत्त पुस्तकों, पत्र पत्रिकाओं, सरस्वती की पांडुलिपियों और आचार्यवर के पत्रचार की प्रदर्शनी भी आयोजित हुई थी, जो बड़ी ही सफल और आचार्यवर की विद्वत्ता, पुस्तकप्रेम एवं व्यवस्थित दैनंदिन कार्यकलाप की परिचायक थी।

समारोह का उत्तरांश दिसम्बर में अनुष्ठित होगा।

———

द्विवेदी जन्मशती समारोह, १ ज्येष्ठ, सं० २०२१ (ता० १५ मई, १९६४)

कुर्सी पर, बाएं से : श्री मोहकमचंद मेहरा, श्री प्रभात शास्त्री, श्री पं० वाचस्पति पाठक, श्री पं० करुणापति त्रिपाठी, श्री ब्रजरत्नदास, श्री रामचंद्र वर्मा, श्री पं० सुमित्रानंदन जी पंत, श्री पं० सुधाकर पांडेय, श्री पं० शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र', श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड़, श्री डा० भोलाशंकर व्यास, श्री 'नज़ीर बनारसी', श्री एम० भारती ।

१

२
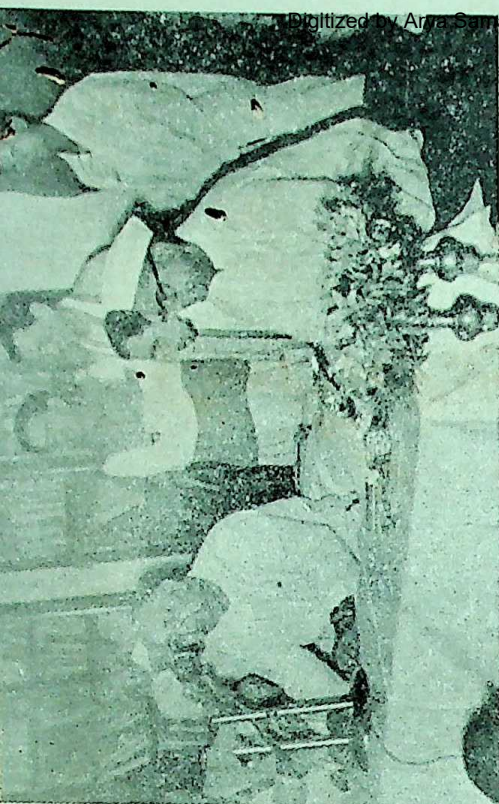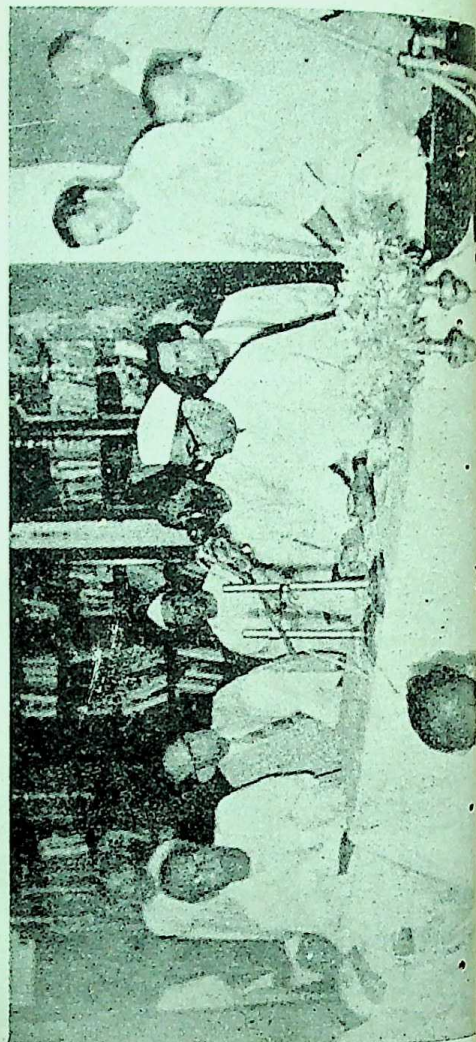
१. प्रदर्शनी में उपशिक्षा-मंत्री श्री भक्तदर्शन जी तथा विहार विधान सभा के अध्यक्ष श्री लक्ष्मी नारायण जी 'सुधांशु'।

२. श्री 'सुधांशु' जी,
३. श्री भक्तदर्शन जी भाषण देते हुए।

उसकी अवधि ४५० से ५० ई० पू० मानते हुए वे उसे तीन कालों में विभाजित करते हैं: मौर्येतर काल ५ फुट ६ इंच तक; मौर्यकाल वहाँ से ६ फुट ६ इंच तक तथा प्राङ्मौर्य काल १३ फुट तक। इस विभाजन के उपरांत वे एन० बी० पी० भांड का काल ४०० ई० पू० से २०० ई० पू० तक स्वीकार करने को तैयार हैं।[1] एक ओर तो वे यह मानते है कि एक दो वस्तुएँ, यहाँ तक कि सिक्कों के ढेर भी, समय निर्धारण के लिये भ्रामक हो सकते हैं, दूसरी ओर उनके कालविभाजन का आधार कुछ मृरामूर्तियाँ मात्र हैं। जो कारण उन्हें पर्याप्त लग रहे थे वे ही उन्होंने अपने पक्ष के समर्थन में प्रस्तुत किए हैं।

वास्तव में एन० बी० पी० भांड का काल निर्धारित करने के लिये गंगा तलहटी के स्थलों की ओर दृष्टिपात करना चाहिए।[2] इस प्रदेश के दो स्थलों का उत्खनन वैज्ञानिक विधि से हुआ है। अतः उनका प्रमाण अत्यंत महत्वपूर्ण है। वे दो स्थल हैं हस्तिनापुर एवं कौशांबी।

हस्तिनापुर के पाँच काल निर्धारित किए गए हैं जिनमें तीसरे काल के स्तरों से एन० बी० पी० भांड के ठीकरे मिलते हैं।[3] इन कालों का समय निर्धारण ज्ञात से अज्ञात की ओर बढ़ते हुए किया गया है। पाँचवाँ काल मुसलमानों के आगमन के बाद का है। अतः इस प्रसंग में उसकी चर्चा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। चौथे काल के निचले स्तरों में दो अलिखित कास्ट मुद्राएँ, दो पंचमार्क मुद्राएँ तथा मथुरा के राजाओं की पाँच मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। मथुरा की दो मुद्राओं पर शेषदत्त का नाम स्पष्ट है। बीच के स्तरों से यौधेय मुद्राएँ तथा ऊपर के स्तरों से वासुदेव कुषाण की अनुकृति की हुई मुद्राएँ मिली हैं। मुख्यतः इनके आधार पर चौथे काल का समय दूसरी शताब्दी ई० पू० से तीसरी शताब्दी ई० के अंत तक माना गया। चौथे और तीसरे काल के स्तरों के बीच राख की तह के कारण अनुमान किया जाता है कि तीसरे काल का विनाश आग से हुआ था। हस्तिनापुर के उत्खनन के निर्देशक श्री लाल इन कालों के बीच एक शताब्दी का व्यवधान मानते हैं।[4] अतः उन्होंने तीसरे काल का अंत तीसरी शताब्दी ई० पू० का आरंभ माना है। एच० एस० टी० I में इस

१. वही, पृ० १६६
२. कृष्णदेव तथा व्हीलर : एंशेंट इंडिया, सं० १, पृ० ५५
३. बी० बी० लाल : एंशेंट इंडिया, सं० १०-११, पृ० ५१
४. वही, पृ० २३

काल के कुल स्तरों का निक्षेप पाँच से नौ फुट तक है। एच० एस० टी० II में तो वह बराबर नौ फुट या उससे कुछ अधिक ही है।[१] यहाँ इस काल के अंतर्गत लगभग छह निर्माण उपकाल देखे गए हैं। इस काल की अवधि उन्होंने ३०० वर्ष मानते हुए उसका आरंभ ६ठी शताब्दी ई० पू० में रखा है।[२] इस काल में एन० बी० पी० भांड बराबर पाया जाता है। तक्षशिला और कौशांबी के साक्ष्य से भी एन० बी० पी० भांड का यही समय प्रमाणित होता है।[३]

श्री लाल का यह समयनिर्धारण गोर्डन महोदय को मान्य नहीं है।[४] उनका कहना है कि मथुरा की मुद्राएँ दूसरी और पहली शताब्दी ई० पू० में अवश्य रखी जाती हैं परंतु शेषदत्त का स्थान कहाँ है? यह कैसे निश्चित किया जा सकता है? यौधेय मुद्राओं के संबंध में उनका मत है कि उनकी अनेक मुद्राएँ कुषाण मुद्राओं से प्रभावित हैं। अतः उनके ५० ईसवी के बाद निर्मित होने की संभावना अधिक है। वासुदेव की अनुकृतिवाली मुद्राएँ २०० से ३०० ई० के बीच कहीं भी रखी जा सकती हैं। इस काल की मृण्मूर्तियों में प्राचीनतम एक स्त्री की है (उनका तात्पर्य संभवतः एंशेंट इंडिया, सं० १०-११ के फलक ३६ के ए से है) जिसका समय वे ८० ई० पू० मानने को तैयार हैं, यद्यपि २० ई० पू० की संभावना को भी वे स्वीकार करते हैं। इस काल की एक मृण्मूर्ति को वे गुप्त-काल में रखना चाहते हैं। वह कौन सी है, यह बताने की उन्होंने आवश्यकता नहीं समझी। इन कारणों से उनका विचार है कि चौथे काल का आरंभ ५० ई० पू० से पहले संभव नहीं है।[५] तीसरे तथा चौथे काल के बीच १०० वर्षों का अंतर भी उन्हें अधिक लगता है। उनका तर्क है कि तीसरी शताब्दी के पूर्वार्ध में मौर्यों के सुदृढ़ शासन के अंतर्गत हस्तिनापुर में आग लगने का भला क्या कारण हो सकता है। इसके विपरीत यदि शक आक्रमण (८० ई० पू० से ५० ई० पू०) का समय लिया जाय, जब पंजाब, राजपूताना और गुजरात की सीमाओं पर युद्ध हो रहा था, तो नगरों के उजड़ने और जलने के लिये आवश्यक परिस्थिति उत्पन्न हुई दिखाई देती है।

१. वही, पृष्ठ २२

२. वही, पृष्ठ २२

३. वही, पृष्ठ २२–२३

४. गोर्डन : दि प्रीहिस्टरिक बैकग्राउंड आव इंडियन कल्चर, पृष्ठ १६७

५. वही, पृष्ठ १६७

"तमत तमाम शुद नुसखा यानी पोथी पदमावत मिन तसनीफ मलिक मुहम्मद जायसी मोतवत्तिन परगना जायस के दर जमीने पूरब वाका अस्त।"

(१४) पदमावत—मलिक मुहम्मद जायसी कृत। कागद पुराना। आकार ८½"×४½"। कुल ४१८ पृष्ठ। लिखावट सुंदर। प्रत्येक पृष्ठ पर १५ पंक्तियाँ। कुछ शब्दों के अर्थ भी फारसी में दिए हुए हैं। लिपिकार सैयद अली अहमद पुत्र सैयद महमूद, कसबा झाली, परगना मनसूरपुर। लिपिकाल ६ठीं जिलहिज्जा ११३५ हिजरी। पुस्तक के अंत में किसी ने लाल सियाही से एक नोट भी लगा दिया है जो इस प्रकार है—"यह किताब एक सौ अट्ठासी साल बाद तसनीफ के लिखी गई और सन् ९४७ हिजरी में तसनीफ हुई।"

प्रारंभ

बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

सँवरौं आदि एक करतारू   जें जिव दीन्ह कीन्ह संसारू
याद कुनम अव्वल
कीन्हेस प्रथम जोति परगासू   कीन्हेस तहँ परवत कैलासू
इजहार   कोह
कीन्हेस अँगिन पवन जल खेहा   कीन्हेस बहुतै रंग उरेहा
कीन्हेस धरती सरग पतारू   कीन्हेस बरन बरन अवतारू

अंत

मैं सुजान के अस मन कीन्हा। जँह गुरु मिले सोइ पँथ लीन्हा
हिंदुइ तुरकी पारसी बंगाली जस आह
अपनी अपनी भाखा सभै सराहैं ताह
लिखा रहै सस जग जो न मिटावे कोय।
लिखनी हारा बाँपुरा घुल घुल माटी होय॥
भला बुरा जो हम लिखा हसन करो मत लोग।
बुरा जो होइ सँवारियो हम कों यह संजोग॥
संख पदम लह गिनत है उदै असित युवराज।
मुहमद जो निज मरन है वह सुभ कौने काज॥

(१५) पदमावत—मलिक मुहम्मद जायसी कृत। कागद मोटा, पुराना, कहीं कहीं से दीमक खाया हुआ। आकार ६¾"×७"। कुल ४३० पृ०। लिखावट सुंदर। लिपिकार ने अपना नाम नहीं दिया है। लिपिकाल केवल २७ रजब लिखा है।

प्रारंभ

रब्बेयस्सिर बिस्मिल्लाहिर्रहमनिर्रहीम वतमम बिल खैर

बतौहीद बारीताला मीं गोयद

सँवरौं आदि एक करतारू। जिन्ह जिउ दीन कीन संसारू।
कीनेस प्रथम जोत परगासू। कीनेस बहु परबत कैलासू।
कीनेस अगिन पवन जल खेहा। कीनेस बहुतै रंग उरेहा।
कीनेस धरती सरग पतारू। कीनेस बरन बरन अवतारू।
कहाँ अलाउद्दीन सुलतानूँ। कहाँ चेतन जिन कीन पयानूँ।
कहाँ मूरति पदुमावति रानी। को न रहै तो जग रहै कहानी।
धनि सो रहै जस कीरति तासू। फूल मरै पै मरै न बासू

दोहरा केइँ गाँठ जस बेंचहा केइँ पैंठ जस मोल

दोहरा जो यह पढ़ै कहानी हमसो रहै दुबोल

तत्पश्चात् पाँच पृष्ठों में ३६ राग रागिनियों का वर्णन है।

(१६) पद्मावत—मलिक मुहम्मद जायसी कृत। कागद पुराना। स्थान स्थान से दीमक खाया हुआ। आकार ८×६ इंच। लिखावट साधारण। मुखपृष्ठ पर गदा बादशाह की मुहर है जिसपर ११५९ हिजरी लिखा हुआ है। लिपिकार ने अपना नाम अथवा लिपिकाल नहीं लिखा है। कुल ५६२ पृष्ठ हैं। प्रत्येक पृष्ठ पर ११ पंक्तियाँ हैं।

प्रारंभ

बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम

सुमिरौं आदि एक करतारू, जेंहि जिउ दीन्ह......संसारु
कीनेस प्रथम जोति परगासू, कीनेस बहु परबत कैलासू
कीनेस पवन अगिन जलखेंहा कीनेस बहुतै रंग उरेहा

अंत

रतन सो गयो कै खोन सरीरु दिष्टि गये नैनन्ह दै......
तव लहि जीवन जोबन साथाँ, पुन सो मींच पराए हाथाँ
बिरिध जो सीस डुलाए व केस धुनै तेहि रीस
बूढ़े आढ़े होहि तुम्ह गए देहि दीन्ह असीस॥

(१७) पद्मावत—मलिक मुहम्मद जायसी कृत। कागद बारीक पुराना। एकाध स्थान से दीमक खाया हुआ। लिखावट सुंदर, चित्ताकर्षक। आकार

६×६ इंच, कुल १२६ पत्र। कुछ शब्दों के अर्थ भी दिए गए हैं। लिपिकार ने कहीं भी अपने नाम अथवा लिपिकाल का उल्लेख नहीं किया है—

प्रारंभ

सँवरौ आदि एक करतारू, जें जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू
मखलूक़ात
कीन्हेस प्रतम जोति परगासुह, कीन्हेस तहँ परवत कैलासुह
अव्वल जाहिर कोह
कीन्हेस पवन अगिन जल खेहा, कीन्हेस बहुतै रंग उरेहा
सूरत

अंत

भँवर गए कीन्ह लै भुवा, जोबन गए चित के जुवा
तब लहि जीउ जोबन साथाँ, पुनि मसीह परापन हाथाँ
बिरिध जो सीस.................रीस
सूधर आड़े होहि तुम गन दहुँ गही असीस

(१८) बिहारी सतसई—रचयिता कवि बिहारीलाल। आकार ८३/४×५३/४ इंच। कागद चिकना। कुल ५६ पृष्ठ। दोहों की संख्या ७१४। प्रत्येक पृष्ठ पर १३ पंक्तियाँ। लिखावट सुंदर। लिपिकार अज्ञात। लिपिकाल सन् १२०३ हिजरी।

आरंभ

सिर गनेसायनमः

दोहामूल

मेरी भुव बाधा हरो राधा नागरि सोय
जा तन की भाईं परे स्याम हरित दुति होय

ध्यान सरूप

सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल
यह बानक मो मन बसो सदाँ बिहारीलाल

अंत

७१४

अपने अपने मत लगे वाद मचावत सोर
जेवँ तेवँ सेवो एकै नन्द किसोर

(१६) (क) सुंदर सिंगार—कवि सुंदर कृत। आकार ८३/४×५३/४ इंच, कागद मोटा, पुराना, लिखावट सुंदर। लिपिकार जीनेलाल। लिपिकाल सन् ३८ हिजरी बादशाह शाहआलम गाजी।

प्रारंभ

सुन्दर सिंगार

देखन नैन की कोरन लौं अधरान हो में मुस्कान को थानों
बोलत बोल सुकंठ ही में चलतैं पग पैन कहूँ अठसानों

अंत

यह सुंदर सिंगार की पोथी रची विचार
जो कोउ होय कछू कहूँ लीजो सुकबि सुधार

(२०) (ख) नाममाला—आकार ८¾×५¾″। लिपिकाल १२०७ हिजरी। लिपिकार जीनेलाल। लिखावट सुंदर। कुल ३७ पृष्ठ।

प्रारंभ

अथ नाममाला लिक्खते

तन्नमाम पद परम गुरु कृश्न कमल दल नैन
जग कारन करुनारनो गोकुल जाको ऐन

अंत

दाम के नाम

माल शरक सरज कनोती यह जो नाम के दाम
जो नर कंठ रहे सो नर होइ है छब को धाम

(२१) (ग)—रसमंजरी, नंददासकृत। लिपिकार जीनेलाल, निवासी शाहजहानाबाद। कुल ३८ पृष्ठ। आकार ८¾×५¾ इंच।

प्रारंभ

अथ नंददास कृत रसमंजरी लिखते दोहरा

नमो नमो आनंद घन सुंदर नंदकुमार
रसमय रस कारन रसिक जग जानी आधार

अंत

तातें नंददास यह करो
प्रेम जतन अनदिन अनसरो

(२२) (घ)-चतुरसई, श्री राजकरन कृत, कुल ३२ पृष्ठ। लिपिकार जीनेलाल।

प्रारंभ

अथ चतुरसई लिक्खते

राधा हरि हरि राधिका यामें कछु भ्रम नाँह
गोरेऊ तन होत हैं स्याम रूप परछाँह

अंत

कान्ह धान नहोरी तब मैं झकझोरि आस मिलिवै के छोरि रहे मन रिझाय कें मेटी भाल रोरी माल फूलन की तोरी भौंह सखी सों मरोरि फिर गोरि दुख पायकें।

(२३) विहारी सतसई—कुल ६२ पृष्ठ। लिपिकार जीनेलाल।

प्रारंभ

रब्वे यस्सिर बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम वतमम् बिल खैर

अथ सतसैया विहारी कृत दोहरा

मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय
जा तन की झाईं परें स्याम हरित दुति होय

अथ मुग्धा वरनन

देह दुलहिया की बढ़ो जों जों जोवन जोत
त्यों त्यों लख सौतिन सबै बदन मलिन दुति होत

अंत—

सुरबानी यातें करी नर बानी कह दीन
लाल बिहारी कृत कथा पढ़ै सो होय प्रवीन

(२४) (च) रूपमंजरी—कुल ५० पृष्ठ। लिपिकार जीनेलाल।

प्रारंभ—

अथ रूपमंज़री लिखते

दोहरा

प्रथम हैं परमो प्रेम में परम जोत जो आह
रूप अपावन रूप निधि नित्त कहत कब जाह

अंत--

कथनी नाहिन पाइये करनी पाइये सोय
बाती दीया ना बरै बारैं दीपक होय

२५) (छ) कवित्तसंग्रह—कुल ५५ पृष्ठ। लिपिकार जीनेलाल। सेनापति गंग, रसखान, सुंदर, मतिराम, लतीफ, प्रवीनराय, घासीराम, आलम इत्यादि के कवित्त।

प्रारंभ

सीदी वयार में आँग सँवारहूँ गोकुल की गुह की न सहेली हौं
मंड मूरन मोर रही विन पाडल डार न देख डरी हौं।

अंत

तू तो करत मस धान होत रैन निस तू चल पयारी मेरो तेरो सात है
नातर में ऊठि जात जाय कहीं वाहो जात तू तो इतरात ओट रात बीती जात है

(२६) (ज) रसिकप्रिया--रचयिता केशवदास। कुल १४५ पृष्ठ। लिपिकार जीनेलाल।

प्रारंभ

एक रदन गज बदन सदन वुध मदन कदन सुत
गोरनंद आनंद कंद जग वंद चंद जुत।

उपर्युक्त सभी ग्रंथ एक ही जिल्द में हैं और उनका लिपिकार भी एक ही है।

(२७) (क) पोथी रामायण—रचयिता साहबराम कायस्थ दिल्ली निवासी, रचनाकाल संवत् १७८६ विक्रमी मुताबिक ११३६ हिजरी आकार $७\frac{३}{४}\times४\frac{१}{२}''$ कागद पुराना देसी दीमक खाया हुआ। लिपिकार हरिचरनदास। लिपिकाल संवत् १८५४ मुताबिक १२१२ हिजरी। कुल २७८ पृष्ठ। लिखावट साधारण।

प्रारंभ—

श्री गनेसायनमः

परथम गुरु गनेस चित लाओं। पाछे तास राम गुन गाओं
वही राम है घट घट माहीं। जलथल में व्यापक सह ठाईं
वा समान दूजो कोइ नाहीं। रची सृष्टि जिन एक पल माहीं

अंत

बलिहारी गुरुदेव की जिन प्रभु दिये बताय
राम के चरनन में सदा जिन साहब बलि जाय

(२८) (ख) बारहमासा—कवि दासकृत। कुल १२ पृष्ठ।

प्रारंभ

आयो साढ़ सुहावनो घन गरजे चहुँ ओर
अब क्या कीजे नेम चलु बोले दादर मोर

अंत

दोहरा राजीते उर नेम चलु आकार होय सुहाय
दास कहानी आय के स्तुति कही बनाय

(२९) (ग) कथा मलिक राजा—कविदास कृत। कुल १८ पृष्ठ।

प्रारंभ

दुहराये अग्यारत भारी। अलह रूप के दास भिखारी
जिन यह रूप सराप निहारा। माथे लाल छलो करतारा
सभ में रहै सभन में न्यारा। सकल रूप को सिरजनहारा

अंत

बास बसेरा कुंज में कदम बृच्छ के छाँव
बृंदाबन सों बन नहीं नंदगाँव सो गाँव
ससि बदले सर राधिका मन बदले घनस्याम
चिरनजीव जोरी रहो करत दास परनाम

(३०) (घ) सुदामाचरित—रचयिता हरिनारायन। कुल ३ पृष्ठ।

प्रारंभ

बिंब सुदामा को कियो कवि दर दर तब आय
ताको ताकी ना रहैं ऐसे कहत सुनाय

अंत

चरित सुदामाँ को लिखो दास हेत तबलाय
हरत संत चुवरंत सों दंद मंद हो जाय।

(३१) (ङ) रुकमिनीमंगल—हरिनारायनकृत, कुल चार पृष्ठ।

प्रारंभ

नारद मुख सों रुकमिनो सुनहो कथा दुराय
वादिन सों हरिदास के आस रहे चित लाय

अंत

श्री रुक्मनमंगल कह्यो दास मूढ़ अज्ञान
जो याको फिरहैं सुनै पाहै गति निरवान

(३२) (च) बारहमासा मीनावंती बसावंतकुमार। कुल ११ पृष्ठ।

प्रारंभ -

मीनावंती की कथा और साँत कुँवर की बात
ताको हौं बिधि से कहौं निहुरत ताके सात

अंत

दास जपै सत संगत कों सुनवंतो कों जस गावत है।

(३३) (छ) एकादसी महातम—कवि दासकृत। कुल ४७ पृष्ठ।

प्रारंभ

एक दिवस श्री कृस्न मुरारी
अरजुन सों कही मैन बिचारी
एहि संसार अधिक दुखदाई
माया रहत सकल जग छाई

अंत—

दास मूढ़ अज्ञान है करत धरत पर सीस
पढ़त सुनत इस कथा कों दीजो मोहि असीस

(३४) (ज) पोथी भक्तमाल—कविदासकृत। कुल ४४ पृष्ठ।

प्रारंभ

आव चरन गुरु सीस नवायो
गुरुप्रसाद तें हरिगुन गायो

अंत

सुखदायक तुम जगत के दुःखहरन जगदीस
दास तरुन कीने सके उपमा आयस सीस

(३५) (झ) एकादसी महातम—फैजी कृत फारसी गद्यानुवाद। लिपिकार हरिचरनदास। कुल ४६ पृष्ठ। प्रस्तुत अनुवाद दासकृत एकादसी महातम का ही है।

प्रारंभ

श्री गनेसायनमः एकादसी महातम तसनीफे फैजी

रोजे श्रीकृष्न वा अर्जुन गुफ्त ऐ अर्जुन अगर मी ख्वाही कि दर दुनिया व दर हर दो आलम······

अंत

मशहूर अस्त हर कसे कि व्रत व महातम हूँ एकादसी बकुनद वो बेगोयद वो वेशुनूद ऊरा फल एतमीद जग हासिल गरदद।

(३६) (ञ) एकादसी महातम—कुल ३२ पृष्ठ।

प्रारंभ

श्री गनेसाय नमः एकादसी महातम

रूप मगध कै कथा अपारा सुनके मुक्ति लहै संसारा

अंत

महातम एकादसी संपूरन भयो
सुर नर मुनि चित दैं दैं कह्यो।

उपर्युक्त क से लेकर ञ तक सभी रचनाएँ एक ही जिल्द में हैं।

(३६) **सुखमन**—कवि बाबा नानककृत। आकार ६×४¾ इंच। कागद, पुराना। कुल ७३ पृष्ठ। लिखावट साधारण। लिपिकार संभवतः रामजिउ सहाय।

प्रारंभ

श्री गुरुदेवाय नमः

सुमिर सुमिरौं सुमिर सुख पावौं कलिकलेस तिन माँह मनावौं
सुमिरौं जास बिसंवर एकै नाम जपत अगनित्त अनेकै
सुमिरत बेद पुरान सुध आखर कीने राम नाम एक आखर

अंत

सुभ ने ओच नाम के सुभाई
नानक एहि को नाम सुख मिनीं।

अंत में चार पृष्ठों में वाजीद खाँ पिनहाँ की एक अपूर्ण रचना है जिसका कागद अपेक्षाकृत नया है।

(३८) **पोथो गुनसागर**—रचयिता संभवतः अहमद कवि हैं जैसा कि एक सोरठे से पता चलता है—रचना रची जो आद, प्रगट करी ते वेदमुख=अहमद गुरु-परसाद कछुक जोत हमहूँ कहें। रचनाकाल जहाँगीर बादशाह का समय माना जा सकता है—छतर धरैं अपचल सदा राज साह जहाँगीर। आकार ५¾×८¾ इंच। कागद पुराना, कहीं कहीं से दीमक खाया हुआ। लिखावट सुंदर। लिपिकाल ११४६ हिजरी। लिपिकार श्यामसिंह। कुल ११५ पृष्ठ। प्रत्येक पृष्ठ पर १६ पंक्तियाँ।

प्रारंभ

श्री गणेशाय नमः अथ गुनसागर लिक्खते
अलख अमूरत परम गुरु आदि अंत बिस्तार
जिया जन्य जल थल सकल करत जगत निस्तार।

अंत

कबि तुम्ह लेहु सँवार जहाँ जानौ कछु खंडित
मोहै दुख जिन देहु...... ..ज्ञानी को पंडित

(३६) **सतगुरु**—रचयिता चरनदास। लिपिकाल १ अप्रैल, सन् १८८८ ई०। लिखावट सुंदर। कागद मोटा, चिकना, आकार ५½ ३¾ इंच। कुल ३२ पृष्ठ। प्रत्येक पृष्ठ पर १५ पंक्तियाँ।

प्रारंभ

नमो नमो श्री ब्यास जी सतगुरु परम दयाल
ध्यान किए आसान से लगे न जुक्त बयाल

अंत

चरनदास यों कहत हैं उपजे मन बैराग
जगत नींद ही चूकै चौथे मद में जाग।

(४०) **सभाबिलास**—रचयिता कवि यूसुफ। आकार ७×५″। कागद चिकना विलायती। लिपिकाल १२६० हिजरी। प्रारंभ में सूची इस प्रकार दी गई है :

सभाविलास ग्रंथ पहेली का सिंगार रस सहित
दोहा मंगलाचरन, प्रथम प्रभाव सिखनख को। बाल बरनन दोहरा। फुलैल बरनन दोहरा, किनारी सारी बरनन, माँग बरनन इत्यादि।

कुल १६ प्रभाव हैं। लिखावट सुंदर स्वच्छ और चित्ताकर्षक है। पृष्ठसंख्या ११२। प्रत्येक पृष्ठ पर ६ पंक्तियाँ।

प्रारंभ

रब्बेयस्सिर बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम वतमम् बिल्खैर
दोहरा मंगलाचरन

ठौर ठौर ढूँढत फिर्‌यो दूजा और न कोय
जो नित हीं भटकत फिरै सो मेरें बस होय

अंत

संबत अठारह सौ बरिस और बीते बाईस
यूसुफ कीयो ग्रंथ यह सबको देइ असीस
सोम बार अगहन सुदी छट कम्हीर सुभभान
संग्रह कीयो ग्रंथ को बूझो रसिक सुजान

(४१) **कलामे कबीर साहब**—कागद धारीदार फुलस्केप। कुल १३७३ दोहे। लिखावट साधारण। २०वीं शताब्दी के शुरू की जान पड़ती है।

प्रारंभ के पृष्ठ पर लिखा है—कलामे कबीर साहब नक्ल सन् १२६० हिजरी अजनक्ल अस्ल नुस्खा कबीर साहब।

प्रारंभ

ओम्

कलामे कबीर साहब

१ मन मुर्शिद मैं पूछूँ भेवा
तुमही आदि निरंजन देवा
२ इस देही में प्रेरक कौन
प्यारे मुझे पता है जौन

अंत

भेद कहा समझाय कर राखा नहीं छिपाय
पित कफ का यह काम है उनका यही सुहाय
हमने किरपा कर कहे वचन सार के सार
कह कबीर यह तित वचन कर बिचार चित धार

खातेमा कला मे मंजूम

अंत में लिपिकार ने कबीर के पुत्र कमाल के भी छह दोहे लिखे हैं और उसके बाद अपनी ओर से भी कबीर की प्रशंसा में एक कविता लिखी है।

(४२) कवित्तसंग्रह—आकार ८३/४×५१/२ इंच। रामचंद्रजी, कृष्ण जी, हनुमान जी आदि की स्तुति में अनेक कवियों के कवित्त हैं जिनमें सूर, तुलसी, कबीर, मलूक, नानक, नागर, रसखान, मुबारक आलम, धर्मराज, गंग, दयालदास विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। तत्पश्चात् नरसिंहलीला बरनन, रासलीला बरनन, बावनलीला, गजेंद्रलीला, दानलीला, गंगा जी की स्तुति, नंददासकृत रुकमिनीमंगल और दानलीला मानलीला आदि संक्षिप्त रचनाएँ हैं।

(४३) कवित्तसंग्रह—आकार ८३/४×५१/२ इंच। रसनायक, सूरदास रसखान, आलम, केशवदास, लतीफ, नेही, गंग, शेख, मुबारक मंडन आदि कवियों के कवित्त हैं। लिखावट साधारण है।

(४४) सतसैया—रचयिता बिहारीलाल। आकार ८३/४×५ इंच। कागद चिकना, विलायती। लिखावट सुंदर चित्ताकर्षक। कुल १८२ पृष्ठ। प्रत्येक पृष्ठ पर चार दोहे। लिपिकाल संभवतः १८७४ ई० है लिपिकार ने भूल से ८७४ ई० लिखा है। लिपिकार मुहम्मद अली है। प्रारंभ के १६४ दोहों के अर्थ भी हिंदी भाषा में दिए गए हैं।

प्रारंभ

मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोइ
(मेरी भव यानी संसार की बाधा दूर करो ए राधा सुंदर सोइ)
जातन की झाँई परैं स्याम हरित दुति होइ
(जेहके देह की परछाईं परें पाप दूर होत है सोभा होत है।)
कौन भाँति रहिहै बरद अब्र देखई मुरार
(किस भाँत से रहे बानानापन के उद्धार करने का अब देखूँगा ए मुरार)
बेदी मोसों आय के गीदहि गीदहि तार
(मुकाबिल मोसीं हुए हो आगे खूगर हुए हो एक गिध को तारके)

अंत

रस सुखदायक भगत में जामे नौरस स्वाद
करी बिहारी सतसई रामा किशुन प्रशाद

(४५) ज्ञानसर्वोदय—श्री चरनदासकृत। आकार १०½×६½ इंच। कुल २० पृष्ठ। लिखावट सुंदर। लिपिकार राय। लिपिकाल संवत् १९१६।

प्रारंभ

नमो नमो सुखदेव जी प्रेम करौं अनंत
तुम प्रसाद सुरभेद को चरनदास बरनंत

समाप्त

जोग जुगति हरिभगति कर ब्रह्मज्ञान डिढ़ कर गहों
आत्म तत्त बिचारकर अजपा मे सुन मन रहो।

अंत में सहजूबाई शिष्य चरनदास की क्रमशः "सोलह तिथि बरननी" और "सात बार बरनन" शीर्षक दो रचनाएँ हैं।

(४६) दोहा परमारठ—रचयिता कवि बिहारीलाल (अपूर्ण)। कुल १६ पृष्ठ। प्रत्येक पृष्ठ पर ११ दोहे। आकार ८×५ इंच। कागद पुराना, दीमक खाया हुआ।

प्रारंभ

दोहरा बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम परमारठ

मेरी भव बाधा हरो राधा नागरि सोय
जा तन की झाई परे स्याम हरित दुति होय।
या अनुरागी चित्त की गति समझै नहिं कोय
ज्यों ज्यों बूड़े स्याम रंग त्यों त्यों उज्जल होय

समाप्त

परी जोर बिप्रीत रति रुपे सुरत रंधोर
करत कोलाहल किंकिनो कहो मौन मंजोर।

(४७) कवित्तसंग्रह—आकार ६½×६ इंच। प्रारंभ के २६ पृष्ठों में श्री रौशन जमीर नेही का नखसिख वर्णन ग्रंथ है जिसके अंतिम पृष्ठ पर रुह खाना खानादार आलमगीर शाह की मुहर लगी हुई है। ग्रंथ अपूर्ण है। लिपिकार अथवा लिपिकाल का पता नहीं चलता। प्रारंभ इस प्रकार होता है :

मंगलाचरन

अलख अमूरत निरंजन है निरंकार नाँह जानों कौन भाँत लहियत है
असन बसन भौंन तज कोजियत कौन साधियत पौंन अंत मौन गहियत है

अंत

चैन है न दिन रैन दूहन के सुन बैन रसवन से भए नैन पलको न लाई ले
सुर सुरगहि कैसें होत हैं सवद वेधियन छिदे कठिन को भेद नाँह पाई ले

तत्पश्चात् भगवतीदास, मुरारि, माधो, जगन, हरिराम, कलानिधि, मुबारक, परसुराम, बलभद्र, शिवदास, नारायण, गोकुल, भूषण, मधुनायक, ऊधौ, अर्जुन, मतिराम हरिनायक, पुरुषोत्तम, विद्याराम, रसखान, मीरन, सुंदर, जवाहिर राय, गोस्वामी तुलसीदास, गंग, सेनापति आदि अनेक कवियों के कवित्त हैं।

(४८) ज्ञानमाला—आकार ७×४½ इंच। कागद बारीक। लिपिकार अजायब राय। लिपिकाल २ शाबान सन् ८ जुलूस मुहम्मदशाह बादशाह। लिखावट सुंदर। अपूर्ण। कुल १०२ पृष्ठ। प्रत्येक पृष्ठ पर १५ पंक्तियाँ।

प्रारंभ

राधावल्लभ श्री गनेशायनमः सहाय

जै जै अलख रूप जो अनूपा निरंकार तरु लेप सरूपा
अद्भुत आदि देव अविनासी जित गति एक जोति परगासो
परवत जल थान औ संसारा बचन एक तें कियो पसारा

अंत

अधिक पाप तातें सिर होई करौ भूल ऐसो जिन कोई
को हित अन्न वाह जो कोई धरे उठाय जो तिह फिर सोई
नित फोरवा घर वलम न लावै बिन संदेह दालिद्र आवै

(५०) कथा राजा गोपीचंद—आकार ९¾ × ६½ इंच। लिपिकार अज्ञात। कुल २७ पृष्ठ। प्रत्येक पृष्ठ पर १७ पंक्तियाँ। लिखावट सुंदर। कागज पुराना। अवस्था संतोषजनक। लिपिकाल २४ जमादि उल् अव्वल, सन् जुलूस मुहम्मद रफी उद्दरजात बादशाह गाजी।

आदि

कथा राजा गोपीचंद

जो सुख राजभवन नहिं जानू। तो भर थर तज कियो पयानू।
कहा अधम मूरख बौरानो। तजौ मुलुक मालिक पहिचानो।
बहुतन भूप बिभौ तज दीने। तज बाला माला कर लीने।
इन माया ने जग बरमाया। जिन यह तजे तिनहिं सुख पाया।

अंत

कहाँ मंगल निसिदिन मधुमाती छुरैं कपोल राम रस राती।
कहाँ तुरंग पवन अधिकाई। कहाँ असन कोमल सुखदाई।
कहाँ सूर दुर्जन दिल मोरैं। किए सभा देखूँ मैं औरें।
जेतो मैं मुख सों कही, नैन निहारे नाँह।
हम लै बर लै में हुते गौरव निखते बाँह।

*

हिंदी भाषा का उद्भवकाल और मूल स्रोत

डा० शंभुनाथ सिंह

हिंदी भाषा के उद्भव के संबंध में अधिकतर पाश्चात्य और भारतीय भाषाविदों ने जो मत व्यक्त किए हैं उन्हीं के आधार पर इस समय हिंन्दी साहित्य का अध्ययन-अध्यापन हो रहा है। हिंदी साहित्य का इतिहास लिखनेवालों ने भी उन्हीं मतों को स्वीकार कर हिंदी साहित्य का प्रारंभ काल १००० ई० के आसपास माना है। किंतु एक आश्चर्य की बात यह है कि हिंदी साहित्य के प्रायः सभी प्रमुख इतिहासकारों ने अपभ्रंश साहित्य और उसके कवियों के संबंध में भी विचार किया है। अनेक विश्वविद्यालयों में एम० ए० के पाठ्यक्रम में अपभ्रंश का भी एक प्रश्नपत्र रखा गया है। यही नहीं, हिंदी में शोध कार्य करनेवाले अनेक व्यक्तियों को अपभ्रंश साहित्य संबंधी प्रबंधों पर पी-एच० डी० की उपाधियाँ भी मिल चुकी हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भले ही भाषाविदों ने हिंदी भाषा का उद्भव तथा इतिहासकारों ने हिंदी साहित्य का प्रारंभ १००० ई० के आसपास माना हो, किंतु किन्हीं कारणों से व्यावहारिक रूप में अपभ्रंश भाषा और साहित्य को भी हिंदी के अंतर्गत ही माना जाता है। किसी भी विवेकशील व्यक्ति को यह बात असंगत प्रतीत होगी। यदि अपभ्रंश भाषा और साहित्य हिंदी के अंतर्गत हैं तो हिंदी भाषा का उद्भवकाल १००० ई० के आसपास नहीं, ५०० ई० के आसपास मानना चाहिए। और यदि अपभ्रंश भाषा हिंदी से भिन्न एक पूर्ववर्ती स्वतंत्र भाषा है तो हिंदी साहित्य के इतिहास में तथा पाठ्यक्रम और शोध कार्य के विषयों में उसके साहित्य का समावेश नहीं होना चाहिए। इस विरोधाभास और असंगति को मिटाने के लिये यह आवश्यक है कि हिंदी भाषा के उद्भय तथा भारतीय आर्यभाषाओं के विकास के संबंध में भाषाविदों ने जो मत स्थिर किए हैं उनका पुनःपरीक्षण किया जाय, और गलत मालूम पड़ने पर उनके मतों का दृढ़तापूर्वक खंडन किया जाय। हमारे देश में भाषाविज्ञान का अध्ययन अध्यापन अत्यंत रूढ़ और गतानुगतिक पद्धति से हो रहा है। यहाँ पूर्ववर्ती भाषाविदों द्वारा कही हुई बात को अंधश्रद्धालु की तरह आप्त वाक्य मानकर बिना किसी शंका के स्वीकार कर लिया जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि हिंदी के विद्वान् भी यह कहते सुने जाते हैं कि हिंदी का अर्थ केवल खड़ी बोली हिंदी है, अथवा

भोजपुरी, मगही, मैथिली, राजस्थानी आदि बोलियोंवाले भूभागों के लोगों की मातृभाषा हिंदी नहीं है। अत: यहाँ हिंदी मानी जानेवाली बोलियों के मूल स्रोत तथा इसी प्रसंग में भारतीय आर्यभाषा के विकासक्रम, कालविभाजन और नामकरण के संबंध में विचार किया जायगा।

भारतीय आर्यभाषाओं के विकास का विवेचन करते हुए भाषाविद् लोग निष्कर्ष निकालते हैं कि भारतस्थित प्राचीनतम आर्यों की वैदिक अथवा छांदस् भाषा एक ओर तो परिष्कृत और साहित्यिक होकर "संस्कृत" बन गई और दूसरी ओर लोकजीवन में स्वाभाविक रूप से विकसित होती हुई कालक्रम से पालि, प्राकृत और अपभ्रंश का रूप धारण करती हुई अंत में आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के रूप में परिणत हो गई। ये लोग ५०० ईसापूर्व तक के काल को वैदिक भाषा का काल, ५०० ई० पूर्व से १ली ई० तक के काल को पालि भाषा का काल, १ली ई० से ५०० ई० तक के काल को प्राकृत का काल, ५०० ई० से १००० ई० तक के काल को अपभ्रंश भाषा का काल और १००० ई० के बाद के काल को आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का काल मानते हैं। हिंदी साहित्य के इतिहासकारों ने भाषावैज्ञानिकों के इसी कालविभाजन को आधार मानकर हिंदी साहित्य का प्रारंभ १० ० ई० के आसपास माना है। किंतु कुछ इतिहासकार अपभ्रंश को भी आधुनिक आर्यभाषाओं के अंतर्गत ही स्वीकार करते हैं और इसीलिये हिंदी साहित्य के इतिहास का प्रारंभ ७वीं शताब्दी से मानते हैं। यहाँ भाषावैज्ञानिकों के उपर्युक्त मत का विवेचन कर लेना उचित होगा।

सुप्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का मत है कि ईसा से १५०० वर्ष पूर्व से लेकर ६०० वर्ष पूर्व तक भारतीय आर्यभाषा (छांदस् भाषा) की तीन विभाषाएँ विकसित हो गई थीं: १–उदीच्य, २–मध्यदेशीय और ३–प्राच्य। उदीच्य भाषा पश्चिमोत्तर भारत की लोकभाषा थी जो मूल छांदस् भाषा के अधिक निकट थी। संस्कृत का विकास इसी भाषा से हुआ और पाणिनि ने इसी उदीच्य भाषा का व्याकरण निर्मित करके उसे संस्कृत बना दिया। यही भाषा आगे चलकर समस्त भारत के शिक्षित ब्राह्मण धर्मावलंबियों की भाषा हो गई। प्राच्य लोकभाषा में परिवर्तन की गति अधिक तीव्र थी। इसने आर्येतर भाषाओं की अनेक बातों को स्वीकार कर लिया और कई वैदिक ध्वनिसमूहों का त्याग कर दिया। इस प्रकार क्रमशः विभिन्न प्राकृतों का विकास हुआ। ६०० ई० पू० तक अर्थात् गौतम बुद्ध के प्रादुर्भाव के कुछ वर्ष पहले पूर्वी भारत में भारतीय आर्यभाषा अपनी पूर्वावस्था का त्याग कर पूर्णतः माध्यमिकावस्था में पहुँच गई थी किंतु पश्चिमोत्तर एवं पश्चिम भारत में उदीच्य और मध्यदेशीय लोकभाषाएँ अब भी ध्वनिविचार की दृष्टि से छांदस् भाषा के अधिक निकट थीं, यद्यपि उनमें भी पर्याप्त रूपकात्मक परिवर्तन हो

गया था। डा० चाटुर्ज्या ने भारतीय आर्यभाषा की इस माध्यमिकावस्था को तीन कालों में विभाजित किया है : १-प्राचीन अथवा प्रारंभिक माध्यमिकावस्था (प्रारंभिक प्राकृत या पालि), २-संक्रांतिशील माध्यमिकावस्था (द्वितीयावस्था अथवा साहित्यिक प्राकृत) एवं ३ – तृतीयावस्था अथवा उत्तरकालीन माध्यमिकावस्था (अपभ्रंश)। उनके अनुसार १००० ई० के आसपास भारतीय आर्यभाषा ने अपने इतिहास के आधुनिक युग में प्रवेश किया और इसी कारण इस काल में विकसित आर्य-भाषाओं को आधुनिक भारतीय आर्यभाषा कहा जाता है। डा० चाटुर्ज्या द्वारा किया गया यह कालविभाजन एवं नामकरण इस प्रकार है : १-प्राचीन अथवा प्रारंभिक माध्यमिकावस्था, ६०० ई० पू० से लेकर २०० ई० तक, यह प्राकृतों की प्रारंभिक अवस्था का काल था; २-संक्रांतिशील अथवा द्वितीय माध्यमिकावस्था, १०० ई० से ५०० ई० तक, यह साहित्यिक प्राकृतों का काल था; ३-तृतीय अथवा उत्तरकालीन माध्यमिकावस्था, ५०० ई० से लेकर १००० ई० तक, यह अपभ्रंश का काल था [इंडोआर्यन एंड हिंदी, पृ० ५८ – ६०, १६२–१६४]।

हिंदी भाषा के संबंध में विचार करनेवाले प्रायः सभी भाषावैज्ञानिकों ने डा० चाटुर्ज्या द्वारा किए गए कालविभाजन और नामकरण को यथावत् स्वीकार कर लिया है। डा० धीरेंद्र वर्मा ने अपने "हिंदी भाषा का इतिहास" नामक ग्रंथ (पृ० १८) में मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा का काल ५०० ई० पू० से १००० ई० तक माना है। उन्होंने डा० चाटुर्ज्या के कालविभाजन से थोड़ा अलग हटकर कालविभाजन किया है, जो ग्रियर्सन, पिशेल, हार्नले आदि पाश्चात्य भाषाविदों के मत के अनरूप है। उनके अनुसार पहली अवस्था में पाली तथा अशोक की धर्म-लिपियों का काल (५०० ई० पू० से १ ई० पू०), द्वितीय अवस्था में साहित्यिक प्राकृत भाषाओं का काल (१ ई० से ५०० ई० तक) और तृतीयावस्था में अपभ्रंश-भाषाओं का काल (५०० ई० से १००० ई० तक) आता है। हिंदी भाषा के अन्य इतिहासकारों ने भी थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ इसी कालविभाजन को दुहराया है। उदाहरण के लिये डा० उदयनारायण तिवारी ने अपने ग्रंथ "हिंदी भाषा का उद्गम और विकास" (पृष्ठ ६०) में मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के विकासक्रम को तीन पर्वों में इस प्रकार बाँटा है : १-प्रथम पर्व २०० ई० पू० से २०० ई० तक, २-द्वितीय पर्व २०० ई० से ६०० ई० तक, तथा ३-तृतीय पर्व ६०० ई० से १००० ई० तक (अपभ्रंश काल)।

इस प्रकार प्रायः सभी भाषावैज्ञानिकों ने अपभ्रंश नामक एक स्वतंत्र भाषा की सत्ता स्वीकार की है और उसका काल प्रायः ५०० ई० से १००० ई०

तक माना है। यदि उनकी यह मान्यता सही है तो अनिवार्यतः यह स्वीकार करना पड़ेगा कि हिंदी भाषा का जन्म १००० ई० के आसपास हुआ होगा। किंतु यह 'यदि' बहुत बड़ा 'यदि' है, जिसे यहाँ भाषाविदों के उपर्युक्त मतों के सामने प्रश्न-चिह्न के रूप में उपस्थित किया जा रहा है। भाषाविदों द्वारा किया गया उपर्युक्त समस्त कालविभाजन अनुमानाश्रित और फलस्वरूप मनमाना है। प्राचीन साहित्य, शिलालेख, दानपत्र, सिक्के, आदि की भाषा के आधार पर यह निश्चित रूप से तथा पूर्ण विश्वास के साथ नहीं कहा जा सकता कि उनमें प्रयुक्त भाषा किस विशेष काल के सामान्य लोगों की बोलचाल की भाषा थी। अगर यह ज्ञात भी हो जाय कि कोई भाषा किस काल के लोगों की बोलचाल की भाषा थी तो यह पता लगाना तो नितांत असंभव है कि उस भाषा का जन्म कब हुआ था। भाषाओं का जन्म प्राणियों के जन्म जैसा नहीं होता, उनका विकास होता है और उस विकास की कोई एक तिथि नहीं होती। विकास के अंतर्गत उद्भव, वृद्धि, और उत्कर्ष की अवस्थायें आती हैं। किसी भाषा का उद्‌भव एक दो दिन में नहीं, सैकड़ों वर्षों में होता है और कोई भी व्यक्ति अपने जीवनकाल में उस उद्‌भव की क्रिया को देख नहीं सकता। भाषाओं का उद्‌भव अदृश्य तथा सतत रूपपरिवर्तन की क्रिया है। किसी भाषा के उद्‌भव का अर्थ यह है कि कोई अन्य भाषा अपना रूप विकृत करके इस नवीन भाषा के रूप में बदल गई है। यह रूपपरिवर्तन द्वंद्वात्मक या गत्यात्मक ढंग से होता है। कोई बोलचाल की भाषा अन्य भाषाओं के संपर्क में आकर तथा अन्य जातियों की संस्कृति और सभ्यता से प्रभावित होकर सहज भाव से नवीन ध्वनिसमूहों, नए अर्थबोधक शब्दों, और नवीन उच्चारण पद्धतियों को ग्रहण करती तथा इस तरह अपने रूप में सतत परिवर्तन करती चलती है। यह क्रिया बहुत धीरे धीरे और अज्ञात रूप में होती रहती है। इस दृष्टि से विचार करने पर यह कहना कि हिंदी भाषा का उद्भव १००० ई० के आसपास हुआ और दूसरी ओर यह भी कहना कि हिंदी साहित्य का आदिकाल १००० ई० से प्रारंभ होता है, परस्पर विरोधी कथन हैं। किसी नई भाषा के विकसित हो जाने के कई सौ वर्षों बाद ही उसमें साहित्य का निर्माण हुआ करता है, नवीन भाषा सदा लोककंठ में ही विकसित होती है, वह किसी विशेष समाज की बोलचाल की भाषा होती है। उस समाज के शिष्ट वर्ग के लोग पूर्ववर्ती भाषा को ही तब तक साहित्य, ज्ञानविज्ञान आदि की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में अपनाए रहते हैं जब तक उन्हें किसी धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक या सांस्कृतिक दबाव से विवश होकर अपने समाज के सामान्य लोगों की बोलचाल की भाषा को उपर्युक्त कार्यों के लिये अपनाने की अनिवार्यता नहीं हो जाती। किसी भाषा के साहित्य के उद्भवकाल के संबंध में विचार करते समय इन सभी बातों पर विचार करना आवश्यक है।

भाषा के रूपपरिवर्तन की प्रक्रिया—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, भाषा के परिवर्तन की क्रिया द्वंद्वात्मक रूप में और बहुत धीरे धीरे होती है। नई जातियों और भिन्न संस्कृतियों के साथ होनेवाले संघर्ष और संपर्क के कारण तथा कालप्रवाह की गति के कारण बोलचाल की भाषा का रूप घिसता और मँजता हुआ तथा नवीन ध्वनियों, स्वराघातों और शब्दों को ग्रहण करता हुआ क्रमशः परिवर्तित होता जाता है। जब तक ये परिवर्तन कम मात्रा में तथा पहचानने योग्य रहते हैं तब तक तो भाषा वही बनी रहती है, किंतु जब परिवर्तन की मात्रा इतनी अधिक हो जाती है कि उस भाषा के पूर्ववर्ती रूप अथवा उसके परिनिष्ठित रूप से उसके इस नवीन परिवर्तित रूप के बीच बहुत अधिक दूरी हो जाती है, तो इस नवीन रूप को नई भाषा की संज्ञा दी जाने लगती है। इस तरह "भूत" के समान भाषा में भी मात्रात्मक परिवर्तन ही गुणात्मक परिवर्तन बन जाता है। इसका अर्थ यह है कि कोई भाषा उस समय नवीन भाषा के रूप में पहचानी जाती है जब वह अपने अधिकांश पूर्ववर्ती गुणों या विशेषताओं को छोड़ देती है और उसमें नवीन विशेषताएँ संनिविष्ट हो जाती हैं। इस तरह मात्रात्मक परिवर्तन से गुणात्मक परिवर्तन होने में बहुत अधिक समय लगता है। जब तक मात्रात्मक परिवर्तन की क्रिया चलती रहती है किसी भाषा के वैयाकरण उसके पूर्ववर्ती परिनिष्ठित रूप के गुणों (नियमों) का ही उल्लेख करते तथा उसके परिवर्तनशील रूप के गुणों का अपवाद रूप में परिगणन करते हैं। इन अपवादों की संख्या धीरे धीरे इतनी बढ़ जाती है कि वे स्वयं नियम बन जाते हैं। ये अपवाद जिस भाषा के नियम बन जाते हैं। वह पूर्ववर्ती भाषा नहीं, एक नई भाषा होती है।

परंपरागत कालविभाजन की त्रुटियाँ--यहाँ प्रश्न यह है कि पाश्चात्य तथा भारतीय भाषावैज्ञानिकों ने भारतीय आर्यभाषाओं के विकासक्रम का विश्लेषण करते हुए विभिन्न भाषाओं का जो कालनिर्धारण किया है उसमें क्या उपर्युक्त परिवर्तन प्रक्रिया की लंबी अवधि का ध्यान रखा है वैदिक काल के कालनिर्धारण के लिये उनके पास कोई ऐतिहासिक आधार नहीं है। पाणिनि का काल ५०० ई० पू० है। इसी समय गौतम बुद्ध भी हुए थे जिनके काल की लोकभाषा पालि थी अतः यह मानना पड़ेगा कि वैदिक भाषा ५०० ई० पू० के भी सैकड़ों वर्ष पूर्व अपने पूर्वरूप को छोड़कर एक ओर तो साहित्यिक लौकिक संस्कृत बन चुकी थी और दूसरी ओर उसने लोकभाषा पालि का रूप धारण कर लिया था। इस दृष्टि से वैदिक भाषा के काल का अंतिम छोर १००० ई० पू० होना चाहिए। इस मत की पुष्टि के लिये हमारे पास बहुत अधिक तर्क हैं, किंतु प्रकृत

विषय से भिन्न होने के कारण यहाँ उनके लिये अवकाश नहीं है। यहाँ इस संबंध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि विभिन्न भारतीय आर्यभाषाओं के काल का निर्णय पाश्चात्य भाषावैज्ञानिकों ने या तो अज्ञानवश या जान बूझकर भारतीय संस्कृति और साहित्य को अर्वाचीन सिद्ध करने की दृष्टि से किया है और इसीलिये उन्होंने विभिन्न भाषाओं की अवधि बहुत परवर्ती काल में निर्धारित की है। खेद का विषय है कि भारतीय भाषाविदों ने भी कालनिर्णय के संबंध में उन पाश्चात्य पूर्वाग्रही भाषाविदों का ही अंधानुसरण किया है। ग्रियर्सन जैसे भाषाविद् ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की औपनिवेशिक नीति के अनुरूप भारत को सैकड़ों भाषाओं का देश सिद्ध करने का अथक प्रयत्न किया। उन्होंने भारतीय आर्यभाषाओं को अंतरंग और बहिरंग वर्गों में बाँटकर विभिन्न प्रांतों के भाषाभाषियों को एक दूसरे से दूर रखने का उद्योग किया और प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं का कालविभाजन इस तरह किया, मानो भारत में कोई अविच्छिन्न भाषाप्रवाह था ही नहीं। सभी भाषावैज्ञानिकों ने बराबर यही दिखाने का प्रयत्न किया है कि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ प्राचीनतम वैदिक भाषा से कितनी दूर होती जा रही हैं। किसी ने यह नहीं दिखाया कि ये आधुनिक भाषाएँ वैदिक भाषा तथा अन्य प्राचीन भाषाओं से कितनी निकट हैं। भाषाविज्ञान के आधार पर तथा व्याकरण के नियमों में भिन्नता देखकर यदि दो भाषाओं को भिन्न भिन्न कह दिया जाय तो यह मानना होगा कि भारत ऐसी हजारों भाषाओं का विशाल जंगल है जिनमें परस्पर बहुत दूरी है। ऐसे देश के लोग कभी भी मिलकर नहीं रह सकते क्योंकि भाषा की दूरी बहुत बड़ी दूरी होती है। इसी तरह उपर्युक्त नियम के अनुसार यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि भाषा के समान ही भारतीय संस्कृति का कोई अविच्छिन्न प्रवाह नहीं रहा है क्योंकि यहाँ विभिन्न परस्पर विरोधी जातियों और संस्कृतियों का असामंजस्यपूर्ण संघर्ष और संपर्क होता रहा है। किंतु यह मान्यता ऐतिहासिक दृष्टि से कितनी गलत और राष्ट्रीय दृष्टि से कितनी घातक है, यह बताने की आवश्यकता नहीं। वस्तुतः देश में एकता के तत्वों को प्रत्येक क्षेत्र में ढूँढना आज की सबसे बड़ी राष्ट्रीय आवश्यकता है।

अतः आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय आर्यभाषाओं के इतिहासक्रम-संबंधी कालविभाजन के लिये नए सिरे से प्रयत्न किया जाय। इस दृष्टि से सर्वप्रथम यह बात ध्यान देने की है कि वेबर, हार्नले, ग्रियर्सन आदि कुछ भाषाविदों ने भारतीय आर्यभाषा के इतिहास को जिस विकृत रूप में उपस्थित किया और उससे जो भ्रम उत्पन्न हुआ उसका निराकरण किया जाय और उन भाषाओं तथा उनके साहित्य के इतिहास पर नए सिरे से तथा भारतीय दृष्टि से

विचार किया जाय। उक्त विद्वान् वैदिक भाषा का काल बहुत पीछे हटाकर उसे यूनानी और लातीनी भाषा का समकालीन सिद्ध करना चाहते हैं और इसीलिये संस्कृत को वे परवर्ती काल की कृत्रिम भाषा मानते हैं जो उनके अनुसार कभी भी बोलचाल की भाषा नहीं थी। संतोष की बात है कि रामकृष्ण भंडारकर, पी० डी० गुणे, विंटरनित्स, पिटर्सन और सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या जैसे विद्वानों ने उनके मतों का खंडन करके संस्कृत को वैदिक भाषा का ही परवर्ती रूप माना है। विंटरनित्स, गुणे आदि विद्वानों का कथन है कि परवर्ती संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रंथों और आरण्यकों की भाषा लौकिक संस्कृत का प्राचीन रूप है और पाणिनि (५०० ई० पू०) ने उसी भाषा के नियमों का निरूपण किया था। यह भाषा पश्चिमोत्तर भारत के तत्कालीन आर्यों की साहित्यिक भाषा थी जिसे समस्त आर्य-भारत में समझा जाता था। गुणे का कथन है कि उस काल में विभिन्न प्रदेशों की जनभाषाएँ भारत के मूल निवासियों से संपर्क के कारण साहित्यिक भाषा (लौकिक संस्कृत) से कुछ भिन्न हो गई थीं। गौतम बुद्ध ने ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी में इन्हीं जनभाषाओं के एक रूप पालि में उपदेश दिए। इस तरह परवर्ती वैदिक भाषा अर्थात् संस्कृत भाषा के साथ साथ उसकी भगिनी जनबोलियाँ भी प्रचलित थीं। गुणे ने गजकुंभ जातक के एक अंश का उदाहरण देकर यह सिद्ध किया है कि पालि भाषा की ध्वनि संबंधी कुछ बातें संस्कृत से भिन्न हैं किंतु दोनों के शब्दरूपों और वाक्यसंघटना में असाधारण साम्य है।

गुणे के कथन के साक्ष्य पर यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि पालि भाषा जो प्राचीनतम प्राकृत का एक रूप थी, गौतम बुद्ध के समय से सैकड़ों वर्ष पूर्व से ही वर्तमान रही होगी। तभी तो वह गौतम बुद्ध, अशोक और मिलिंद (मीनांडर) के समय में, अर्थात् ५०० ई० पू० तक, साहित्य और धर्म की भाषा के रूप में व्यवहृत होती रही। कोई भाषा जब पूर्णतः विकसित हो जाती है तभी उसमें साहित्य रचा जाता है और जब वह भाषा लोककंठ में विकसित होती हुई नवीन भाषा का रूप धारण कर लेती है तब भी धार्मिक और साहित्यिक परंपरा के निर्वाह के लिये उस पूर्ववर्ती भाषा में रचना होती रहती है। अतः यह मानना पड़ेगा कि भारतीय आर्यभाषा की प्रारंभिक अवस्था ५०० ई० पू० तक या उसके भी बाद तक बना रही किंतु उसकी माध्यमिकावस्था का प्रारंभ १००० ई० पू० के आसपास हो गया था और वह माध्यमिकावस्था १००० ई० के आसपास तक बनी रही। माध्यमिकावस्था की प्रथम आर्यभाषा पालि (प्रादेशिक लोकभाषाएँ) ही परिवर्तित होकर विभिन्न प्राकृत भाषाओं में परिणत हो गई। यह परिवर्तन निश्चय ही बहुत लंबे समय में हुआ होगा, अर्थात् जिस समय पालि साहित्य अपने उत्कर्ष पर था उसी समय प्राकृतों का विकास शुरू हो गया

था। जैसा पहले कहा जा चुका है, विकास के अंतर्गत उद्भव और वृद्धि ये दोनों अवस्थाएँ आती हैं। जिस समय एक भाषा वृद्धि की अवस्था में रहती है, उस समय द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार उस भाषा के भीतर से ही एक अन्य भाषा जन्म लेने लगती है। इस प्रकार दो या तीन भाषाएँ एक ही साथ उसी प्रकार चलती रहती हैं जिस प्रकार माता, पुत्री और दौहित्री तीनों एक साथ एक काल में ही जीवित रह सकती हैं।

भारतीय आर्यभाषाओं का कालविभाजन—इस दृष्टि से विचार करने पर भारतीय आर्यभाषाओं के इतिहास का कालविभाजन पूर्ववर्ती भाषा-वैज्ञानिकों के साक्ष्य के आधार पर ही निम्नलिखित रूप में किया जा सकता है :

१—प्रारंभिक भारतीय आर्यभाषा की पूर्वावस्था (छांदस् भाषा) का काल—अज्ञात काल से ५०० ई० पू० तक।

२—प्रारंभिक भारतीय आर्यभाषा की उत्तरावस्था के साहित्यिक रूप—संस्कृत का काल—१००० ई० पू० से अब तक।

३—माध्यमिक भारतीय आर्यभाषा की पूर्वावस्था (पालि भाषा) का काल—१००० ई० पू० से १ ई० सन् के प्रारंभ तक।

४—माध्यमिक भारतीय आर्यभाषा की उत्तरावस्था (प्राकृत भाषाओं का काल)—५०० ई० पू० से १००० ई० तक।

५—आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं (प्रांतीय भाषाओं) की पूर्वावस्था (संक्रांति) का काल—४०० ई० से १००० ई० तक।

६—आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की उत्तरावस्था—७०० ई० से अब तक।

इस कालविभाजन में निम्नलिखित बातों का ध्यान रखा गया है :

१—भाषाओं का कालविभाजन भौगोलिक सीमाविभाजन की तरह नहीं होता। भौगोलिक सीमा के एक ओर एक देश तथा दूसरी ओर दूसरा देश होता है, किंतु भाषाओं की कालसीमाएँ एक दूसरे के कुछ भागों को आवृत करती हैं क्योंकि भाषाएँ एक दूसरे की पूर्वजा या वंशजा होकर भी समकालवर्तिनी होती हैं। उदाहरणार्थ संस्कृत भाषा माध्यमिक भारतीय आर्यभाषाओं की पूर्वजा होकर भी अपनी प्रजाओं के साथ साथ वर्तमान रही है और है। वह आज भी जीवित भाषा है।

२—वैदिक कालीन आर्यभाषा से लेकर आधुनिक कालीन आर्यभाषाओं के बीच परस्पर इतना घनिष्ठ संबंध है कि एक भाषा को जाननेवाले थोड़े ही

परिश्रम से अन्य भाषाओं को समझ सकती है। यदि आधुनिक व्यक्ति को संस्कृत भाषा का ज्ञान है तो उसे वैदिक भाषा को समझने में भी अधिक कठिनाई नहीं हो सकती, यद्यपि वह आधुनिक भाषाओं से बहुत दूर पड़ चुकी है। इसका कारण यह है कि ये सभी भाषाएँ परंपरा के एक ही सूत्र में दृढ़तापूर्वक आबद्ध हैं।

३—किसी भाषा के जीवनकाल का प्रारंभ तभी से मानना चाहिए जब पूर्ववर्ती भाषा में इस नई भाषा के विकास के अंकुर स्पष्ट दिखाई पड़ने लगें। इस तरह यह नवीन भाषा धीरे धीरे विकसित होकर प्रौढ़ता एवं वृद्धता की अवस्था प्राप्त करती और अंत में ह्रासशील होकर समाप्त हो जाती है। पहले वह लोककंठ में समाप्त होती है और बाद में साहित्यक्षेत्र में। अतः किसी भाषा का जीवनकाल उसके उद्भव से लेकर उसकी समाप्ति तक की अवधि को मानना चाहिए।

इस कालविभाजन के ऐतिहासिक आधार पर भी विचार कर लेना समीचीन होगा। प्राचीनतम भारतीय आर्यभाषा भारोपीय आर्यभाषा परिवार की भारत ईरानी शाखा की एक उपशाखा थी, इसे प्रायः सब स्वीकार करते हैं। किंतु वह भाषा जिन आर्यों की भाषा थी वे किस काल में थे, भारत के मूल निवासी थे या बाहर से भारत में आए थे, यदि बाहर से आए तो कितनी बार में, कब कब और किन किन रास्तों से होकर आए, इन सब प्रश्नों को लेकर प्राच्यविद्याविदों, भाषावैज्ञानिकों और इतिहासकारों में परस्पर बहुत अधिक मतभेद है। कोई आर्यों को भारत का मूल निवासी बताता है तो दूसरा मध्य एशिया, काकेशस प्रदेश और उत्तरी ध्रुवप्रदेश का मूल निवासी सिद्ध करता है। एक विद्वान् भारत में आर्यों का आगमनकाल १५००० वर्ष ई० पू० मानता है तो दूसरा ५००० ई० पू०। पाश्चात्य प्राच्यविद्याविदों ने प्रायः उनके आगमन की तिथि बहुत बाद में मानी है। पर वे भी एकमत नहीं हैं। कोई उस आगमनकाल को २००० ई० पू० मानता है तो दूसरा १५०० ई० पू०। इस संबंध में डाक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या जैसे प्रख्यात भारतीय विद्वान् ने भी पाश्चात्य विद्वानों का अनुकरण करते हुए जो मत व्यक्त किया है वह आश्चर्यजनक ही नहीं, भारतीय संस्कृति के प्रेमियों को ठेस पहुँचानेवाला है। उनका मत नीचे उद्धृत किया जा रहा है :

हम ठीक ठीक नहीं बता सकते कि आर्य भारत में कब आए। इस संबंध में विभिन्न अनुमानित कालों का विद्वानों ने उल्लेख किया है। अधिक लोकप्रिय मत यह है कि आर्यों का आगमनकाल २००० ई० पू० था। इन पंक्तियों के लेखक का विश्वास है कि भारत में आर्यों के आगमन का काल किसी भी तरह १५०० ई० पू० से पहले नहीं सिद्ध किया जा सकता, बल्कि वह उससे कुछ शताब्दी बाद ही हो सकता है। आर्य जाति जो एक अर्ध चरवाहा जाति थी, अपने

मूल स्थान से जो अभी एक समस्या बना हुआ है, भारत में आई। वह मूल-स्थान रूस स्थित युरेशिया के मैदान में कहीं था जहाँ से वे संभवतः काकेशस पर्वत, उत्तरी मैसोपोटामिया और ईरान के रास्ते से होकर भारत में आए। वे कुछ शताब्दियों तक उत्तरी मैसोपोटामिया और ईरान में रहने के बाद भारत में आए थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इन प्रदेशों में रहकर उन्होंने असिरियन, बेबीलोनियन तथा अन्य सभ्य जातियों की संस्कृति का बहुत कुछ अंश ग्रहण कर लिया और यह भी संभव है कि कुछ स्थानीय जातीय तत्वों के संमिश्रण के कारण आर्यजाति में बहुत कुछ परिवर्तन घटित हुआ। जब ये भारत में आए उस समय यह देश पहले से ही आबाद था।"

(इंडो-आर्यन ऐंड हिंदी, पृष्ठ—१५६)

डा० चाटुर्ज्या आर्यों को एक अर्धसभ्य जाति मानते हैं। वेदों, विशेषकर ऋग्वेद का अनुशीलन करनेवाला कोई भी विचारवान् व्यक्ति डा० चाटुर्ज्या से सहमत नहीं हो सकता। वैदिक मंत्रों में जिस सभ्यता की अभिव्यक्ति हुई है वह किसी अर्धसभ्य जाति की नहीं, अत्यधिक उन्नत और विचारशील जाति की सभ्यता थी। ऋग्वेद के मंत्रों की भाषा तथा परवर्ती संहिताओं, विशेषकर अथर्ववेद की भाषा में छंदविधान और शैली में पर्याप्त अंतर हो गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि ऋग्वैदिक मंत्रों और अथर्ववेद के मंत्रों के निर्माणकाल में हजारों वर्ष का अंतर है। अथर्ववेद की भाषा ब्राह्मण ग्रंथों और आरण्यकों की भाषा के बहुत निकट है। वेदांगों, षड्दर्शनों और उपनिषदों की भाषा उपर्युक्त परवर्ती वैदिक साहित्य से पर्याप्त दूर है। फिर भी उनकी भाषा में तथा पाणिनीय संस्कृत में जो दूरी है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि पाणिनि तथा रामायण महाभारत के काल के कम से कम ५०० वर्ष पूर्व उन वेदांगों की रचना हो चुकी थी। वेदांगों और षड्दर्शनों से भी कम से कम ५०० वर्ष पूर्व अथर्ववेद तथा ब्राह्मणों आरण्यकों की रचना हुई होगी। अथर्ववेद और ब्राह्मण आरण्यक तथा ऋग्वेद के परवर्ती मंत्रों की भाषा में ५०० वर्षों का अंतर रहा होगा। ऋग्वेद के प्राचीनतम मंत्र उसके परवर्ती मंत्रों से यदि ५०० वर्ष पहले के माने जायँ तो इस तरह उनका रचनाकाल पाणिनि (५०० ई० पू०) से २००० वर्ष पहले अर्थात् २५०० ई० पू० के आसपास मानना होगा। किंतु यह कालनिर्णय केवल भाषा के आधार पर किया गया है। वैदिक संस्कृति के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर ऋग्वेद का रचनाकाल और भी पहले स्थिर किया जा सकता है, जैसा पिटर्सन, विंटरनित्स आदि ने किया है। विंटरनित्स ने बहुत ही सुदृढ़ प्रमाणों के आधार पर मैक्समूलर और उसके अंध मतानुयायियों का खंडन करते हुए तथा याकोबी और तिलक के ज्योतिष पर आधारित मतों की विवेचना करते हुए

भाषावैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय और ऐतिहासिक आधार पर यह सिद्ध किया है कि "वैदिक वाङ्मय के किसी भी अंग को हम ५०० ई० पू० से इधर किसी भी हालत में नहीं ला सकते, और सुविधा के लिये यदि १२०० या १५०० ई० पू० को हम वैदिक वाङ्मय का आरंभबिंदु मानें तो यह उचित न होगा, क्योंकि वैदिक साहित्य की वह विपुलता केवल ७०० वर्षों की छोटी अवधि में नहीं प्राप्त हो सकती थी। अतः इस महान् साहित्यिक युग का श्रीगणेश २५००-२००० ई० पू० में हुआ और अंत ७५०-५०० ई० पू० में। ऐसा मानने से हम दोनों प्रकार की अतियों से बच जाते हैं; इससे न तो वेद इतने प्राचीन हो जाते हैं कि उनमें पौरुषेयता का अंश निपट दुर्लभ हो जाय और न इतने अर्वाचीन ही कि उनकी साहित्यिक संगति निपट आधुनिक या अवैदिक प्रतीत होने लगे।"

विंटरनित्स : प्राचीन भारतीय साहित्य, पृष्ठ २३७

विंटरनित्स के इस विद्वत्तापूर्ण विवेचन और निष्पक्ष निष्कर्ष का आधार लेकर डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के उपर्युक्त कालविभाजन को आसानी से एकदम काल्पनिक और अनुत्तरदायित्वपूर्ण सिद्ध किया जा सकता है क्योंकि उन्होंने अपनी मान्यताओं के लिये तर्क नहीं दिए हैं। एक बार वैदिक भाषा का प्रारंभ १५०० ई० पू० मान लेने पर वे बड़ी आसानी से वैदिककाल की अवधि १००० वर्ष निर्धारित कर देते हैं और फिर गौतम बुद्ध के समय के बाद से ५-५ सौ वर्षों की अवधि को क्रमशः माध्यमिक भारतीय आर्यभाषाओं की तीनों अवस्थाओं—पालि, प्राकृत और अपभ्रंश—का काल निर्धारित करते जाते हैं। यह सब उन्होंने उसी सरलता से किया है जैसे बनियाँ गल्ला तौलता है। एक अनुभवी भाषावैज्ञानिक होते हुए भी उन्होंने भाषाओं की विकासप्रकृति और उस विकासक्रिया के लंबे कालों की ओर बिल्कुल ध्यान नहीं दिया है। ऊपर भारतीय आर्यभाषाओं के विकासक्रम और इतिहास का जो कालविभाजन किया गया है उससे डा० चाटुर्ज्या तथा उनके पदचिह्नों पर चलनेवाले अन्य भाषाविदों द्वारा किए गए कालविभाजन की त्रुटियों का निराकरण हो जाएगा।

यद्यपि ऐतिहासिक अथवा पुरातात्विक प्रमाणों के अभाव में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि आर्य भारत में बाहर से ही आए, और आए भी तो कब आए, तथापि भाषागत प्रमाणों के आधार पर इतना विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि ऋग्वेद के प्राचीनतम मंत्रों की भाषा ईसा से २५०० वर्ष पूर्व विकसित हो चुकी थी। उसका उद्भव किस मूल स्रोत से और किस साल में हुआ था, यह बताने का अभी कोई उपाय नहीं है। विंटरनित्स तथा अन्य सभी

प्राच्यविद्याविदों ने गौतम बुद्ध के समय तक वैदिक भाषा का काल माना है जो इस अर्थ में ठीक प्रतीत होता है कि पाणिनि और यास्क के समय तक वैदिक भाषा संस्कृत भाषा तथा पालि भाषा को जन्म देकर ह्रासशील हो गई थी। जैन तथा बौद्ध धर्मांदोलनों के कारण वह अव्यवहृत होकर समाप्त हो गई। संस्कृत और पालि ५०० ई० पू० के आस पास इतनी विकसित भाषाएँ थीं कि उनका उद्भवकाल उस समय से ५०० वर्ष पूर्व अर्थात् १००० ई० पू० के आस पास मानना आवश्यक है। जैन और बौद्धधर्म उपनिषदों के ज्ञानकांड और षड्दर्शनों में से सांख्यदर्शन से प्रभावित हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि प्राचीन संस्कृत भाषा में लिखित उपनिषद् और षड्दर्शन ५०० ई० पू० के बहुत पहले निर्मित हो चुके थे। संस्कृत के विकसनशील महाकाव्यों, रामायण और महाभारत के रचनाविकास का प्रारंभ भी इसी काल में हो गया था। अतः संस्कृत भाषा का उद्भव १००० ई० पू० के आस पास प्रारंभ हुआ होगा। यह भाषा आज भी एक जीवित भाषा है क्योंकि लाखों व्यक्तियों द्वारा धर्म और संस्कृति की भाषा के रूप में व्यवहृत होती है और आज भी इसमें साहित्य की रचना होती जा रही है। संस्कृत भाषा की अनेक पत्रपत्रिकाएँ भी प्रकाशित हो रही हैं जो इस भाषा की जीवितावस्था को प्रमाणित करती हैं।

पालि भाषा का उद्भव और विकास ईसवी सन् के पहले ही पूर्ण रूप से हो चुका था। इसका प्रमाण समस्त बौद्ध पालि साहित्य है। कुषाण काल तक बौद्ध धर्म अपने विकास के चरम शिखर पर था और उसके बाद भारत में उसका उत्तरोत्तर ह्रास होता गया, यहाँ तक कि ६ठी ७वीं शताब्दी में वह भारत का प्रमुख धर्म नहीं रह गया। परवर्ती बौद्ध विद्वान् संस्कृत भाषा में ग्रंथों की रचना करने लगे। कनिष्क के समकालीन कवि अश्वघोष ने संस्कृत भाषा में ग्रंथरचना की है। उसके बाद से ही महायानी बौद्धों ने संस्कृत भाषा में ग्रंथ लिखना प्रारंभ कर दिया। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि ई० सन् के प्रारंभ तक पालि भाषा पर्याप्त ह्रासशील होकर केवल धर्मग्रंथों की भाषा हो गई थी। इसका अर्थ यह होता है कि माध्यमिक भारतीय आर्यभाषा की दूसरी अवस्थावाली प्राकृतों का उद्भवक्रम ईसा से काफी पहले, अनुमानतः ५०० ई० पू० के आस पास, प्रारंभ हो गया था। इस दृष्टि से भाषाविदों का यह कथन कि इन प्राकृतों का प्रारंभ पहली ईसवी के आस पास हुआ, समीचीन नहीं है। जैनधर्म के प्राचीनतम ग्रंथ प्राकृत भाषा में हैं जो ई० सन् के प्रारंभ के आस पास लिखे जाने लगे थे। विमल सूरि का "पउम-चरिय" ३री शताब्दी में लिखा हुआ महाकाव्य है। प्राकृत का प्रसिद्ध ग्रंथ 'गाथासप्तसती' (गाहा सत्तसई) भी इसी काल की रचना है। ई० के ५वीं शताब्दी तक प्राकृत भाषा बोलचाल की भाषा बनी रही, किंतु

उसके बाद भी जैनधर्मावलंबी कवियों तथा अन्य कवियों द्वारा उस भाषा में प्रभूत मात्रा में साहित्यरचना होती रही जिससे प्रमाणित होता है कि दसवीं शताब्दी तक प्राकृत भाषा को समझने और बोलनेवालों की कमी नहीं थी। संस्कृत नाटकों में बराबर प्राकृतों का प्रयोग होता रहा और ये नाटक जनता के बीच अभिनीत भी होते थे; इससे यह स्वतःसिद्ध है कि प्राकृत भाषा बहुत बाद तक जीवित भाषा बनी रही। इसी कारण हमने प्राकृत भाषा का काल ५०० ई० पू० से १००० ई० तक माना है।

भाषावैज्ञानिकों ने ५०० ई० से १००० ई० तक के काल को अपभ्रंश भाषा का काल तथा १००० ई० के बाद के काल को आधुनिक भाषाओं का काल माना है। हमारे विचार से यह कालविभाजन अवैज्ञानिक और निराधार है। वस्तुतः अपभ्रंश भाषा कोई स्वतंत्र भाषा नहीं है, वह उस संक्रांति काल की भाषा है जिसमें प्राकृत भाषाएँ अपना पूर्वरूप खोकर आधुनिक भाषाओं के रूप में परिणत हो रही थीं। अधिकांश कवियों और वैयाकरणों ने प्राकृत के प्रसंग में तत्कालीन बोलचाल की भाषा को अपभ्रंश, अवहट्ठ अथवा देशी भाषा का नाम दिया है। किंतु इस अपभ्रंश या देशी भाषा में ७वीं शताब्दी से १४वीं शताब्दी तक जो ग्रंथ लिखे गए हैं उनकी भाषा तीन प्रकार की है: १—वह भाषा जो प्राकृत के बहुत निकट है, २ — वह भाषा जो कई आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं, विशेषकर हिंदी की विभिन्न उपभाषाओं के बहुत निकट है, ३—वह भाषा जिसकी स्थिति इन दोनों के बीच की है अर्थात् जो प्राकृत से भी उतनी ही निकट है जितनी आधुनिक भाषाओं से। पहले कहा जा चुका है कि हिंदी भाषा और साहित्य के इतिहास के संबंध में विचार करनेवालों के एक वर्ग ने अपभ्रंश को प्राकृत के बाद प्रचलित होनेवाली एक स्वतंत्र भाषा माना है और उसका काल ५०० ई० से १००० ई० तक निर्धारित किया है। दूसरा वर्ग अपभ्रंश को आधुनिक भाषाओं के ही अंतर्गत मानता है, और इस तरह आधुनिक भाषाओं का काल ६ठी ७वीं या ८वीं शताब्दी से प्रारंभ करके अब तक के काल को मानता है। यदि पहले वर्ग का मत सही है तो विचारणीय प्रश्न यह है कि १००० ई० से १४०० ई० तक तथाकथित अपभ्रंश भाषा में इतने अधिक ग्रंथ क्यों लिखे गए जबकि उसका काल १००० ई० तक ही समाप्त हो गया था? साथ ही हिंदी भाषा में १००० ई० से १३०० ई० तक के लिखे गए ग्रंथ क्यों नहीं मिलते जबकि उस भाषा का प्रारंभ १००० ई० के आस पास हो गया था। सच बात यह है कि उक्त भाषाविदों की यह धारणा ही भ्रमपूर्ण है कि किसी भाषा या साहित्य का प्रारंभ किसी एक तिथि के आस पास होता है। पहले कहा जा चुका है कि किसी भाषा को विकसित और स्वतंत्र रूप प्राप्त करने के सैकड़ों वर्ष

पूर्व ही उसके उद्भव की क्रिया प्रारंभ हो जाती है। यदि हिंदी भाषा या अन्य भारतीय आर्यभाषाओं का विकसित रूप हमें १२वीं १३वीं और १४वीं शताब्दी में मिलता है तो निश्चय ही उसके उद्भव का प्रारंभ ६ठीं ७ वीं शताब्दी में हो गया होगा।

किंतु हिंदी के मान्य भाषाविद् तो जैसे तुले बैठे हैं कि हिंदी को अधिकाधिक परवर्ती काल की भाषा सिद्ध किया जाय। डा० धीरेंद्र वर्मा ने इस संबंध में लिखा है :

"इनकी (वर्तमान आर्यभाषाओं की) उत्पत्ति प्राकृत भाषाओं से नहीं हुई थी बल्कि अपभ्रंशों से हुई थी। शौरसेनी अपभ्रंश से हिंदी, राजस्थानी, पंजाबी गुजराती और पहाड़ी भाषाओं का संबंध है। इनमें से गुजराती और राजस्थानी का संपर्क शौरसेनी के नागर अपभ्रंश के रूप से अधिक है। बिहारी, बँगला, आसामी और उड़िया का संबंध मागध अपभ्रंश से है। पूर्वी हिंदी का अर्धमागधी अपभ्रंश से तथा मराठी का महाराष्ट्री अपभ्रंश से संबंध है। वर्तमान पश्चिमोत्तरी भाषाओं का समूह शेष रह गया। भारत के इस विभाग के लिये प्राकृतों का कोई साहित्यिक रूप नहीं मिलता। सिंधी के लिये वैयाकरणों को व्राचड़ अपभ्रंश का सहारा अवश्य है। लहँदा के लिये एक केकय अपभ्रंश की कल्पना की जा सकती है। पंजाबी का संबंध भी केकय अपभ्रंश से होना चाहिए किंतु बाद को इसपर शौरसेनी अपभ्रंश का प्रभाव बहुत पड़ा है। पहाड़ी भाषाओं के लिये खस अपभ्रंश की कल्पना की गई है किंतु बाद को ये राजस्थानी से बहुत प्रभावित हो गई थीं। वर्तमान भारतीय आर्यभाषाओं का साहित्य में प्रयोग होना कम से कम १३वीं शताब्दी ई० के आदि से अवश्य प्रारंभ हो गया था और अपभ्रंशों का व्यवहार ११वीं शताब्दी तक साहित्य में होता रहा।"

हिंदी भाषा का इतिहास, पृ० २०–२२

ठीक इसी तरह डा० उदयनारायण तिवारी ने भी अपभ्रंश को एक स्वतंत्र भाषा मानकर आधुनिक आर्यभाषाओं का प्रारंभकाल बहुत बाद में निर्धारित किया है। उन्होंने लिखा है :

"इस प्रकार १५वीं शती तक भारतीय आर्यभाषा आधुनिक काल में पदार्पण कर चुकी थी और आचार्य हेमचंद्र के पश्चात् १३वीं शती के प्रारंभ से आ० भा० आ० भाषाओं के अभ्युदय के समय १५वीं शती के पूर्व तक का काल संक्रांतिकाल था जिसमें भारतीय आर्यभाषा धीरे धीरे अपभ्रंश की स्थिति को छोड़कर आधुनिक काल की विशेषताओं से युक्त होती जा रही थी।"

हिंदी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० ९४१

इन दोनों उद्धरणों में यह मत उपस्थित किया गया है कि भारतीय आर्य-भाषा का आधुनिक रूप १३वीं से १५वीं शताब्दी के बीच निर्मित हुआ क्योंकि उनका साहित्य इसी काल से मिलने लगता है; किंतु बोलचाल की भाषा के रूप में उनका अस्तित्व कुछ पहले से रहा होगा। इस तरह उन्होंने कृपा करके हिंदी तथा अन्य आधुनिक आ० भा० भाषाओं का आरंभकाल १००० ई० के आस पास मान लिया है। यदि कुछ ध्यान से विचार किया जाय तो दोनों विद्वानों के मत निःसार और निराधार प्रतीत होंगे। डा० धीरेंद्र वर्मा विभिन्न आधुनिक आर्य-भाषाओं के लिये भिन्न भिन्न अपभ्रंशों की कल्पना करते हैं जबकि तत्संबंधी प्राप्त साहित्य में हम केवल एक ही प्रकार के अपभ्रंश का अस्तित्व पाते हैं जो प्राकृताप-भ्रंश अर्थात् शौरसेनी प्राकृत का ही परवर्ती रूप है। यद्यपि विद्वानों ने नागर अपभ्रंश, उपनागर अपभ्रंश, ग्राम्यापभ्रंश, व्राचड़ अपभ्रंश तथा १७वीं शताब्दी के वैयाकरण हेमचंद्र ने २७ प्रकार के अपभ्रंशों की चर्चा की है किंतु अपभ्रंश नाम से पुकारी जानेवाली भाषा का भाषाशास्त्रीय दृष्टि से केवल एक ही रूप दिखलाई पड़ता है। यह आश्चर्य की बात है कि डा० धीरेंद्र वर्मा ने बिना किसी आधार के अनेक अपभ्रंशों की कल्पना कर दी है। उन्हें ऐसी कल्पना इस कारण करनी पड़ी कि वे आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का उद्भव प्राकृत से न मानकर किसी अन्य परवर्ती भाषा से मानना चाहते हैं चाहे वह काल्पनिक भाषा ही क्यों न हो। इसी-लिये उन्हें प्राकृत भाषा का काल ५०० ई० के आसपास समाप्त करके एक अन्य भाषा अपभ्रंश का ५०० वर्षों का काल निर्धारित करना पड़ा। डा० उदयनारायण तिवारी उनसे भी आगे बढ़कर हिंदी भाषा का अभ्युदयकाल १५०० ई० के आसपास मानते हैं क्योंकि उसके पहले उसका रूप अपभ्रंश से प्रभावित था।

इन विद्वानों को यह बात नहीं सूझी कि रूपसंघटना, उच्चारण और शब्दसमूह के आधार पर प्राकृत भाषा अपभ्रंश के विभिन्न रूपों तथा अपभ्रंश और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का मिलान करके यह देखें कि इस तथाकथित अपभ्रंश भाषा का कौन सा रूप प्राकृत का परवर्ती रूप है और कौन आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का पूर्ववर्ती रूप। इस दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि जिसे परनिष्ठित अपभ्रंश कहा जाता है वह वस्तुतः प्राकृत भाषा का ही परवर्ती रूप है और अनेक विद्वानों ने उसे प्राकृतापभ्रंश कहा भी है। नमि साधु ने अपभ्रंश के तीन भेद—उपनागर, आभीर और ग्राम्य—बताए हैं। हेमचंद्र ने भी ग्राम्यापभ्रंश की चर्चा की है। मार्कंडेय ने तो विभिन्न प्रांतीय बोलियों के आधार पर २७ अपभ्रंशों के नाम भी गिनाएं हैं। मेरे विचार से भरतमुनि ने जिस आभीरादि जातियों की भाषा का उल्लेख किया है वह साहित्यिक प्राकृत से भिन्न लोकप्रचलित बोलचाल की भाषा थी। इसी तरह १२वीं शताब्दी में

हेमचंद्र ने प्राकृत व्याकरण लिखते समय अपभ्रंश का व्याकरण लिखकर यह सिद्ध करना चाहा है कि अपभ्रंश भाषा प्राकृत भाषा का ही एक परवर्ती रूप है। किंतु हेमचंद्र ने जिस अपभ्रंश का व्याकरण लिखा है वह उनके समय में प्रचलित लोकभाषा नहीं परंपरागत साहित्यिक भाषा थी जिसे हम परवर्ती प्राकृत कह सकते हैं। हेमचंद्र द्वारा उदाहृत सभी दोहे एक काल के और एक ही प्रकार के नहीं हैं। उनकी भाषा में स्तरभेद दिखाई पड़ता है; कोई दोहा परनिष्ठित परवर्ती प्राकृत भाषा (अपभ्रंश) में है तो कोई बोलचाल की भाषा (ग्राम्यापभ्रंश) में। हम पहले प्रकार की भाषा को प्राकृताभ्रंश और दूसरे प्रकार की भाषा को लोकभाषा (ग्राम्यापभ्रंश या देशी भाषा) कहेंगे। देशी भाषा शब्द का भी उस काल के कवियों ने बड़ा दुरुपयोग किया है। विद्यापति ने 'कीर्तिलता' में लिखा है :

देसिल बअना सब जन मिट्ठा।
तें तइसन जंपओं अवहट्ठा॥

किंतु सब जानते हैं कि विद्यापति के समय और देश की लोकभाषा वह नहीं है जो कीर्तिलता में दिखलाई पड़ती है, बल्कि वह है जो उनके पदों में मिलती है। यदि भाषावैज्ञानिक दृष्टि से तुलना करके देखा जाय तो ८वीं ६वीं शताब्दी के सिद्धों के दोहों और चरिया गीति की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश से भिन्न प्राकृत से बहुत दूर तथा पूर्वी हिंदी (बिहारी) और गोरखाली भाषाओं के अधिक निकट दिखलाई पड़ेगी। इन दोनों भाषाओं (प्राकृतापभ्रंश और देशी भाषा) के बीच एक और कृत्रिम भाषा थी जिसे अवहट्ठ या अपभ्रंश नाम दिया गया है। यह भाषा प्राकृत और आधुनिक आर्यभाषाओं से बराबर दूरी पर है अर्थात् यह १०वीं शताब्दी के बाद की वह परंपरागत साहित्यिक भाषा है जो दरबारों में चारणों, भाटों और दरबारी कवियों द्वारा विकसित हुई थी। वह भी तत्कालीन जनभाषाओं (आ० भा० आ० भाषाओं) से उसी प्रकार दूर पड़ गई थी जिस तरह पूर्ववर्ती प्राकृतापभ्रंश या स्वयं प्राकृत। इस प्रकार परिनिष्ठित अपभ्रंश तथा अवहट्ठ नाम से ज्ञात भाषाएँ वस्तुतः स्वतंत्र भाषा नहीं, बल्कि प्राकृत का ही परवर्ती रूप है।

भारत में बोलचाल को भाषा तथा साहित्यिक भाषाओं की परंपरा

पालि — भारत में वैदिक काल से ही कई एक भाषा साहित्यभाषा के रूप में सार्वदेशिक भाषा या राष्ट्रभाषा के रूप में मान्य रहती आई है। वैदिक काल की जो परवर्ती भाषा थी वह उदीच्य जनभाषा ही थी जो साहित्य और धर्म की सार्वदेशिक भाषा थी। पर उस काल में भी विभिन्न प्रादेशिक भाषाएँ थीं जैसे प्रतीच्य (मध्यदेशीय) और प्राच्य। इन्हीं जनभाषाओं का विकास माध्यमिक

भारतीय आर्यभाषाओं के प्रथम चरण में हुआ। सामान्य रूप से उस प्रथम चरण की भाषाओं को पालि भाषा कहा जाता है। पर जो पालि भाषा आज मिलती है वह धर्म और साहित्य की भाषा है, उस काल की बोलचाल की भाषा नहीं। बोलचाल की भाषा का रूप अशोक के धर्मादेशों में मिलता है जो विभिन्न प्रदेशों में पत्थरों पर खुदे थे। स्थानभेद के अनुसार उन धर्मादेशों की भाषा में भी भिन्नता है। पश्चिमोत्तर भारत में खरोष्ठी लिपि में लिखे गए धर्मोपदेश की भाषा तत्कालीन पश्चिमोत्तरीय पालि है और पूर्वी भारत में लिखी गई भाषा प्राच्य बोली है।

किंतु एक बात ध्यान देने की यह है कि अशोक ने आदेशों को पहले मगध की जनभाषा में तैयार कराया था और बाद में अन्य भाषाओं में उसका रूपांतर कराया। बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट पालि भाषा अशोक के समय में ही देश की सांस्कृतिक और धार्मिक भाषा बनकर रूढ़ हो गई थी और अशोक के अभिलेखों की पालि भी मुख्यतः साहित्यिक पालि पर ही आधृत है। अतः मानना होगा कि अशोक के समय तक देश के विभिन्न भागों की भाषा में परिवर्तन प्रारंभ हो गया था अर्थात् प्राकृत भाषाओं के उद्भव की प्रक्रिया शुरू हो गई थी।

प्राकृत — विभिन्न जातियों के संपर्क के कारण तथा विदेशी लोगों के साथ संबंध हो जाने से भाषा में परिवर्तन होना स्वाभाविक था। ई० पू० तीसरी शताब्दी में बोलचाल की पालि भाषा प्राकृत भाषाओं का रूप ग्रहण करने लगी और पहली शताब्दी में उसका नया रूप स्पष्ट हो गया। अश्वघोष के नाटकों तथा विमलसूरि के 'पउम चरिय' के बाद तो प्राकृतों का प्रयोग साहित्य और धर्म की भाषा के रूप में होने लगा था। गुप्तकाल तक प्राकृत भाषा साहित्य और जैनधर्म की भाषा बन गई। वैदिक भाषा और पालि भाषा के जो रूप विभिन्न क्षेत्रों में लोकभाषा के रूप में प्रचलित थे वे ही इस काल में क्षेत्रीय प्राकृत भाषाओं के रूप में बदल गए थे। इन प्राकृतों की बोलचाल का रूप वस्तुतः क्या था, इसका ठीक ठीक ज्ञान नहीं है। साहित्यिक और धार्मिक ग्रंथों में इस समय जो प्राकृत भाषा मिलती है वह वस्तुतः किसी एक क्षेत्र की ही भाषा है और उसी के थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ कई रूप प्राप्त होते हैं जिन्हें हम शौरसेनी महाराष्ट्री आदि प्राकृतों के रूप में जानते हैं। वस्तुतः साहित्यिक प्राकृत भाषा ५वीं शताब्दी के पहले से ही एक कृत्रिम भाषा बन गई थी जो साहित्यिकों द्वारा व्याकरण के नियमों के आधार पर संस्कृत रूपों के परिवर्तन द्वारा गढ़कर लिखी जाती थी। अन्यथा उज्जयिनीवासी कालिदास और मध्यदेशीय भवभूति से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे बोलचाल की शुद्ध मागधी प्राकृत का प्रयोग कर सकते थे। उसी तरह मध्यदेशीय कवि वाक्पतिराज से यह उम्मीद नहीं की जा सकती कि वे महाराष्ट्री प्राकृत

में मडङ्वहीं काव्य लिख सकते थे। प्राकृतों के सभी नाम रूढ़ शब्द मात्र है। किसी एक प्राकृत, संभवतः शौरसेनी, में ही पहले साहित्यरचना का कार्य शुरू हुआ और अन्य प्रदेशों की बोलचाल की भाषा की कुछ विशेषताओं या भिन्नताओं को पकड़कर शौरसेनी से उनका अंतर दिखा दिया गया और व्याकरण के इन्हीं नियमों के अनुसार लेखक भी विभिन्न कृत्रिम प्राकृतों में साहित्य लिखने लगे।

प्राकृत का जो रूप सर्वप्रथम विकसित हुआ वह अर्धमागधी था और ईसा की प्रथम शती के पूर्व ही बन गया था। इसी भाषा को जैनों ने आर्य-भाषा कहा है और उसी में उनके सभी धार्मिक ग्रंथ हैं। मागधी और अर्ध मागधी का विकास सर्वप्रथम जनभाषा के रूप में हुआ होगा। शौरसेनी और महाराष्ट्री का कुछ बाद में, क्योंकि पश्चिमी भागों में भाषा का परंपरागत रूप जल्दी और अधिक नहीं बदलता था। किंतु भारत की यह विशेषता रही है कि यहाँ हर युग में मध्यदेश के पश्चिमी मध्यदेश की भाषा ही राष्ट्रभाषा के रूप में मान्य होती आई है। अतः जब धर्मग्रंथों के अतिरिक्त विशुद्ध साहित्य के ग्रंथों में भी प्राकृत का प्रयोग होने लगा तो मूलभाषा तो शौरसेनी या प्राकृत रखी गई और उसी का व्याकरण के नियमों के अनुसार महाराष्ट्री और मागधी रूपांतर किया जाने लगा। इस तरह एक ऐसे कृत्रिम या साहित्यिक प्राकृत का विकास हुआ जो कहीं भी बोलचाल की विशुद्धभाषा नहीं थी। पाँचवीं शताब्दी के बाद तो बोलचाल की भाषा प्राकृत रह ही नहीं गई। फिर भी १२वीं-१३वीं शताब्दी तक उसी कृत्रिम प्राकृत में ग्रंथ लिखे जाते रहे। संस्कृत नाटकों में तो यह क्रम बहुत बाद तक चलता रहा। डा० उदयनारायण तिवारी भी इस मत को स्वीकार करते हैं :

'प्राकृत वैयाकरणों ने जिस भाषा का विवेचन किया है वह लोकभाषा पर आधारित अवश्य थी, परंतु संस्कृत के आदर्श पर चलकर कालांतर में केवल साहित्य-रचनाओं की भाषा रह गई थी। इस रूप में प्राकृतों का प्रयोग संस्कृत नाटककार १३वीं शताब्दी तक करते रहे। इन प्राकृतों की अनेक शाखाएँ रही होंगी पर उनमें कोई साहित्यिक रचना न होने के कारण आज उनका पूरा परिचय नहीं मिलता। केवल यत्र तत्र बिखरे हुए कुछ विशिष्ट शब्दरूपों से इसका अनुमान किया जा सकता है।'

तिवारी जी का यह कथन बिलकुल सत्य है। आज भारत में कुल आठ स्वतंत्र आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ हैं। इन सबके विशाल क्षेत्र हैं। अतः उन बड़े भूभागों की भाषा माध्यमिक काल में भिन्न भिन्न प्राकृतें अवश्य रही होंगी, जिनसे इन वर्तमान भाषाओं का चौथी-पाँचवीं शती में विकास होना शुरू हुआ। अतः केवल छह प्राकृतों का नामोल्लेख यह सिद्ध करता है कि उन वैयाकरणों को

अन्य प्राकृतों का ज्ञान नहीं था। सर्वप्रथम प्राकृत वैयाकरण वररुचि (चौथी शताब्दी) ने प्राकृत के चार भेद बताए हैं : महाराष्ट्री, पैशाची, शौरसेनी और मागधी। १२वीं सदी में हेमचंद्र ने दो और प्राकृतें बताई हैं : अर्धमागधी (आर्षी) और शूलिका पैशाची। अन्य आचार्यों ने ब्राचड़ नाम भी जोड़ा है। १७वीं शताब्दी के वैयाकरण मार्कंडेय ने २७ प्राकृतों के नाम गिनाए हैं, पर उनके कथन का उनकी अर्वाचीनता के कारण कोई मूल्य नहीं है। उनके समय तक तो बोलियों के इतने रूप विकसित हो ही गए थे।

यहाँ विचार के लिये दो ज्वलंत प्रश्न उपस्थित होते हैं :

(१) आधुनिक आर्यभाषाओं का उद्भव प्राकृतों से हुआ या अपभ्रंश से ? यदि प्राकृतों से हुआ तो वे प्राकृतें कौन और कितनी थीं ? और किस प्राकृत से किस आधुनिक आर्यभाषा का जन्म हुआ ?

(२) क्या आधुनिक आर्यभाषाओं की जननी प्राकृत नहीं, कोई अन्य परवर्ती भाषा है जिसे अपभ्रंश कहा जाता है ? यदि यह सत्य है तो अपभ्रंश भाषाएँ कितनी थीं और किस अपभ्रंश से किस आ० भा० आ० भाषा का जन्म हुआ ?

प्राकृत और आ० भा० आ० भाषाएँ

हमारा यह पक्ष है कि आ० भा० आ० भाषाओं का उद्भव सीधे प्राकृतों से हुआ है, किसी अन्य परवर्ती भाषा या भाषाओं से नहीं। इस संबंध में यहाँ महापंडित राहुल सांकृत्यायन का मत उद्धृत करना समीचीन होगा। उन्होंने अपभ्रंश को स्वतंत्र भाषा न मानकर हिंदी का पूर्वरूप माना है और इस तरह हिंदी को सीधे प्राकृत से उद्भूत माना है। उनके अनुसार प्राकृत भाषा ईसा की पाँचवीं शती के आसपास ही अपभ्रंश यानी पुरानी हिंदी के रूप में बदल गई, "और अपभ्रंश ! यहाँ आकर भाषा में असाधारण परिवर्तन हो गया। उसका ढाँचा ही बिलकुल बदल गया। उसने नए सुबंतों, तिङंतों की सृष्टि की और ऐसी सृष्टि की है जिससे वह हिंदी से अभिन्न हो गई है और संस्कृत पालि प्राकृत से अत्यंत भिन्न।' (हिंदी काव्यधारा, पृ० ६)। चंद्रधर शर्मा गुलेरी का भी यही मत था। उनके अनुसार प्राकृत (शौरसेनी प्राकृत) का ही मात्रात्मक परिवर्तन-वाला परवर्ती रूप साहित्यिक या परिनिष्ठित अपभ्रंश है, किंतु अपभ्रंश कही जानेवाली भाषा का एक रूप ऐसा भी है जो प्राकृत से भिन्न गुणात्मक परिवर्तनवाली भाषा बन गया है जिसे पुरानी हिंदी कह सकते हैं। गुजरात और बंगाल के कतिपय विद्वान् तथाकथित अपभ्रंश के इसी रूप को पुरानी गुजराती (जूनी गुजराती) और पुरानी बँगला मानते हैं। हिंदी के उद्भव के संबंध में गुलेरी जी का स्पष्ट मत है कि 'पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है, पिछली पुरानी हिंदी से।' गुलेरी जी का यह मत बिलकुल सही है और इसी

तर्क के आधार पर अन्य आ० भा आ० भाषाओं के पूर्ववर्ती रूपों को प्राकृतों के परवर्ती रूपों में खोजने के लिये शोधकार्य करने की आवश्यकता है।

यदि यह सत्य है कि आ० भा० आ० भाषाओं का उद्भव प्राकृतों से हुआ है तो सर्वप्रथम हमें विभिन्न प्राकृतों के विकासक्रम और रूपपरिवर्तन पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करना होगा। इस संबंध में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का यह मत ठीक प्रतीत होता है कि संस्कृत-पालि-प्राकृत और परिनिष्ठित अपभ्रंश, ये सभी विभिन्न कालों में मध्यदेश (राजस्थान, पंजाब से लेकर मथुरा तक) की लोकभाषा पर आधारित भारत की राष्ट्रीय या साहित्यिक भाषाएँ थीं। किंतु विभिन्न आ० भा० आ० भाषाओं का उद्भव उनसे नहीं, विभिन्न प्रदेशों में बोली जानेवाली तत्कालीन प्राकृतों से हुआ है। उनके अनुसार 'लोगों का यह गलत ख्याल है कि पालि मगध या दक्षिण बिहार की प्राचीन लोकभाषा थी; इसके विपरीत यह उज्जैन से मथुरा तक फैले मध्यदेश की साहित्यिक भाषा थी। एक तरह से यही पश्चिमी हिंदी की पूर्वज भाषा थी।······शौरसेनी प्राकृत, जिसका केंद्रस्थान मथुरा था, प्राकृतों अर्थात् परवर्ती माध्यमिक भा० आ० भाषाओं में सबसे उत्कृष्ट समझी जाती है, और वस्तुतः वही आधुनिक व्रजभाषा का, जो मथुरा की वर्तमान भाषा तथा हिंदुस्तानी (खड़ी बोली) की भगिनी और पहले की सौत भाषा है, प्राचीन रूप थी।" (इंडो-आर्यन ऐंड हिंदी, पृष्ठ १६०–१६३) डा० चाटुर्ज्या का यह भी कथन है कि प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृत के जो अनेक भेद किए हैं वे भिन्न देशीय समकालीन भाषाएँ न थीं, बल्कि एक ही प्रदेश — मध्यप्रदेश — की काल-क्रमानुसार आगे पीछे की भाषाएँ थीं। इस तरह वे नाटकों तथा अन्य ग्रंथों में प्राप्त शौरसेनी प्राकृत को पालि भाषा की उत्तराधिकारिणी, मध्यदेशीय साहित्यिक भाषा मानते हैं और महाराष्ट्रीय प्राकृत को शौरसेनी के बाद की तथा मागधी प्राकृत को सबसे बाद की मध्यदेशीय साहित्यिक भाषा मानते हैं। डा० चाटुर्ज्या का यह मत कई अन्य विद्वानों के मतों पर आधारित है पर यह मत केवल अनुमान पर आश्रित है। जिन प्राकृतों से आ० भा० आ० भाषाओं का उद्भव हुआ है उनमें मध्यदेश की शौरसेनी प्राकृत को छोड़कर अन्य कोई भी प्राकृत साहित्य भाषा न बन सकी और इसी कारण उनमें से किसी का साहित्य आज उपलब्ध नहीं है। जहाँ तक महाराष्ट्री और मागधी प्राकृतों का संबंध है, निश्चय ही वे शौरसेनी के आधार पर निर्मित कृत्रिम भाषाएँ हैं। परिनिष्ठित अपभ्रंश भी उसी प्रकार की एक परवर्ती कृत्रिम प्राकृत ही है। वैयाकरणों ने जिस तरह प्राकृत के छह भेदों का उल्लेख किया है उस तरह अपभ्रंश के भेद उन्होंने नहीं किए। इससे स्पष्ट है कि हेमचंद्र के समय तक अपभ्रंश का केवल एक ही रूप ज्ञात था और वह मध्य-देशीय प्राकृतापभ्रंश या परिनिष्ठित अपभ्रंश का ही रूप था। किंतु उस काल

में भारत के अन्य भूभागों की लोकभाषाएँ भी अवश्य थीं जो उन वैयाकरणों की अनजान में बोलचाल की प्राकृतों से गुणात्मक परिवर्तन द्वारा आधुनिक आ० भा० आ० भाषाओं के रूप में ढल चुकी थीं। भारतवर्ष में जितनी भी प्राचीन भाषाओं का साहित्य मिलता है वे प्रायः सबकी सब रूढ़ साहित्यिक भाषाएँ थीं जो प्रधानतया मध्यदेश की बोलचाल की भाषा पर आधारित थीं। पाँचवीं शताब्दी के बाद विभिन्न प्रदेशों की बोलचाल की प्राकृतों में जो क्षिप्र गतिवाला परिवर्तन प्रारंभ हुआ वह आठवीं शताब्दी तक पूर्ण हो गया। उसके बाद से ही विभिन्न सभी आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का साहित्यिक रूप मिलने लगता है।

भारतीय आर्यभाषा की विकाससरणि—अब यह देखना है कि वैदिक भाषा से आ० भा० आ० भाषाओं तक भारतीय आर्यभाषा के विकास की विकाससरणि क्या थी। यहाँ व्याकरण संबंधी भेदों के उदाहरण के लिये अवकाश नहीं है। किंतु तर्क के आधार पर भी निश्चित तथ्य तक पहुँच सकते हैं। हमारे तर्क का आधार यह है कि कोई भाषा अपनी पूर्ववर्ती भाषा से भिन्न एक स्वतंत्र भाषा तभी मानी जा सकती है जब उन दोनों के बीच मात्रात्मक भेद नहीं, गुणात्मक भेद उत्पन्न हो गया हो। किसी भाषा के पूर्ववर्ती और परवर्ती रूपों में यदि केवल मात्रात्मक भेद हैं तो वे दो भाषाएँ नहीं एक ही भाषा के दो रूप हैं। उसी तरह यदि एक ही काल में वर्तमान दो प्रदेशों की भाषाओं के बीच केवल मात्रात्मक भेद है तो हम उन दोनों भाषाओं को एक ही भाषा की दो बोलियाँ या उपभाषाएँ कहेंगे। जब तक किन्हीं दो भाषाओं के बीच इतना गुणात्मक भेद न हो जाय कि उनको बोलनेवाले एक दूसरे की बात ही न समझ सकें तब तक वे दोनों भाषाएँ एक ही मानी जाएँगी। इस दृष्टि से वैदिक काल में वैदिक भाषा के विस्तृत भूभाग में फैल जाने के कारण स्थानभेद के अनुसार तीन रूपभेद दिखलाई पड़ते हैं: उदीच्य, मध्यदेशीय और प्राच्य। ये मात्रात्मक भेद थे, अतः ये तीनों ही भाषाएँ एक ही वैदिक भाषा की बोलियाँ थीं। कालांतर में उदीच्य बोली ने साहित्यिक रूप धारण कर लिया जो नियमबद्ध होकर संस्कृत कहलाई। किंतु यहाँ आकर भी वह वैदिक भाषा से नितांत भिन्न भाषा नहीं है; क्योंकि इन दोनों में जितना साम्य है उतना वैषम्य नहीं। पर उस काल में इन बोलियों में जो मात्रात्मक परिवर्तन होता रहा, वही आगे चलकर गुणात्मक परिवर्तन बन गया और उपर्युक्त तीन वैदिक बोलियाँ बौद्धकाल में कम से कम छह स्वतंत्र प्रादेशिक भाषाओं के रूप में बदल गईं। आज हमें उस काल की केवल एक भाषा (पालि) का साहित्य उपलब्ध है, किंतु अशोक और खारवेल के अभिलेखों से यह अनुमान हो जाता है कि उस काल में निम्न-लिखित प्रादेशिक भाषाएँ बोली जाती रही होंगी: उदीच्य, पश्चिमी, मध्य-

देशीय, पूर्वी मध्यदेशीय, प्राच्य, दाक्षिणात्य और आर्येतर। इनमें से पश्चिमी मध्यदेशीय लोकभाषा ही साहित्यिक पालि भाषा बनी। ये सभी भाषाएँ गुणात्मक भेद हो जाने के कारण पूर्ववर्ती वैदिक भाषा से बिल्कुल भिन्न थीं। किंतु इनका आपस में गुणात्मक भेद नहीं, केवल मात्रात्मक भेद था, इसलिये उस काल में समस्त आर्य भारत के लोग विभिन्न भारतीय भाषाओं को आसानी से समझ लेते थे। अशोक के अभिलेखों की भाषा इसका प्रमाण है। अशोक के समय तक भारत के विभिन्न भागों में प्रयुक्त बोलचाल की भाषाओं में मात्रात्मक परिवर्तन इतना अधिक हो चुका था कि वे साहित्यिक पालि भाषा तथा ५०० ई० पू० तक की अन्य बोलचाल की भाषाओं से भिन्न होने लगीं थीं। ये ही प्राकृत भाषाओं का पूर्वरूप थीं। ईसवी सन् के प्रारंभ के बाद उनमें गुणात्मक परिवर्तन की क्रिया पूर्ण हो गई। और वे स्वतंत्र भाषाएँ बन गईं जिन्हें आज प्राकृत कहा जाता है।

उपर्युक्त बौद्धकालीन लोकभाषाओं से प्राकृत भाषाओं का उद्भव इस प्रकार हुआ : उदीच्य से उदीच्य प्राकृत, पश्चिमी मध्यदेशीय से पश्चिमी शौरसेनी प्राकृत, पूर्वी मध्यदेशीय से पूर्वी शौरसेनी (अर्धमागधी तथा मागधी) प्राकृत, प्राच्य से गौड़ी प्राकृत, दाक्षिणात्य से महाराष्ट्री प्राकृत, आर्येतर से पैशाची, आभीरी आदि। प्राकृतों का यह वर्गीकरण अनुमानाश्रित है किंतु इसका आधार पूर्ववर्ती भाषावैज्ञानिकों तथा वैयाकरणों का साक्ष्य ही है। वैयाकरणों ने प्राकृत के छह भेद-शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्धमागधी, व्राचड़ और पैशाची किए हैं। इनमें से नाटकों की प्रमुख भाषा शौरसेनी, काव्यग्रंथों की भाषा महाराष्ट्री और धर्मग्रंथों की भाषा अर्धमागधी तथा मागधी हैं। पैशाची और व्राचड़ प्राकृतों का साहित्य नहीं मिलता। प्राकृत वैयाकरणों ने मूल रूप से शौरसेनी प्राकृत के ही नियम दिए हैं और अन्य प्राकृतों के शौरसेनी प्राकृत से भिन्न लक्षणों का निर्देश करके 'शेषं शौरसेनीवत्' कह दिया है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने जिन प्राकृत भाषाओं का नियमनिर्देश किया है वे बोलचाल की भाषाएँ नहीं कृत्रिम साहित्यिक भाषाएँ थीं। कुछ वैयाकरणों ने संस्कृत भाषा को प्रकृति अर्थात् मूलभाषा और प्राकृत को विकृति अर्थात् कृत्रिम भाषा कहा है जो इस अर्थ में सही है कि साहित्यिक प्राकृतें, विशेष रूप से नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत भाषाएँ प्रायः संस्कृत भाषा का, व्याकरण के नियमों के आधार पर, कृत्रिम रूपांतर मात्र हैं। यही नहीं, जिन मुख्य चार प्राकृतों का रूप मिलता है उनमें केवल मात्रात्मक भेद है, गुणात्मक भेद नहीं। इस कारण वे चारों प्राकृतें एक ही भाषा के रूप हैं। किंतु यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक, जब कि आर्यों को भारत में बिखरकर बसे हुए हजारों वर्ष हो गए थे, विभिन्न प्रदेशों की आर्य-भाषाओं में परस्पर गुणात्मक भेद अवश्य आ गया होगा। अर्थात् उस काल तक विभिन्न दूरवर्ती प्रदेशों की बोलचाल की भाषाएँ एक दूसरे से भिन्न होकर

स्वतंत्र भाषा के रूप में अवश्य बदल गई होंगी। दुर्भाग्यवश आज बोलचाल की उन प्रादेशिक भाषाओं अर्थात् लोकप्रचलित प्राकृतों का लिखित रूप हमें प्राप्त नहीं है। किंतु उनका उदाहरण न प्राप्त होने पर भी उनके अस्तित्व से इनकार नहीं किया जा सकता। यहाँ डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या का यह मत पुनः दोहरा देना आवश्यक है कि साहित्यिक प्राकृतों के महाराष्ट्री, अर्धमागधी और मागधी रूपों का महाराष्ट्र प्रदेश, पूर्वोत्तर प्रदेश और बिहार की तत्कालीन लोकभाषाओं से विशेष संबंध नहीं है। वे केवल नाम भर हैं, उन प्रदेशों की लोकभाषा नहीं।

आज भारत में निम्नलिखित आ० भा० आ० भाषाएँ अपना स्वतंत्र रूप विकसित करके जीवित और साहित्यिक रूप में वर्तमान हैं : १—पंजाबी, २—सिंधी, ३—हिंदी, ४—गुजराती, ५—मराठी, ६—उड़िया, ७-असमिया, ८—कश्मीरी। इन आठों आ० आ० भाषाओं का उद्भव उपर्युक्त प्रादेशिक प्राकृतों से ईसा की पाँचवीं शताब्दी के आसपास होने लगा अर्थात् उपर्युक्त प्राकृतों में मात्रात्मक परिवर्तन उसी समय प्रारंभ हो गया जो दसवीं शताब्दी के आसपास गुणात्मक परिवर्तन में बदल गया और आ० भा० आ० भाषाएँ उपर्युक्त प्राकृतों से भिन्न होकर नवीन भाषाओं के रूप में ढल गईं। विभिन्न प्राकृत भाषाओं से भिन्न भिन्न आ० भा० आ० भाषाओं का उद्भव इस प्रकार हुआ : उदीच्य प्राकृत से पंजाबी और सिंधी, पश्चिमी शौरसेनी प्राकृत से गुजराती और पश्चिमी हिंदी, पूर्वी शौरसेनी प्राकृत से पूर्वी हिंदी, गौड़ी प्राकृत से उड़िया, बँगला और असमिया, महाराष्ट्री प्राकृत में मराठी, पैशाची प्राकृत से कश्मीरी। यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने की यह है कि हम प्रत्येक आधुनिक आर्यभाषा को एक इकाई मानते हैं और उसकी विभिन्न उपभाषाओं या बोलियों को उसी में अंतर्भुक्त समझते हैं। हमारा यह निश्चित मत है कि वैज्ञानिक दृष्टि से एक भाषा गुणात्मक परिवर्तन द्वारा एकाधिक नवीन भाषाओं में बदल सकती है किंतु अनेक भाषाएँ बदलकर एक भाषा नहीं बन सकतीं। उदाहरण के लिये उदीच्य प्राकृत से दो आधुनिक आर्यभाषाएँ — पंजाबी और सिंधी; पश्चिमी शौरसेनी प्राकृत से — गुजराती और पश्चिमी हिंदी तथा गौड़ी प्राकृत से असमिया बँगला और उड़िया उद्भूत हुई, यह युक्तिसंगत और वैज्ञानिक निष्कर्ष है। किंतु यह निष्कर्ष अवैज्ञानिक और मात्र अनुमानाश्रित है कि हिंदी भाषा शौरसेनी, अर्धमागधी और मागधी, इन तीन प्राकृतों से उद्भूत है।

हिंदी की स्थिति

भाषावैज्ञानिकों ने हिंदी भाषा को एक इकाई नहीं माना है। वे इसके कई खंड करके उसका अंग भंग करने में विश्वास रखते हैं और इसी कारण वे

राजस्थानी, व्रजभाषा और खड़ी बोली को शौरसेनी प्राकृत से उद्भूत अवधी, बुंदेलखंडी, छत्तीसगढ़ी और बघेली को अर्धमागधी प्राकृत से उद्भूत मानते हैं तथा भोजपुरी, मगही और मैथिली को मागधी प्राकृत से उद्भूत मानकर उन्हें बिहारी भाषा कह देते तथा उसे हिंदी से एक भिन्न भाषा मान लेते हैं। पर विचारणीय प्रश्न यह है कि आखिर समस्त बोलियों या उपभाषाओं को व्यावहारिक जगत् में हिंदी भाषा क्यों कहा जाता है ? आज समस्त बिहार, उत्तरप्रदेश मध्यप्रदेश, राजस्थान, पूर्वी पंजाब और हिमांचल प्रदेश को जो हिंदी भाषाभाषी प्रदेश कहा जाता है, इसका कारण यही है कि इन प्रदेशों के निवासी एक दूसरे की भाषा को आसानी से समझ लेते हैं। यह स्थिति इस तथ्य का द्योतक है कि हिंदी भाषाभाषी देशों की विभिन्न बोलियों में गुणात्मक भेद नहीं, मात्रात्मक भेद है। किंतु यही बात हिंदी और बँगला अथवा बँगला और उड़िया के बारे में नहीं कही जा सकती। इन स्वतंत्र भाषाओं में परस्पर गुणात्मक भेद है। हिंदी बोलियों की संख्या अधिक है, इसमें कोई संदेह नहीं; किंतु इसी कारण उसकी कुछ बोलियों को शौरसेनी प्राकृत से कुछ को अर्धमागधी प्राकृत से और कुछ को मागधी प्राकृत से उद्भूत मानना यह सिद्ध करता है कि ऐसा माननेवालों के मन में हिंदी भाषा के प्रति द्वेष या ईर्ष्या का भाव था और इसीलिये उन्होंने जान बूझकर उसमें अंतर्निहित एकता की भावना को नष्ट करने तथा उसकी विभिन्न बोलियों को स्वतंत्र भाषा के रूप में प्रतिष्ठित कराने के उद्देश्य से उपर्युक्त निष्कर्ष निकाला था। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या स्वयं मानते हैं कि अर्धमागधी और मागधी प्राकृतें शौरसेनी प्राकृत का ही रूपांतर थीं, भिन्न भाषाएँ नहीं। अतः पुनः अर्धमागधी और मागधी प्राकृतों की कल्पना करके उनसे पूर्वी हिंदी (अवधी आदि) और बिहारी (भोजपुरी, मगही आदि) को उद्भूत बताने का क्या कारण हो सकता है ? यदि वर्तमान युग में हिंदी की ये बोलियाँ परस्पर निकट हैं तो आज से एक हजार वर्ष पूर्व, पंद्रह सौ वर्ष पूर्व, या दो हजार वर्ष पूर्व तो उनके पूर्ववर्ती रूपों में क्रमशः अधिक निकटता होनी चाहिए। इस तर्क के अनुसार जिस प्राकृत से ये बोलियाँ उद्भूत हुईं वह एक भाषा रही होगी; इसीलिये हमने उस प्राकृत का नाम 'शौरसेनी प्राकृत रखा है तथा उसके दो रूप पश्चिमी शौरसेनी और पूर्वी शौरसेनी माने हैं। पश्चिमी शौरसेनी से हिंदी की पश्चिमी बोलियाँ, खड़ी बोली, राजस्थानी-व्रजभाषा, बुंदेली, अवधी और बघेली—का विकास हुआ और पूर्वी शौरसेनी से भोजपुरी, मगही, मैथिली और छत्तीसगढ़ी नामक बोलियाँ विकसित हुईं। यहाँ हमने शौरसेनी प्राकृत को शूरसेन प्रदेश के लघुक्षेत्र की भाषा न मानकर उस बृहत्तर मध्यदेशीय भूभाग की भाषा माना है जो प्राचीन काल में समस्त आर्यभूमि के केंद्र में स्थित था तथा जहाँ के लोगों में भाषा, रहन सहन और रीति रिवाज संबंधी कोई भेद नहीं था। गौतम बुद्ध की विचरण भूमि गया से लेकर कौशांबी

(इलाहाबाद), संकाश्य (फर्रुखाबाद) और श्रावस्ती (गोंडा) तक थी। जैन श्रावकों की विचरणभूमि उत्तर भारत में मगध से लेकर समस्त राजस्थान और गुजरात तक थी। तांत्रिक सिद्धों और नाथपंथी योगियों की विचरणभूमि पूर्वी बिहार से लेकर हिमालय प्रदेश, पंजाब, राजस्थान, गुजरात और महाराष्ट्र तक थी। निष्कर्ष यह है कि ईसा की पाँचवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक राजनीतिक, धार्मिक और सांस्कृतिक कारणों से वह समस्त भूभाग जिसे हम आज हिंदी भाषा-भाषी भूभाग कहते हैं, एक इकाई के रूप में था। समस्त भूभाग में एकही भाषा मध्यदेशीय या शौरसेनी प्राकृत प्रचलित थी, जिसके स्थूल रूप में दो भेद थे—पश्चिमी शौरसेनी और पूर्वी शौरसेनी। अर्धमागधी और मागधी साहित्यिक प्राकृतें भले ही हों, लोकभाषाएँ नहीं थीं। साहित्यिक प्राकृतों के रूप में भी वे शौरसेनी से भिन्न, स्वतंत्र भाषाएँ नहीं थी।

अपभ्रंश की स्थिति

उपर्युक्त स्थापना से यह मत स्वतः खंडित हो जाता है कि हिंदी या अन्य किसी आ० भा० आ० भाषा की उत्पत्ति अपभ्रंशभाषा से हुई। डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के अनुसार शौरसेनी प्राकृत से अपभ्रंश (नागर या शौरसेनी अपभ्रंश) का उद्भव हुआ और अपभ्रंश से राजस्थानी, गुजराती और पश्चिमी हिंदी की उत्पत्ति हुई। इस तरह वे हिंदी और गुजराती के अतिरिक्त और किसी आ० भा० आ० भाषा की उत्पत्ति अपभ्रंश से नहीं मानते। किंतु डा० धीरेंद्र वर्मा ने प्रत्येक आ० भा० आ० भाषा के लिये एक एक अपभ्रंश की कल्पना की है यद्यपि उनकी इस कल्पना का कोई प्रत्यक्ष आधार नहीं है। उनकी धारणा संभवतः यह है कि यदि डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या के अनुसार गुजराती और हिंदी की उत्पत्ति नागर अपभ्रंश से हुई है तो अन्य आ० भा० आ० भाषाओं की उत्पत्ति भी किसी न किसी अपभ्रंश से ही हुई होगी, सीधे प्राकृत से नहीं। किंतु इसी प्रश्न को उलटकर भी पूछा जा सकता है कि यदि अन्य आ० भा० आ० भाषाओं की उत्पत्ति सीधे प्राकृतों से हुई तो गुजराती और हिंदी की ही उत्पत्ति अपभ्रंश से क्यों मानी जाय? यदि सभी आ० भा० आ० भाषाओं का विकास समानांतर रूप से समानांतर स्रोतों से हुआ है तो हिंदी, गुजराती का उद्भव भी प्राकृत से ही हुआ होगा, किसी अन्य भाषा से नहीं। यहाँ यह कहा जा सकता है कि अपभ्रंश का साहित्य उपलब्ध है जो यह सिद्ध करता है कि शौरसेनी प्राकृत और गुजराती हिंदी के बीच की स्थिति में एक और भाषा का भी अस्तित्व था जिसे अपभ्रंश कहा जाता है। इसके उत्तर में पूछा जा सकता है कि क्या सचमुच अपभ्रंश प्राकृत से भिन्न ही कोई स्वतंत्र भाषा है?

यह भी तो हो सकता है कि वह शौरसेनी प्राकृत का अंतिम रूप हो अथवा गुजराती और हिंदी का पूर्ववर्ती रूप हो।

इस निबंध के पूर्वभाग में अपभ्रंश के संबंध में विचार करते हुए कहा जा चुका है कि शौरसेनी प्राकृत का ही परवर्ती रूप परिनिष्ठित अपभ्रंश है। साथ ही यह भी कहा जा चुका है कि अबतक उपलब्ध अपभ्रंश साहित्य की भाषा तीन प्रकार की है; प्राकृतापभ्रंश (परिनिष्ठित अपभ्रंश), अवहट्ठ और पुरानी हिंदी, पुरानी गुजराती। जैन कवियों ने जो प्रबंध काव्य लिखे हैं उनकी भाषा मुख्यतः प्राकृतापभ्रंश ही है जो किसी भी भूभाग की बोलचाल की भाषा नहीं थी। जैनेतर कवियों में से अब्दुल रहमान के संदेश रासक, विद्यापति की कीर्तिलता, प्राकृत पैंगलम् के अनेक छंद और हेमचंद्र द्वारा संकलित अनेक दोहों की भाषा अवहट्ठ है जो प्राकृत और बोलचाल की भाषाओं के सममात्रिक मिश्रण से बनी थी। किंतु सहज यानी सिद्धों के दोहों और चर्यापदों, संदेश रासक के कुछ दोहों, मुनिराम सिंह के पाहुड़ दोहा, प्राकृत पैंगलम् के अनेक छंदों तथा हेमचंद्र द्वारा संकलित अधिकतर दोहों की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश या अवहट्ठ नहीं बल्कि पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी मैथिली और मगही और पुरानी व्रजभाषा है। यद्यपि सभी अपभ्रंश कवियों ने अपनी भाषा को देशीभाषा कहा है किंतु भाषावैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर परिनिष्ठित अपभ्रंश में शौरसेनी प्राकृत के जितने लक्षण मिलते हैं उनकी तुलना में उसमें देशीभाषाओं यानी बोलचाल की तत्कालीन भाषाओं के बहुत कम लक्षण दिखाई पड़ते हैं। इसीलिये हेमचंद्र ने अपने सिद्ध हेमशब्दानुशासन के अंतर्गत प्राकृतव्याकरण के प्रसंग में अपभ्रंश का व्याकरण लिखते समय ग्राम्यापभ्रंश की चर्चा की है। उस समय विभिन्न प्रदेशों में जो बोलचाल की जो भाषाएँ थीं उन्हीं के लिये उन्होंने इस शब्द का प्रयोग किया है। एक बात और ध्यान देने की है कि नमिसाधु और हेमचंद्र दोनों ही अपभ्रंश को प्राकृतभाषा का ही एक रूप मानते हैं, उसे परवर्ती स्वतंत्र भाषा नहीं समझते। इसीलिये हेमचंद्र ने प्राकृत व्याकरण में सबसे पहले महाराष्ट्री प्राकृत का व्याकरण विस्तार से लिखने के बाद संक्षेप में क्रमशः शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश के उन लक्षणों का निर्देश किया है जो महाराष्ट्री प्राकृत से भिन्न हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि हेमचंद्र परिनिष्ठित अपभ्रंश को प्राकृत का ही एक भेद मानते थे। ग्राम्यापभ्रंश को प्राकृत से भिन्न भाषा समझकर ही उन्होंने उसके नियमों का निर्देश नहीं किया। हेमचंद्र के अपभ्रंश संबंधी नियमनिर्देशों के अंतर्गत एकसूत्र 'शौरसेनी वत्' (४४६) है जिसकी वृत्ति में उन्होंने कहा है, 'अपभ्रंशे प्रायः शौरसेनीवत् कार्यं भवति'; इससे स्पष्ट है कि परिनिष्ठित अपभ्रंश प्राकृतापभ्रंश अर्थात् परवर्ती शौरसेनी प्राकृत है।

यहाँ यह बात स्मरणीय है कि सभी साहित्यिक प्राकृतें ५वीं से १०वीं शताब्दी के बीच बोलचाल की भाषा से पर्याप्त भिन्न हो गई थीं। बोलचाल की भाषाएँ निरंतर परिवर्तित होकर आ० भा० आ० भाषाओं का रूप धारण करती जा रही थीं। उधर साहित्यिक प्राकृत अधिकाधिक कृत्रिम बनती जा रही थी। पाँचवीं शताब्दी के बाद उसी साहित्यिक प्राकृत का एक और कृत्रिम रूप साहित्यकों विशेषकर जैन कवियों द्वारा निर्मित हुआ जिसमें ग्राम्यापभ्रंश यानी बोलचाल की भाषाओं का भी थोड़ा बहुत पुट था। इस तरह यह एक मिश्र या संकरभाषा थी जैसी आज की उर्दूभाषा है। यदि हम उर्दू को हिंदी की ही एक शैली मानते है तो अपभ्रंश को भी शौरसेनी प्राकृत की परवर्ती शैली मानना उचित है। अनेक विद्वानों ने इस मत का समर्थन किया है। संस्कृतसाहित्य के इतिहास लेखक सुप्रसिद्ध विद्वान ए० बी० कीथ का मत है कि अपभ्रंश एक ऐसी साहित्यिक भाषा थी जिसमें प्राकृत और बोलचाल की भाषा दोनों का मिश्रण हुआ था अर्थात् प्राकृतभाषा के शब्दों और विभक्तियों को लेकर तथा लोकभाषा के व्याकरण को एक सीमा तक आधार बनाकर यह अपभ्रंश नाम की कृत्रिम भाषा विकसित हुई। (ए हिस्टरी आफ संस्कृत लिटरेचर–पृ० ३४) अपभ्रंश साहित्य के प्रथम गवेषक याकोबी ने भी पर्याप्त प्रमाण देकर यह सिद्ध किया है कि यह तथाकथित अपभ्रंशभाषा साहित्यिक प्राकृत और तत्कालीन देशभाषा का मिश्ररूप है। प्राकृत और अपभ्रंश के प्रसिद्ध विद्वान हरिवल्लभ भायाणी का भी यही मत है। उन्होंने 'संदेश रासक' की भूमिका (पृ० ४६–४७) में लिखा है कि देशी भाषाओं के उत्तरोत्तर विकास के साथ अपभ्रंशभाषा में भी परिवर्तन होता गया क्योंकि अपभ्रंश में व्याकरण के नियम देशी भाषाओं के ही थे। अंततोगत्वा परवर्ती अपभ्रंश जिसे अवहट्ट कहा जाता है, पूर्ववर्ती अपभ्रंश से पर्याप्त भिन्न हो गई। 'संदेश रासक' की भाषा पर विचार करते हुए उन्होंने यह सिद्ध किया है कि वह एक कृत्रिम भाषा होते हुए भी १२ वीं-१३ वीं शताब्दी की मध्य-देशीय लोक भाषाओं से बहुत अधिक साम्य रखती है। प्राकृत पैंगलम् की भाषा के संबंध में भी उनका यही मत है। 'पउम सिरि चरिउ' की भूमिका में उन्होंने यह स्पष्ट लिखा है कि—'अपभ्रंशनुं ध्वनितंत्र के उच्चारण जोतां ते प्राकृतोना ध्वनि-तंत्रथी खास जुदुं नथी पडतुं पणतेना विभक्तिना अनेआख्यातिक प्रत्ययो प्राकृतोंना ते ते प्रत्ययो करतां विकासक्रममां एक पगलुं आग वधेला छे अने प्राचीन गुजराती के व्रजभाषाना प्रत्ययोना पूर्वज जेव तेमने गणी शकाय तेमछे आ उपरथी एम नथी धारी लेवानुं के प्राचीन गुजराती अने प्राचीन हिंदी सीधेसीधा अपभ्रंशनां ज रूपांतरो छे कारण, उपलब्ध साहित्य अने बीजा पुरावाओने आधारे अपभ्रंश ए साहित्यमां जप्रयुक्त एक मिश्रभाषा होवानुं ठरे छे. इसवी पांचमी सदी आसपास-हिंदना पश्चिम कांठा पर रहेती आभीर वगेरे जेवी जातिओनी नित्यना व्यवहारनी

भाषा अज्ञात कारणोने लईने साहित्यमां प्रतिष्ठा पामवाने भाग्यशाली बनी. पण आवी ग्रामीण गणाती बोली तेना स्वाभाविक स्वरूपमां ज शिष्टोथी अपनावाय एवुं न बने, एटले ध्वनितंत्र के उच्चारण चालु प्राकृतोनुं राखी व्याकरणना प्रत्ययो देश भाषा (एटले के लोक बोली के बोलचाल नी भाषा) मांथी स्वीकारवामां आव्या. शब्दकोषमां पण नेवुं टका जेटला शब्दो प्राकृतना ज रह्या. बाकीनो अंश ते देश्य. आ मिश्र स्वरूपनी भाषा साहित्य रचना वधारे चोक्कसाइथी कहींये तो काव्य रचना-माटे वपरावा लागी. आ० भाषा ते अपभ्रंश.'

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि परिनिष्ठित अपभ्रंश और अवहट्ठ (परवर्ती अपभ्रंश) दोनों ही कृत्रिम या मिश्र भाषाएँ थीं और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का विकास सीधे उनसे नहीं हुआ। कृत्रिम या मिश्र भाषाओं में प्रजनन की शक्ति नहीं होती, वे वंध्या होती हैं। संस्कृत, साहित्यिक पालि, साहित्यिक प्राकृत परिनिष्ठित अपभ्रंश और उर्दू ऐसी ही भाषाएँ हैं। आजकल खड़ीबोली में संस्कृत के तत्सम शब्दों के संमिश्रण से जो साहित्यिक भाषा लिखी जाती है वह भी ऐसी ही कृत्रिम भाषा है जो लोकभाषा खड़ीबोली से पर्याप्त भिन्न है। यदि आगे कभी हिंदीभाषा विकसित होकर कोई अन्य रूप धारण करेगी तो वह विकास या प्रजनन हिंदी की बोलियों राजस्थानी खड़ीबोली, व्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, मगही और मैथिली द्वारा ही होगा, साहित्यिक खड़ीबोली हिंदी द्वारा नहीं। इसी तरह यह मानना होगा कि हिंदी की विभिन्न बोलियों का विकास सीधे परिनिष्ठित अपभ्रंश या अवहट्ठ से नहीं हुआ, क्योंकि परिनिष्ठित अपभ्रंश में शौरसेनी प्राकृत के अधिकांश लक्षण वर्तमान हैं और अवहट्ट में शौरसेनी प्राकृत (पश्चिमी और पूर्वी) तथा विभिन्न बोलियों के रूपों का समान मिश्रण है। किंतु आश्चर्य तो यह है कि हिंदी के अनेक स्वनाम धन्य विद्वानों ने भाषा-विकास के इस सिद्धांत की ओर ध्यान न देकर हिंदी की उत्पत्ति सीधे अपभ्रंश से मानी है। चूँकि परिनिष्ठित अपभ्रंश मुख्यतः पश्चिमी शौरसेनी प्राकृत ही है अतः उन्होंने उसके सीधे विकासक्रम में आनेवाली बोलियों—राजस्थानी, खड़ीबोली, व्रजभाषा, अवधी और गुजराती को अपभ्रंश से ही विकसित मान लिया है और हिंदी की अन्य बोलियों (भोजपुरी, मगही और मैथिली) को हिंदी से बाहर करके उसे बिहारी नाम दे दिया है। जिन विद्वानों ने अपभ्रंश को हिंदी का पूर्वरूप या पुरानी हिंदी माना है उन्होंने भी यही गलती की है। वे भूल गए कि परिनिनिष्ठित अपभ्रंश और अवहट्ट प्राकृत के ही परवर्ती रूप हैं और हिंदी या गुजराती का पूर्ववर्ती रूप वे लोकभाषाएँ थीं जिनका आधार लेकर अपभ्रंश भाषा निर्मित हुई थी। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने यह स्पष्ट लिखा है

कि अपभ्रंश भाषा दो प्रकार की थी; 'एक तो शिष्ट जन की अपभ्रंश भाषा जिसका व्याकरण स्वयं हेमचंद्राचार्य ने लिखा था और जो प्रधान रूप से जैन पंडितों के हाथों सँवरती रही। यह बहुत कुछ प्राकृत और संस्कृत की भाँति ही शिष्ट भाषा बन गई थी। दूसरी ग्राम्यापभ्रंश भाषा संभवत: चलती जबान थी। भाषाशास्त्र की दृष्टि से यह अधिक अग्रसर हुई भाषा है।' (हिंदी साहित्य का आदिकाल पृ० ४२) उन्होंने संदेशरासक, 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह', 'प्राकृत पैंगलम्' और हेमचंद्र के संकलन के अनेक छंदों को पुरानी हिंदी ही कहा है। किंतु उन्हीं के दो ख्यात शिष्य नामवर सिंह और शिवप्रसाद सिंह ने अपभ्रंश को प्राकृत और आ० भा० आ० भाषाओं के बीच की एक स्वतंत्र भाषा सिद्ध किया है और उसी से हिंदी की उत्पत्ति मानी है। जो भी हिंदी को अपभ्रंश से उत्पन्न मानेगा उसे अनिवार्यत: यह भी मानना पड़ेगा कि केवल पश्चिमी हिंदी की बोलियाँ ही हिंदी हैं और पूर्वी हिंदी तथा बिहारी बोलियाँ हिंदी नहीं हैं।

यहीं अपभ्रंश से संबंधित एक अन्य तथ्य के विषय में भी विचार कर लेना उचित होगा जिसे याकोबी-ग्रियर्सन-कीथ आदि विदेशी विद्वानों ने स्थापित किया था और भारतीय विद्वानों—धीरेंद्रवर्मा, हरिवल्लभ भायाणी, हजारीप्रसाद द्विवेदी आदि ने, जिसको अंधभाव से स्वीकार कर लिया। इन विद्वानों ने यह सिद्ध किया है कि चूँकि भरत मुनि ने आभीरादि की बोली का उल्लेख किया है तथा संस्कृत के कुछ अन्य आचार्यों ने उकार बहुला भाषा होने के कारण अपभ्रंश को आभीरी भाषा कहा है इसलिये अपभ्रंश आभीर जाति की भाषा थी। नामवरसिंह और शिवप्रसाद सिंह ने बड़े विस्तार से आभीरों और गुर्जरों के राज्यस्थापन और प्रसार का वर्णन किया है और इस तरह यह सिद्ध करना चाहा है कि वर्तमान हिंदी और गुजराती भाषाएँ आभीरी भाषा से उत्पन्न अपभ्रंश की संतानें हैं। सर्वप्रथम इतिहासकार विंसेंटस्मिथ ने अपने इतिहास में आभीरों के विस्तार और राज्यस्थापन का विस्तृत वर्णन किया था और यह कहा था कि भारत की वर्तमान राजपूत जातियाँ मूलतः आभीर और गुर्जर ही हैं। प्रसिद्ध इतिहासकार चि० वि० वैद्य ने 'हिंदू भारत का उत्कर्ष' नामक ग्रंथ में सप्रमाण यह सिद्ध कर दिया है कि राजपूत प्राचीन आर्यक्षत्रिय हैं और आभीरों से उनका कोई संबंध नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से ही भारत में आभीर जाति का आगमन महाभारत काल में अथवा ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व हुआ था। तब से कई सौ वर्ष तक यह जाति पश्चिमी भारत में बसी रही और बाद में इस जाति के लोग मालवा और गुजरात में फैल गए। हजारों वर्षों तक आर्यभाषा भाषाओं के बीच निवास करने के बाद भी कोई जाति अपनी विदेशी भाषा उसकी ध्वनियों और रूपों को यथावत् सुरक्षित रख सकती थी, यह असंभव है। यदि भारतीय आर्यभाषा की

तत्कालीन किसी बोली पर आभीरी भाषा का कुछ प्रभाव पड़ा हो तो इससे यह नहीं सिद्ध हो जाता कि भारतीय आर्यभाषा का कोई रूप पूरा का पूरा आभीरी भाषा की देन है। डा० पी० एल० वैद्य ने नामवर सिंह की पुस्तक 'हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग' की भूमिका में इस मत का खंडन किया है कि उकार बहुला भाषा होने के कारण अपभ्रंश आभीरी भाषा है। उनका कथन है कि भरत मुनि ने आभीरों की विभाषा का उल्लेख तो किया पर उसे अपभ्रंश नहीं कहा है और यदि आभीरों की भाषा उकार बहुला थी तो भी उकार बहुला अपभ्रंश भाषा को निश्चित रूप से आभीरी भाषा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि हम संस्कृत के 'ललित विस्तर' और 'सधर्म पुंडरीक' नामक बौद्धग्रंथों में तथा धम्मपद प्राकृत रूपांतर में उकार बहुल शब्दों का प्रयोग पाते हैं। उनका अनुमान है कि अपभ्रंश में उकार बहुल शब्दों के प्रयोग की जो प्रवृत्ति है उसकी परंपरा वैदिक काल से चली आ रही थी। वैद्य महोदय अपभ्रंश को प्राकृत ही मानते हैं।

पहले कहा जा चुका है कि आ० भा० आ० भाषाओं का विकास सीधे बोलचाल की प्राकृतों से हुआ है, साहित्य प्राकृत या कृत्रिम अपभ्रंश से नहीं। इसका यह अर्थ कि प्राकृत भाषा जब ५वीं शताब्दी के आसपास एक ओर कृत्रिम साहित्यिक भाषा बन गई तो दूसरी ओर वह लोककंठ में परिवर्तित और विकसित होती हुई आधुनिक आ० भा० आ० भाषाओं का रूप धारण करने लगी। उन लोकभाषाओं का लिखित रूप आज प्राप्त नहीं है किंतु कालांतर में उनमें भी साहित्यरचना होने लगी थी। आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक के बीच लिखा गया ऐसा साहित्य वर्तमान है जिसकी भाषा को हम आ० भा० आ० भाषाओं का पूर्ववर्ती रूप कह सकते हैं। पश्चिमी शौरसेनी और पूर्वी-शौरसेनी प्राकृत बोलियों से ही गुजराती तथा हिंदी की समस्त बोलियों का विकास हुआ है। अतः राजस्थान और गुजरात से लेकर पूर्वी और उत्तरी बिहार तक के विशाल भूभाग में बारहवीं शताब्दी के पूर्व लोकभाषाओं में कम साहित्य नहीं लिखा गया होगा। किंतु उसका अधिकांश कालकवलित हो चुका है। जिन उपलब्ध ग्रंथों को आज अपभ्रंश तथा अवहट्ट भाषा का ग्रंथ कहा जाता है उनमें से कई पुरानी गुजराती और पुरानी हिंदी के ग्रंथ हैं। उनमें से कई संकलनग्रंथ हैं। जिनमें आठवीं से बारहवीं शताब्दी के तक लिखे छंद संकलित हैं। उन छंदों में से कुछ की भाषा परिनिष्ठित अपभ्रंश है, कुछ की अवहट्ट और कुछ की तत्कालीन लोकप्रचलित बोली। हेमचंद्र द्वारा संकलित दोहों में से अनेक दोहे पुरानी हिंदी के हैं। उसी तरह 'संदेश रासक' के और प्राकृत पैंगलम् के अनेक छंद प्राचीन राजस्थानी ब्रजभाषा और अवधी के उदाहरण

हैं। 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' में अवधी और भोजपुरी के प्राचीन रूपों को देखा जा सकता है। आठवीं नवीं शताब्दी में सहजयानी सिद्धों द्वारा लिखे गये दोहा कोषों और चर्या पदों की भाषा में मगही, मैथिली और भोजपुरी बोलियों के प्राचीन रूप के दर्शन होते हैं। गोरखनाथ की बानियों की भाषा यद्यपि पर्याप्त विकृत हो चुकी है किंतु उसमें दसवीं शताब्दी के राजस्थानी और खड़ीबोली के कुछ रूप देखे जा सकते हैं। यदि हिंदी की शोधकर्ता इस दिशा में विशेष रूप से अग्रसर हों तो ६ वीं शताब्दी से १० वीं शताब्दी के बीच का ऐसा साहित्य अवश्य प्राप्त हो सकता है जिसमें प्राचीन हिंदी की बोलियों के तत्कालीन रूप का यथार्थ ज्ञान हो सकता है। जब तक ऐसा नहीं हो जाता तब तक हमें वर्तमान उपलब्ध सामग्री तथा अनुमानों पर ही संतोष करना होगा।

*

पौराणिकी

[इस स्तंभ के अंतर्गत ऐतिहासिक महत्व की अप्रकाशित मूल सामग्री का प्रकाशन किया जायेगा। इस अंक में आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के सभासंग्रह से कुछ पत्र प्रस्तुत किए जा रहे हैं। ऐसी सामग्री इस स्तंभ के लिये आमंत्रित है।]

★

[१]

दौलतपुर, रायबरेली
४-४-२७

श्रीमान्,

आपके एक विज्ञापन से मालूम हुआ कि साहित्य संमेलन के तेरहवें अधिवेशन में किये गये मेरे बकवाद को आप छपा कर बेच रहे हैं। मुझे आपने इसकी सूचना तक नहीं दी। सदाचार ने शायद इसकी आवश्यकता ही नहीं समझी। कृपा करके उसकी एक कापी मुझे वी० पी० पी० से भेज दीजिये।

विनीत,
महावीरप्रसाद द्विवेदी

कार्ड का पता

श्रीयुत मंत्री महोदय,
हिंदी-साहित्य-संमेलन,
जान्स्टनगंज,
इलाहाबाद

ऐनग्रदर पोस्टकार्ड
एम० डी०
4-4-27

द्विवेदी जी के हाथ का लिखा यह पोस्ट-कार्ड उनके संग्रह में है पर इसे न भेज कर कोई दूसरा कार्ड उन्होंने भेजा, जो इस कार्ड से ही प्रकट है।

[२]

इस पत्र का उत्तर देते समय इस पत्र की संख्या और तिथि अवश्य लिखनी चाहिए।

डाँक का पता—पोस्ट बाक्स नं० ११

हिंदी साहित्यसंमेलन, प्रयाग

[सन् १८६० ई० के २१ वें ऐक्ट के अनुसार रजिस्टर्ड संस्था]

प्रयाग

पत्रसंख्या ६६। साहित्य ‍ ‍ ‍ ‍ मि० चैत्र शु० १२, १६८४

श्रीमान् पं० महावीर प्रसाद जी द्विवेदी,
दौलतपुर, रायबरेली।

श्रीमन्महोदय,

आपका ता० ४-४-२७ का कृपापत्र मिला। उत्तर में निवेदन है कि तेरहवें संमेलन के स्वागताध्यक्ष की हैसियत से आपने जो भाषण दिया था, और जो कर्मशील प्रेस में छपा था, उसी की कुछ प्रतियां कानपुर संमेलन की स्वागत-समिति द्वारा इस कार्यालय को प्राप्त हुई थीं, पर विज्ञापन, जिसे देखकर आपका ध्यान इस विषय की ओर आकृष्ट हुआ है, उसी संस्कार की प्रतियों का है। अभी कोई नया संस्करण इस पुस्तक का प्रकाशित नहीं हुआ है, यदि आगे चलकर इस पुस्तक की नवीन आवृत्ति हुई तो आपकी सेवा में उसकी अपेक्षित कापियां बिना मूल्य भेजी जायँगी।

भवदीय,
भ० प्र० वाजपेयी
साहित्य मंत्री, के लिये

द्विवेदी जी ने इस पत्र पर अपने हाथ से लिखा है कि "भाषण का नया संस्करण" और इसके जवाब की प्रतिलिपि भी साथ में उनके हाथ की ही लिखी हुई है।

जवाब

यदि मेरे उस भाषण का नया संस्करण निकालने का विचार कभी किया जाय तो निकालने के पहले— मुद्रण आरंभ करने के पहले- मुझसे पूछ लिया जाय।

१६-४-२७

[३]

हिंदी साहित्य संमेलन, प्रयाग

वै० कृ० ४, ८४

११३। साहित्य
श्री पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी,
दौलतपुर, रायबरेली,
पूज्यपाद द्विवेदी जी,

प्रणाम।

आपका ता० १६-४-२७ का कृपापत्र मिला। आपके आज्ञानुसार आपके भाषण का नवीन संस्करण छापने से पूर्व आपसे पूछ लिया जायगा।

भवदीय,
भ० प्र० वाजपेयी,
स० मं०
वास्ते साहित्य मंत्री,

श्रीमान् पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी,
दौलतपुर,
रायबरेली

(इस कार्ड पर प्रिय महाशय काटकर श्री भगवती प्रसाद वाजपेयी ने पूज्यपाद द्विवेदी जी संशोधन किया है।)

[४]

Telegraph: Ganga, Lucknow— Telephone No. 6

गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय, २६-३०, अमीनाबाद-पार्क,

प्रकाशक और विक्रेता
[विक्रय-विभाग]

लखनऊ, २६।४।१९२७

'सुधा'—सर्वोत्कृष्ट मासिक पत्रिका, वार्षिक मूल्य ६।।)

पूज्यवर,

प्रणाम।

कृपापत्र मिला। भर्तृमेण्ठताम मैंने इकबारा प्रूफ में बना दिया था। उसके बाद भार्गवजी ने कहा कि आपकी पुस्तक असल के माफिक ही छापी जाय, उसमें कुछ भी परिवर्तन न हो। साधारणतः आपके लेख या पुस्तक में हम लोग दखल नहीं देते, न दे ही सकते हैं। कारण, उसमें इसकी गुंजाइश ही नहीं रहती। मैं समझा, कमर्शल प्रेस से यह पुस्तक आपको दिखलाकर भेजी गई है। अस्तु, प्रूफरीडर ने असल में मेदुताम् देखकर वैसा ही पाठ कर दिया होगा। मैंने संस्कृत अंश स्वयं देख दिया था। संभवतः उसमें यही एक गलती रह गई है। इसे मैं अब हाथ से सब प्रतियों में ठीक करा दूंगा। गलती और अपराध,

भ्रमवश अवश्य ही हम लोगों से बन पड़ा है। आशा है, आप उसे क्षमा करने की कृपा करेंगे। आइन्दा ऐसा न होगा।

चरणसेवक,

रूपनारायण पांडेय

पुनश्च—कमर्शल प्रेस से हमें यह सूचना मिली थी कि पुस्तक छपने आई है, वह छापने जा रहे थे। इसी से यह भ्रम हुआ कि ऑरिजिनल आपकी देखी होगी।

R.N. Pandey

पांडेय जी ने पत्र के शीर्षक में हाथ से काट कर माधुरी के स्थान पर छुपा और ७॥) के स्थान पर ६॥) लिखा है।

[५]

॥ श्रीः ॥

आश्रम-साबरमती,
३-४-२४

परम पूज्य तीर्थस्वरूप पण्डित जी,

सादर साः प्रणाम। पत्र मिला। बिटिया की बीमारी का हाल पढ़ कर रंज हो रहा है। बुढ़ापे में एक न एक चिंता आपको लगी ही रहती है। परमात्मा शीघ्र ही आपको चिंतामुक्त और बिटिया को रोगमुक्त करें।

मैंने यहां महात्मा जी के निजी डाक्टर को बिटिया का हाल सुनाया था। उन्होंने कहा कि बीमारी गंभीर है और गुर्दे की खराबी से पैदा हुई है। कुशल डाक्टर का इलाज होना चाहिए। यदि बालबच्चा होनेवाला हो तो बहुत चिंता रखने की जरूरत है। कहीं अस्पताल में प्रसूति का इंतजाम करना चाहिए। ऐसी अवस्था में प्रसूति के समय वे जान का खतरा बताते हैं। आशा है, कानपुर में कुशल और मित्र डाक्टरों की कमी न होगी और इस बीच बिटिया को आराम हुआ होगा। परमात्मा इस संकट में आपके सहायक हों दुनियां में अक्सर यही अनुभव होता है कि नेक और सच्चे आदमियों की जिन्दगी कष्टों और चिंताओं में ही बीतती है। मैं इसको ईश्वर के अनुग्रह का पूर्वचिह्न समझता हूँ। यह बरसात के पहले की तपिश है। और मैं देखता हूँ कि वे उस जिंदगी से घबड़ा नहीं जाते, उल्टा उसमें आनंद मानते हैं। आपको मैंने विपत्तियों में हतधैर्य नहीं देखा। इसी आत्मबल पर आप जीर्ण-शीर्ण शरीर को वहन कर रहे हैं। मांगल्य पर श्रद्धा हो यह आत्मबल है। आशा है इस संकट को भी आप धीरज के सहन करेंगे।

मेरे योग्य सेवा लिखेंगे। इति।

सेवक
हरिभाऊ

श्रीमान् पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी,
जुही-कलां,
कानपुर

द्विवेदी जी ने इस पत्र पर लिखा है—
"रिप्लाइड 6-4-24'—उपाध्याय जी ने लिफाफे पर जो पता लिखा है उसमें जुही कला (पो०) कानपुर, यू० पी, अँग्रेजी में भी लिखा है।

[६]

ओ३म्

सं० १७, नया बाजार
दिल्ली
ति० ८-८-१९८०
२३-११-२३ ई०

श्रीमान् द्विवेदी जी महाराज,

दिल्ली में हिन्दी साहित्य सम्मेलन का उत्सव मनाया जावे यह मेरी चिरकाल से कामना थी। इस वर्ष वह कामना पूरी हो रही है। दिल्ली सैकड़ों शताब्दियों से भारत की राजधानी रही है। यहाँ सम्मेलन तभी सफल हो सकता है जब आप से वृद्ध, अनुभवी, प्रभावशाली, साहित्यसेवी हिन्दी साहित्य के कर्णधार बनें। इसी दृष्टि से हमसब ने, सर्व सम्मति से, आपको इस वर्ष के सम्मेलन का सभापति चुना है। स्वागत कारिणी के सभासदों का एक दल आपकी सेवा में उपस्थित होगा। मेरा सानुरोध निवेदन है कि आप हम लोगों के निमंत्रण को अवश्य स्वीकार करें। मेरा अपना भी स्वार्थ है कि आपके साथ वार्तालाप करके आपकी गुण ग्राहकता का परिचय दे सकूँ।

इसमें सन्देह नहीं कि इस वृद्धावस्था में आपको यात्रा संबंधी कुछ कष्टों की संभावना है। परंतु यहाँ ऐसा प्रयत्न किया जायगा कि आपको किसी प्रकार का कष्ट न हो।

आपका मंगलाभिलाषी
श्रद्धानन्द संन्यासी

सेवा में—

श्रीमान् पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी जी
कानपुर

यह पत्र स्वामी जी ने द्विवेदी के पास हाथ से भेजा था जिस पर द्विवेदी जी ने लिखा है— "रिसिव्ड 2.12.23." पूरे पत्र तथा लिफाफे में कहीं भी स्वामी जी ने अँग्रेजी का प्रयोग नहीं किया है।

[७]

THE "HINDU PUNCH"
Largest Most Influential Circulation.
TELEGRAMS JIVANDATA, CALCUTTA.
PHONE 1840 Bara Bazar
48, UPPwf Chitpur Road.
Calcutta. 31. 10. 26
Ref No.

आर्य !

शतकोटि प्रणाम। आपका कृपा कार्ड पाकर बड़ी ही प्रसन्नता हुई। नमाधिक आनंद आपकी विजयांक पर सम्मति पढ़कर हुआ। आपके

से परम पूजनीय वृद्ध साहित्य-महारथी का यह आशीर्वचन-युक्त उत्साह-वर्द्धक वाक्य पढ़कर किस नौसिखुए लेखक या सम्पादक का हृदय पुलकित न हो उठेगा। सचमुच आपकी इन पंक्तियों से मैंने अपने को बड़ा सौभाग्यशाली और कृतार्थ माना। यों तो मैं आरम्भ से ही गत १९१२ में जब आरे से 'मनोरंजन' निकाला, तभी से देख रहा हूँ कि श्रीमान् की मेरे ऊपर असीम दया रहती है, इसलिये वह पुरानी दया आपको मेरी कृतियों को सानुग्रह एवं सानुराग देखने के लिये विवश करती है और आप से मेरे लिये उत्साह वर्द्धक कहलवा ही देती है, तथापि इस बार विजयांक को सफल बनाने के लिये मैंने जो अल्प आयास किया था, वह आपको रुचिकर हुआ तो मैं समझता हूँ कि धन्योऽस्मि। आपकी ये पांच दस पंक्तियाँ सकड़ों ही सम्मतियों से मेरी दृष्टि में मूल्यवान् है, क्यों कि आप हिन्दी साहित्य के अविसंवादित श्रेष्ठ आचार्य हैं। अतएव हे आर्य! मेरे कृतज्ञ हृदय के शत-शत धन्यवाद स्वीकार करें और अपने इस चिर कृपापात्र पर सदैव यही स्नेह, वात्सल्य, दया और अनुग्रह बनाये रखें।

मुझे शाक्तप्रमोद नामक पुस्तक बड़ी देर से मिली इसीलिये मैं इस अंक में उससे उचित सहायता नहीं ले सका। अगली बार श्रीमान् के आदेशानुसार उसको उपयोग में लाने की निश्चय ही चेष्टा करूँगा।

इसपर केवल M. D. 3-11-26 द्विवेदी जी के हस्तलेख में अंकित है।

वशंवद,
ईश्वरीप्रसाद शर्मा

[८]

सत्याग्रह आश्रम
साबरमती
१५-१०-२४

श्रीमान्,

जैसा कि साथ की सूचना से आप को ज्ञात होगा मैंने हिन्दी के कुछ लेखकों की जीवनी लिखने का काम हाथ में ले लिया है। यह कार्य मेरे जैसे साधारण लेखक के लिये अत्यन्त कठिन है लेकिन जब तक कोई दूसरा इस आवश्यक कार्य की ओर ध्यान नहीं देता तब तक मेरी धृष्टता क्षन्तव्य है।

मेरी यह आप से प्रार्थना है कि आप इस कार्य में यथावकाश कुछ सहायता दें। जिस सहायता की मुझे आवश्यकता है वह यह है।

ये जीवनियां किस प्रकार लिखी जानी चाहिये जिन महानुभावों के नाम मैंने दिये हैं उनमें से किसी के विषय में आप कुछ लिख सकेंगे? प्रतापनारायण जी के विषय में आपका महत्वपूर्ण लेख मैं पढ़ चुका हूँ और उसे मैं मँगा लूगा। राय देवी प्रसाद जी के एक संबंधी राय शारदा प्रसाद सिंह ने मुझे लिखा है कि संभवतः आप कुछ बातें 'पूर्ण' जी के विषय में लिख सकें।

शीर्षक श्री चतुर्वेदी जी ने लाल स्याही से लिखा है और द्विवेदी जी ने इस पत्र पर लिखा है— "रिप्लाइड—25-10-24"

मैं जानता हूं कि आपका स्वास्थ्य बहुत दिनों से ठीक नहीं है और मुझे यह भी मालूम है कि आपका संग्रह ना० प्र० सभा (काशी) में है फिर भी यदि आप यथावकाश कुछ परामर्श दे सकें या लिख सकें तो अत्यन्त कृतज्ञ होऊँगा और अपना परम सौभाग्य समझूँगा। कार्य की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए ही मैंने इस निस्सकोच भाव से आप से निवेदन किया हैं इसलिये मेरा अपराध क्षमायोग्य है।

भवदीय

बनारसीदास चतुर्वेदी

[६]

आश्रम
साबरमती
५-११-२४

श्रीमान्

द्विवेदी जी ने इस पर लिखा है :—रिमाइंड "1-12-23."

प्रणाम। २४ अक्टूबर का कृपा पत्र मिला। कृतज्ञ हूं। पत्र को पढ़कर मुझे बड़ी लज्जा आई, लज्जा इसलिये कि मैंने आपके प्रति अपने हृदय में कुछ कटु भाव रक्खा था। मेरा कर्तव्य था कि उस घटना के मामले को आपसे पत्र व्यवहार द्वारा तभी साफ कर लेता। यदि मुझे उसी समय आप के कथन का उद्देश्य ज्ञात होता तो मैं कदापि मन में बुरा भाव न रखता। आज मैं आपके कथन को ठीक तरह समझ सकता हूँ। जिन महानुभाव का चरित आपने सरस्वती में छापा था और जिस चरित का कुछ अंश मैंने "प्रवासी भारतवासी" में लिया भी था वे कुछ ऐसे ही आदमी थे, और मैंने अब यह भी जान लिया है कि प्रवासी भारती इस बात के बड़े इच्छुक रहते हैं कि भारतीय पत्रों में हमारी प्रशंसा छपे। पर उस समय जब मैं आपके पास गया था केवल इसी उद्देश्य से गया था कि आप से प्रार्थना करूँ कि आप भी इस विषय में कुछ लिखा करें। राजनैतिक विषय सरस्वती में न छपने के कारण मैंने चरितों के छपाने के लिये आपसे निवेदन किया था। मेरी यह आकांक्षा वर्षों से थी कि कभी सरस्वती में मेरा भी लेख छपे (जब तक आप सम्पादक रहे तब तक यह आकांक्षा बनी रही आपके अलग होने पर यह आकांक्षा भी जाती रही।) इस लिये जब आप से कोई आशाजनक उत्तर नहीं मिला तो संभवतः इस निराशा के भी कारण कि मेरा लेख सरस्वती में न छप सकेगा मुझे और भी बुरा लगा था। आज ६ वर्ष बाद, आपका पत्र मिलने पर मैं उक्त घटना को ठीक दृष्टि से देख सकता हूं। हिंदी में कम से कम एक पत्र तो ऐसा होना चाहिए जिसमें केवल उच्च स्टांडर्ड के लेखकों के लेख छपें। इससे नवीन लेखकों के हृदय में ऊँचे उठने की आकांक्षा बनी रहती है। आप के समय में मामूली लेख सरस्वती में बहुत ही कम छपते थे। इसलिये मैं अनुमान कर सकता हूं कि

आप को अनेक मेरे जैसे साधारण लेखकों को निराश करना पड़ता होगा। इस कारण मुझे बुरा न मानना चाहिए था। अनुभवहीनता के कारण मैंने बुरा भाव मन में रक्खा, एतदर्थ मुझे ही आपसे माफी माँगनी चाहिए। इस घटना से मैंने यह शिक्षा ले ली है कि किसी के कथन पर बुरा मानने के पहले इस बात की ठीक ठीक जांच कर लेनी चाहिए कि कथन का उद्देश्य क्या था। भविष्य में मुझ से ऐसी भूल न होगी।

हिंदी लेखकों के चरितों के विषय में आपने जो परामर्श दिया है तदर्थ मैं कृतज्ञ हूँ। यदि हो सका तो कभी आपके दर्शन करके इस विषय में और भी कुछ निवेदन करूँगा।

आपके पत्रों को मैं एक अमूल्य वस्तु मानता हूं। खासकर इस पत्र ने तो मुझे नम्रता का पाठ भी पढ़ाया है। श्री हरिभाऊ जी के साथ प्रातःकाल में, जब हम दोनों टहलने जाते हैं, प्रायः आपके गुणों की चर्चा होती रहती है। मैंने कई बार उनसे तथा अपने अन्य मित्रों से कहा भी था "द्विवेदी जी में सहृदयता की कमी है।" एक छोटी सी घटना के आधार पर अनेक क्षुद्रहृदय मनुष्य दूसरों के विषय में किस प्रकार गलत भावना धारण कर लेते हैं इसका उदाहरण अपने ही को पाकर मैं अत्यंत लज्जित हूं। अधिक क्या लिखूं।

भवदीय

कृपाकांक्षी

बनारसीदास चतुर्वेदी

सेवा में:—

श्रीमान् पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी,
जुही—कलाँ, कानपुर

[१०]

सत्याग्रह-आश्रम
साबरमती
३०-११-२४

पूज्य द्विवेदी जी,

सादर प्रणाम।

कृपा पत्र के लिये कृतज्ञ हूं। कटिंग भी मिल गये। पुस्तक के साथ पत्र भेजते भेजते रह गया। पत्र में मैं जो निवेदन आप से करना चाहता था वह यह है। यद्यपि यह मेरी धृष्टता है तथापि हृदय के भाव को मैं छिपाना नहीं चाहता हूँ।

मेरी प्रार्थना है कि आप अपने Litarary reminiscences साहित्यिक स्मृतियाँ लिखें। हिंदी संसार के लिये वे एक अनोखी चीज़ होंगी। हिन्दी गद्य के विकाश, खड़ी बोली की कविता के प्रचार तथा हिन्दी पत्र सम्पादन कला के प्रारंभिक इतिहास पर जितना प्रकाश आप डाल सकते हैं उतना शायद ही कोई डाल सके। एक दूसरी दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि आप अपना साहित्य सम्बन्धी अनुभव जनता के सम्मुख रक्खें, वह यह कि आप इस प्रकार उन गलत फहमियों को भी दूर कर सकेंगे जो जानकर अथवा अनजाने कुछ लोगों ने आप के विषय में फैला रक्खी हैं। उदाहरणार्थ आपने 'बिचार दर्शन' देखा ही होगा। भारतिया जी ने उसकी प्रस्तावना में न जाने क्या क्या अगड़म बगड़म लिख मारा है। स्वयं उनकी पुस्तक का तात्पर्य और हेतु मैं नहीं समझ सका लेकिन आप पर जो क्रोध अकारण ही उन्होंने प्रकट किया है उसे तो मैं बिल्कुल ही नहीं समझ सका।

इसके अतिरिक्त आप का सम्बन्ध हिन्दी के बहुत से लेखकों और कवियों से रहा है अनेकों को आपने लेखक बनाया है और अनेक कवियों की कविता के विकाश में सहायता दी है और फिर आपको गुरुवत पूज्य मानने वालों में गणेश जी जैसे प्रतिभाशाली लेखक हैं। भला आप से अधिक मनोरंजक साहित्यक स्मृतियाँ किसकी होंगी ?

श्री हरिभाऊ जी से मैंने अपने इस प्रस्ताव का ज़िक्र किया वे भी मुझे से सोलह आना सहमत हैं।

(दूसरी ओर)

मेरे लिये यह धृष्ठता की बात है कि मैं इस प्रकार का प्रस्ताव आप से करूँ क्योंकि मेरा आपका घनिष्ट सम्बन्ध नहीं रहा, यद्यपि मैं आप से कम से कम पन्द्रह वर्ष से परिचित हूँ। केवल एक बात ने मुझे इस प्रस्ताव को करने का साहस दिया है वह यह कि जिसप्रकार आप के कृपा पत्रों से मेरा वहम दूर हो गया उसी तरह आप के साहित्यिक स्मृतियों से अनेक गलत फहमियां दूर हो जावेंगी।

मनुष्य से अधिक मनोरंजक संसार में कोई विषय नहीं। यदि आप जैसे असाधारण मनुष्य अपने अनुभव लिखें तो उनसे सर्वसाधारण का मनोरंजन ही नहीं बड़ा उपकार भी हो सकता हैं।

आशा है कि आप मेरे इस प्रस्ताव पर विचार करेंगे।

भवदीय

कृपाकांक्षी

बनारसीदास चतुर्वेदी

इस पत्र पर द्विवेदी जी ने कुछ भी नहीं लिखा है। पूरा पत्र हाथ से श्री चतुर्वेदी जी ने लिखा है, और शीर्षक के लिए लाल स्याही का प्रयोग किया है।

जब मैंने राय देवीप्रसाद जी की जीवनी के विषय में आपको पत्र लिखा था तब मैं समझता था कि शायद वह मेरा आपको अन्तिम पत्र होगा क्योंकि मुझे आशा न थी कि आप उसका उत्तर देंगे। आपकी बड़ी ही कठोर मूर्त्ति मैंने अपने मस्तिष्क में बना रक्खी थी। मेरी यह भूल थी। कानपुर सम्मेलन में मैंने आपके दर्शन किए थे और आपको तथा जगन्नाथप्रसाद जी को एक ही गाड़ी में बैठा हुआ देखकर मुझे बड़ा आनन्द हुआ था। फिर भी मैं यह समझकर कि आपका हृदय ब्रिटिश साम्राज्यवादी के समान कठोर है आपसे मिलने का साहस नहीं कर सका। पुनश्च मि० एण्ड्रूज के विषय में आपने जो लिखा है उससे मैं सर्वथा सहमत हूँ। सचमुच वे देवता हैं। मैं उन्हें दस वर्ष से जानता हूँ। ऐसा भोला आदमी मैंने अपने जीवन में दूसरा नहीं देखा। उनके स्वभाव में बालसुलभ सरलता है। अधिक क्या लिखूँ, मेरे हृदय में उनके लिये उतना ही आदर है जितना अपनी पूज्य माता के लिये और मि० एण्ड्रूज के हृदय में जो स्नेह है वह किसी भारतीय माता के स्नेह से कम कोमल नहीं है।

[११]

श्रीहरिः

७ दीदारबक्श लेन
पो० कैमक स्ट्रीट
कलकत्ता
१७-४-२४

पूज्यवर पण्डित जी।

सविनय प्रणाम! आज बहुत दिनों के अनन्तर मुझे आपकी सेवा में पत्र भेजने और अपना स्मरण दिलाने का अवसर मिला है। आशा है, आप मुझ दीन को नहीं भूले होंगे। मैं आपका प्रदायित इन्डियन प्रेस का अनुवाद कार्य्य बहुत दिनों तक घर पर ही रह कर करता रहा। उस कार्य्य की इतिश्री होने पर १९१७ ई० में पचगछिया (भागलपुर) प्रियव्रत हाई इ० स्कूल के हेड पण्डित के पद पर नियुक्त हुआ और दो वर्ष तक उस पद पर रहा। ततःपर दरभंगा 'मिथिला मिहिर' पत्र के सम्पादकीय विभाग में ३ वर्ष तक काम किया। गत वर्ष में श्रीमान् कुमार गंगानन्दसिंह साहब एम० ए० के आदेश से यहां आया और उनकी सिफ़ारिश से मुझे वणिक प्रेस में एक अच्छी नौकरी मिल गई। तब से मैं बराबर यहीं रहकर प्रेस का काम कर रहा हूँ। श्रीमान् कुमार साहब ने अपनी कोठी में मुझे आश्रय दे रखा है।

निवेदन यह है कि श्रीमान् कुमार साहब अपने स्वर्गीय पिता (राजा-कमलानन्द सिंह बहादुर) का सविस्तर जीवनचरित लिखना चाहते हैं। 'सरस्वती' की जिस संख्या में आपने उनकी जीवनी प्रकाशित की

थी वह संख्या इनके पास नहीं है। राजा साहब का देहान्त होने पर शायद किसी ने उस वर्ष की सरस्वती का फायल उड़ा लिया। इसलिये यदि आप उस वर्ष की सरस्वती श्रीमान् कुमार साहब के पास भेज देने की कृपा करें तो वे आपके बड़े ही कृतज्ञ होंगे। जीवनचरित् की कापी करके फिर 'सरस्वती' आपको लौटा देंगे। यदि आपको सरस्वती की वह संख्या भेजने में किसी तरह की अड़चन हो तो आप जीवनी की नकल कराकर ही भेज दें।

आशा है, आप अपना कुशलबोधक तथा कृपासूचक पत्र भेजकर हमें कृतार्थ करेंगे।

भवदीय कृपाभिलाषी
जनार्दन झा

[१२]

श्रीः

अद्वैत आश्रम,
(पब्लिकेशन डिपार्टमेंट)
२८, कालेज स्ट्रीट मार्केट,
कलकत्ता—१०-११-२३

श्रीचरणेषु निवेदनम्,

सेवा में अभी अभी जो पत्र भेजा गया, भय है, उसे पढ़कर आपके चित्त को व्यथा हो, मैं आपको किसी तरह की चोट नहीं पहुँचाना चाहता। यदि आप ही बुरा मानते हैं तो अब मैं 'सरस्वती' की समालोचना न किया करूँगा। परंतु उसके संपादक ने अकारण ही मेरे साथ दुर्व्यवहार किया। कविता न छापते, जवाब तो देते। इसपर अधिक और क्या लिखूँ। आशा है आप और कमलाकिशोर अच्छे हैं।

दास
सूर्यकांत

मेरे अकारण अपमान पर आपने जरा भी ध्यान नहीं दिया।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी जी,
जुही कलाँ,
कानपुर

६-११-२३

श्रीचरणेषु—

कृपापत्र पढ़ा। 'मतवाला' कै संख्या दीख। 'सरस्वती' सम्पादक के नोटन मं, न समुझि सकेन, भूलैं काहे नहिंन। कारण लिखि देत्यो तो समुझि जाइत। अबै तो मतवाला की समालोचना के पुष्ट कारण ते भूलै जानि परत है।

सरस्वती सम्पादक के विषय मं लिखे बैठन तो हमहूँ ५-६ पृष्ठ लिखी डारा। मुलो पीछे जब जाना कि तुम्हार समय अकारण नष्ट होई तब फारि डारा। याकन कहा, 'द्विवेदी जी का प्रत्यक्ष नहिंन तो का भा सरस्वती ते परोक्ष संबंध तो है; उइ अपनी बिदाई मं यह बात स्वीकार करि चुके हैं। अतएव सरस्वती क पक्ष उइ लेबे करिहैं। औ वहिका वई बनायन हैं तो अपने रहत कब उइ वहिकै उल्टी समालोचना देखि सकत हैं? कुछो होय, हमका युक्ति तें काम। बात युक्तिपूर्ण होई तो चित्त मं बैठि जाई, न होई, फलग हुई, जाई।

हम जो रामायण पाठ आदि मं बनियई क भाव रखा होब—अर्थात् लोग हमका अच्छा कहैं औ हम नामी हुई जाई—बड़े सच्चरित्र साधु महापुरुष कहाई—हे राम हम तुम्हार नाव लेइत है, बदले मं तुमहूँ कुछु दियब, तो जउन यह हय रहा है यहु सब ठीक है। यही तना क विपरीत फल मिलत है। औ लोग प्रकृति क एक अध्याय पढ़िके समुझैवाली बहुती बातैं पाय जाति हैं।

दास
सूर्यकांत

श्रीमान्
पं० महावीरप्रसाद जी द्विवेदी महाराज,
जुही कलाँ,
कानपुर

[१३]

श्रीमान्,

आपका कार्ड ता० २७-११२३ का मिला। पढ़कर आश्चर्य हुआ। आपके लेख की पहुँच रजिस्ट्री मिलने के दूसरे दिन जुही, कानपुर के पते से मैंने स्वयं लिखकर भेजा है, क्योंकि मैं सदा कानपुर के ही पते से पत्रव्यवहार करता रहा हूँ और 'चाँद' भी अब तक उसी पते से जाता रहा है। यदि पत्र आपको नहीं मिला तो इसके लिए मैं दोषी नहीं हो सकता, फिर भी आपको इस प्रकार रूखा व्यवहार करना शोभा नहीं देता।

मुझे आपका पहिला तथा यह दोनों ही पत्र पढ़कर बहुत ही दुःख हुआ है। यदि कोई जाहिल ऐसे पत्र लिखता तो कोई बात नहीं थी किन्तु मुझे दुःख इस बात का है कि आपके पत्र से सदा अनुचित अभिमान और तिरस्कार की बू आती है जो सर्वथा असह्य है। यह सच है कि साहित्य में आपका स्थान बहुत ऊँचा है और बहुत काल से आप हिन्दी की सेवा कर रहे हैं, फिर भी आपको कोई अधिकार नहीं है, कि दूसरों को, जो आपकी विद्वत्ता के सामने कुछ भी नहीं हैं, उन्हें आप तुच्छ दृष्टि से देखें और इस प्रकार उनका निरादर करें। मैं ही क्या कोई भी आत्माभिमानी इसे नहीं सह सकता। आपका लेख 'चाँद' में प्रकाशित होने से पत्र का मान बढ़ जायेगा, यदि आप का यह ख्याल है तो निश्चय ही आपका यह भ्रम है। मैंने आज तक कभी इस ख्याल से किसी से भी लेखादि नहीं मँगवाए हैं। आप जैसे सुयोग्य विद्वानों के लेख अन्य पत्रिकाओं की शोभा भले ही बढ़ा सकें किन्तु मेरे पत्र के लेखक दूसरे ही श्रेणी के हैं और वे बहुत हैं।

आपकी आज्ञानुसार मैंने आज (Free list) से आपका शुभनाम कटवा दिया है। भविष्य में न तो 'चाँद' ही जायगा और न मैं लेख के लिये कभी आपको कष्ट ही दूँगा। अब तक आपको जो कष्ट हुए हों उसके लिए मैं सादर क्षमा चाहता हूँ।

भवदीय,

आर. एल. सिंह सहगल

[१४]

गढ़ाफाटक,

जबलपुर

२४-१२-२४

श्रीमान् द्विवेदी जी,

प्रणाम। बहुत दिनों से आपका कोई समाचार नहीं मिला। आशा है, आपका स्वास्थ्य संतोषदायक होगा। आज मैं आपको एक विशेष प्रार्थना के रूप में कुछ कष्ट देने का साहस करता हूँ। दूसरे वर्ष यहाँ के कालेजों में हिंदी अध्यापकों के कुछ स्थान नियत होंगे। मैं इस प्रकार के पद के लिये प्रार्थना करनेवाला हूँ। ग्रेजुएट न होने के कारण मुझे हिंदी के प्रतिष्ठित विद्वानों के प्रमाणपत्र उपस्थित करने की आवश्यकता है। अतएव आपसे प्रार्थना है कि आप एक प्रमाणपत्र मेरे विषय में और एक मेरे व्याकरण के विषय में लिख भेजने की कृपा करें। इन प्रमाणपत्रों का बहुत बड़ा प्रभाव होगा और मुझे संभवतः उनसे लाभ हो। पद का वेतन २००) है और मुझे इस समय १२५) मिलते हैं। इस समय आप मेरे विषय में जो कुछ लिख सकें वह

द्विवेदी जी ने इसपर लिखा है सर्टिफिकेट २८-१२ २४, साथ ही पत्र के लिफाफे में उनके हाथ से लिखा प्रमाणपत्र का मूल संरक्षित है। लिफाफे पर गुरु जी ने पी० और जि० अँग्रेजी में भी लिखा है।

अवश्य लिख दीजिए, क्योंकि आगे कदाचित् ऐसा कोई अवसर आगे आनेवाला नहीं है। मेरे प्रति आपका जो सद्भाव रहा है उसी से प्रेरित होकर मैं यह प्रार्थना करता हूँ।

लगभग दस वर्ष पूर्व आपने मुझे एक इसी प्रकार का प्रमाणपत्र दिया था, पर अब वह मेरे पास नहीं है। उसका संबंध अनुवादक के काम से था, पर वर्तमान प्रमाणपत्र का संबंध मेरी शिक्षक की योग्यता से रहेगा, क्योंकि कालेजों में भाषा-विज्ञान, समालोचना सिद्धांत, भाषा तथा साहित्य का इतिहास, आदि विषय पढ़ाए जाते हैं। आप मेरी प्रार्थना का उत्तर सुभीते के अनुसार जनवरी के प्रथम सप्ताह तक दे सकते हैं। कष्ट के लिये क्षमा की प्रार्थना है।

भवदीय
कामताप्रसाद गुरु

[१५]

CERTIFIED that Pt. Kamta Prasad Guru is eminent Hindi Writer. I admire his literary acumen and critical faculty. His Hindi Grammar is a standard work and is easily the best of all that have so far appeared. During my editorship of 16 years he regularly contributed to that Magazine and his charming style, faultless language and his appropriate expressions greatly enhanced the reputation of the Saraswati. He is a scholar of the Hindi Language and Literature and can fill with credit the chair of professorship of Hindi in any College.

यह प्रमाणपत्र द्विवेदी जी के हस्तलेख में सादे छोटे कागज पर है।

M. D.
27. 12. 25

[१६]

Telephone
43, Camberley,

Rathfarnham,
Camberley,
Surrey.

May 20th., 1924.

Dear Sir,

After a long time I am able to write and thank you for the very kind review of 'Lay of Alha' which appeared in Madhuri. The reason for the delay is that for some months I have not been well, and, owing to failure of eyesight, have not been able to do much reading and writing. For this reason, I was not able to read your review till long after I received it, and there was no one here who could read it to me.

I sent the copy of Madhuri to Mr. Philip Waterfield. He was much pleased with the abstract of it which I gave him at the same time, and desired me to thank you for the kind words you have written about his father. Unfortunately he does not know Hindi, and hence was unable to read it himself.

I see that you refer to the Linguistic Survey in your review. the introductory volume is now ready for the press, but has been greatly delayed by my illness. As soon as it is printed, which will not be for some months, I will have a copy sent to you.

श्री ग्रियर्सन ने इस टाइप किए हुए पत्र में देवनागरीवाला अंश अपने हाथ से लिखा है और द्विवेदी जी ने M. D. 11. 6. 24 लिखा है।

I trust you and your family are well. I am myself improving but हरेरिच्छा बलीयसी.

Yours Very Sincerely,

Pandit Mahabir Prasad Dvivedi, George A. Grierson

[१७]

Camp.
1-1-21.

Dear Sir,

Very many thanks for your letter of the 27 December. It is very good of you to take the trouble to copy out Pt. Keshava prasad Misra's criticism of the Sanskrit Readers. The criticism of grammar are no doubt correct, and I regret that so many grammatical errors have found their way into the readers but I am glad to have them pointed out. The criticisms of style are quite right from one point of view, but in some cases Sanskrit style was in order to obtain what were considered more important objects—the main object being to give justice in expressing ordinary ideas in Sanskrit, and to introduce fresh methods of expression gradually and in regular succession After all, it is very difficult to say that there is such a thing as Sanskrit Prose style.

As 'षड् श्रेणिर०' I have no doubt you are right. My own idea was that is was a matter of choice in these cases whether the consonant following a short vowel was doubled or not. I have no books of references with me, and I can't therefore look the point into, but you are more likely to be right than I am.

With many thanks, I am

Yours truly,

A.G. Shirreff,

पूरा पत्र हाथ से लिखा है और इस पर द्विवेदी जी की टिप्पणी है—रिप्लाइड ५-५-२१

[१८]

From

203 Muthiganj, Allahabad City.

LALA SITA RAM, B. A, November 13th. 1926.

M. R. A. S.

Dear Sir,

As a purely honorary work I am preparing two sets of selections from current Hindi literature for the Matric. and Intermediate Examinations of the Calcutta University and propose to give extracts from the works of well-known Hindi writers. As you are an eminent writer of Hindi, both prose and verse, it will add greatly to the value and utility of the books if you would kindly refer me to any suitable extracts from your writings and permit me to include in the books. A short notice of your life and literary activities may also kindly be sent for prefixing to the extract. The extract or poem may be sufficiently long to fill seven or eight pages of royal 8vo. in pica type.

In my opinion your article on Dravidjatiya Bharat Vaisyon ki Sabbhyata ki Prachinta published in the Saraswati will be very suitable.

Thanking you in anticipation,

I am
Yours Truly,
Sita Ram

To
Sriman Pandit Mahabir Prasad Diwedi.

द्विवेदी जी ने इसपर टिप्पणी दी है—रिप्लाइड १५-११-२६ ।

(SEAL) (१६)
PRESIDENT

UNITED PROVINCES LEGISLATIVE COUNCIL.

My Dear Pandit ji,

I have spoken to Mr. Wilan White about Mr. Y. D. Shukla and I hope something will come out in proper time. Will you please inform him about this?

There is a small matter between my brother Champa Ram and the Indian Press in which your intervention might possibly be useful. Do you happen to have any influence over those people even now?

The matter is this. Some time last year they accepted to publish a commentary on Kavit Ramayan written by my brother and a commentary of Thakur Kavi Bihari's Satsai which is not yet published. My brother sent the manuscript to the Press and on their suggestion I asked his excellency the Governor to accept the dedication to him. He agreed. The books for one reason or another have not yet been published. Someone we suspect has contrived to alter their opinion. This is only a suspicion because in their last letter they said that they were willing to publish the books but the publication is yet as far as ever. If you can intervene, their doubts will be removed and the publication hurried. Sir William Marris has enquired from me about the books and the cause of the delay in publication etc.

With regards,

Yours sincerely,
Kharagjit Misra.

द्विवेदी जी ने अपने हाथ टिप्पणी लिखी है :—
Received and replied on 13|4|26.

(२०)

श्रीः

किसरौल, मुरादाबाद
मि० पूस वदी ७, गुरुवार ८१

ज्वालादत्त शर्मा

श्रीचरणेषु प्रणामा : ।

जीवन का जीवन आशा है। मुझे भी आशा है कि आप मेरे ज्ञात अज्ञात अपराध क्षमा कर देंगे और एक बार फिर अपने जीवन में प्रसाद लाभ करूँगा।

मैंने बहुत सोचा किंतु मुझे कोई ऐसा अपराध स्मरण न आया जिस पर आप इतने नाराज हैं। आप प्रणतपाल हैं, शरणागत वत्सल हैं और मेरे ऊपर तो सदा आपका पितृतुल्य स्नेह रहा है; फिर मेरे किस कुकार्य के उदय से ऐसा हुआ, यह बार-बार सोचकर भी मैं निश्चय नहीं कर सका। एक बार आपने हिमालय डिपो से अलवान मँगाया था, वह मुझे वी० पी० पी० से न भिजवाना था, पर बात भिजवाने के दूसरे दिन ही क्यों, उसी दिन लक्ष्मीनारायण प्रेस पहुँचकर मालूम हो गई थी किंतु तीर हाथ से निकल चुका था, फिर भी जो बात थी वह मैंने पत्र में लिख दी थी। मेरा पापी मन कहता है शायद इसी अपराध पर मुझे दूध की मक्खी बनाया गया।

एक बार श्रीचरणों को पकड़कर क्षमायाचना करने की अभिलाषा है, आगे जो भाग्य में हो। किंतु आपके कोप को भी हजारों आशीर्वादों से अधिक कल्याणकारी समझने वाला यह तुच्छातितुच्छ आपका दास सदा आपका है और कोई इसके हृदय में से आपकी पावन भक्ति और उपकारों से उत्पन्न हुई श्रद्धा को नहीं निकाल सकता। अधिक लिखना गुस्ताखी समझता हूँ, इतना लिखने की भी मुझे लज्जा है किंतु जिन्हें अपने जीवन का नियामक समझता हूँ उनसे क्या लज्जा और क्या भय।

दासानुदास,
ज्वालादत्त शर्मा

सेवा में,
पूज्यपाद श्री पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी,
दौलतपुर।
(रायबरेली)

प्रस्तुत पत्र के लिफाफे पर द्विवेदी जी के हाथ से लिखा हुआ "पं० ज्वालादत्त शर्मा का दास भाव, २०-१२-२४" तथा मूल पत्र पर "रिप्लाइड २०-१२-२४"। लिफाफे पर शर्मा जी ने दौलतपुर, रायबरेली अंग्रेजी में भी लिखा है।

(२१)

श्री:

किसरौल, मुरादाँबाद,
मि० पूस बदि ७, गुरुवार ८१

ज्वालादत्त शर्मा

श्रीचरणेषु प्रणामाः ।

२०-१२-२४ के कृपापत्र मिलने से मेरा मन का बोझ उतर गया, आपकी उदासीनता भी मेरे लिए डूब मरने की बात है। जिस समय आपने 'सरस्वती' से अवकाश लिया था, उस समय जहाँ तक मुझे याद है मैंने एक पत्र आपकी सेवा में भेजा था, उसका उत्तर न मिलने से मैंने यह समझा था कि शारीरिक अस्वस्थता ही इसका हेतु है और जिस झंझट से बचने के लिए आपने सम्पादन छोड़ा है, आपके भक्तों को पत्र आदि लिखकर आपको उसी झंझट में डालना उचित नहीं है। यही समझकर— मैं आपके चरण छूकर कहता हूँ—मैंने आपको अपनी इच्छा के विरुद्ध कोई पत्र नहीं लिखा और इसी प्रतीक्षा में रहा कि जब आप मुझे स्मरण करेंगे, मैं लिखूँगा। मैं बहुत लज्जित हूँ कि उस बात पर आपको बुरा लगा जो स्वप्न में भी मेरे हृदय में नहीं आ सकती थी। आपके चरणों में मेरी जो भक्ति है, उसे कहना भी मैं उसकी पवित्रता पर दृष्टि रखते हुए अनुचित समझता हूँ। खैर, मैं ज्ञात अज्ञात सभी अपराधों की आपसे क्षमा चाहता हूँ। आपने कार्ड भेजकर सचमुच मेरे ऊपर असीम कृपा की है। पिछले वर्षों में, मुझे भी घोर मानसिक यातनायें सहनी पड़ी हैं, उनकी मैंने इसीलिए सूचना नहीं दी कि आपके एकान्त और शान्त जीवन में वे विघ्न होंगी।

ग्लास के विषय में कृपा करके लिखिए कि कितना बड़ा और कैसा चाहिए? गोल पेंदी का या तलीदार? एक किस्म के ग्लास बने हैं, जिनमें अंदर कलई नहीं होती, बहुत खूबसूरत मालूम होते हैं और पानी पीने के मतलब के होते हैं। नक्श का काम भी ग्लासों पर होता है। जर्मन सिलवर के ग्लास भी बहुत उम्दा बनते हैं और उनकी चमक धोने माँजने से खराब नहीं होती।

ग्लास के लिए लिख कर तो आपने मुझे अमृत पिला दिया, अब मेरा वह विश्वास दूना हो गया कि आप बड़े भक्तवत्सल हैं। मेरी इन बातों को आप चाटुकारिता या दुनियादारी न समझिएगा और उत्तर देकर कृतार्थ कीजिएगा।

सेवक,
ज्वालादत्त शर्मा

इस पत्र पर द्विवेदी जी ने लिखा है "रिप्लाइड २६-१२-२४"

———

विमर्श

'वेलि किसन रुकमणी री' का रचनाकाल

मदनराज दौलतराम मेहता

राठौड़ पृथ्वीराज कृत 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' के रचनाकाल के संबंध में विद्वानों में मत-भेद है। डा० मोतीलाल मेनारिया ने सरस्वती भंडार (उदयपुर) की तीन हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर, वेलि' का रचनाकाल विक्रम संवत् १६४४ मानकर, डा० तैसीतोरी, श्री सूर्यकरण पारीक प्रभृति विद्वानों के वेलि के रचना-काल-संबंधी मत को अमान्य सिद्ध किया है। डा० तैसीतोरी, डा० रामसिंह, श्री सूर्यकरण पारीक, डा० रामकुमार वर्मा, श्री नरोत्तमदास स्वामी, श्री कृष्णशंकर शुक्ल, आदि विद्वानों ने 'वेलि' का रचनाकाल विक्रम संवत् १६३७ माना है। गुजराती साहित्य के विख्यात विद्वान् श्री मोहनलाल दुलीचंद देसाई के अनुसार वेलि का रचनाकाल १६३८ है।

इधर संवत् १६३४ में लिपिबद्ध 'वेलि किसन रुकमणी री' की एक खंडित प्रति के कुछ पत्र हमें खोज में मिले हैं। इस प्रति में मूल ग्रंथ के अतिरिक्त संवत् १६३८ में श्री राजराजेंद्र कृत टब्बा भी संमिलित है। टब्बे के रचनाकाल से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि 'वेलि' की रचना १६३८ के पूर्व हो गई थी। श्री देसाई ने 'अचल' को आठ मानकर वेलि का रचनाकाल १६३८ ठहराया है। टब्बाकार श्री राजराजेंद्र ने अचलक = पर्वत = ७ अंकित किया है।

प्रति में लिखित मूल पद, टब्बा एवं प्रशस्ति इस प्रकार है :

मूलपद

वरसि अचल गुण अंग ससि संवति
तविउ जस करि श्री भरतार।
करि श्रवणि दिन राति कंठि करे
पामइ श्री फल भगति अपार।

टब्बा

गुण वरसिय ग्रंथ हुउ ने कहइ अचलक पर्वत ७ सत रज तम गुण ३ अंग रंग ६ ससि चंद्रमा १ संवत १६३७ वर्षई श्री लषमी नउ भरतार संवत सोलं संइतीसइ नीपनी।

रुषमणी कृष्ण नउ जस करी तवना कीधी तिण ए वेलि अहो भगतो श्रवणे सांभलउ अहो निज कंठ गलइं करउ। तेह भगनउ फल श्री लषमी रूप फल पामइ श्री लषमी वरणवतां श्री लषमी पामइ।

पद (टब्बाकार रचित)

वसु शिव नयन रस शशि वत्सरि
विजय दसमि रवि रिष वरणो।
क्रिसन रुषमणो वेलि कलप तरु
की कमद्धज कलियाण तणो।

टब्बा

संवत १६३८ वर्ष आशोद सुदि १० रविवासरे एतत वेलि (दृष्टा)। रजराजेंद्र कृतायेन टबो कीधो ने लिषिइ। वलि विवरण मेत्तन। स्पष्टार्थे मूर्ख बुद्धि बोधार्थे। परमेश्वर भक्ति कृते श्री कल्प वेलि दिहि तरवर तर शिव निधाने।

प्रशस्ति

इति श्री राठौड़ श्री पृथ्वीराज विरचिते कृष्ण रुषमणी वर्णन वेलि संपूर्ण। संवत १७३४ वर्ष भाद्रवावदि ८ शुक्रे कृष्ण पक्षे। पूज्य ऋषि श्री कान्हजी जी ऋषि श्री रूपसिंह जी

तत शिष्य श्री श्री श्री श्री श्री महिमावंत जी। जसवंत जी। ततसिष्य लिखतं सेवक चरण रज समान धनजित स्वंय लिपि कृत्वा। श्री डूगर्जी मद्धे॥

प्रस्तुत विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'वेलि क्रिसन रुकमणी री' विक्रम संवत् १६३८ में लोकप्रसिद्धि प्राप्त कर चुकी थी। 'वेलि' की रचना वि० सं० १६३७ में हो गई थी, इसकी पुष्टि टब्बे के रचनाकाल से स्वतः हो जाती है।

महाराष्ट्र के व्यवसायपरक उपनामों का विश्लेषण

रामगोपाल सोनी

महाराष्ट्र की भूमि अपनी ऐतिहासिक, राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परंपरा के लिये बहुत प्राचीन काल से प्रसिद्ध रही है। यह भूमि विभिन्न प्रकार के खनिज पदार्थों एवं वनसंपत्ति से संपन्न है। इस प्रदेश में विभिन्न प्रकार के व्यवसाय—कृषि, गृह उद्योग, दस्तकारी, शिल्पकला, मूर्तिकला तथा अन्य ललित कलाएँ जनमी तथा फली फूली हैं। महाराष्ट्र के अजंता और एलौरा भारतीय कला के अद्वितीय उदाहरण हैं। इस प्रकार महाराष्ट्रीय व्यवसाय तथा कलाएँ भारतीय अतीत जीवनप्रणाली के जीवंत चित्र हैं तथा हमारी संस्कृति की अमूल्य निधि।

भारत में वैदिक काल से वर्णव्यवस्था का प्रचलन हुआ और इसी वर्णव्यवस्था के आधार पर व्यवसायों का जन्म हुआ, जैसे ब्राह्मणों का कार्य वेदाध्ययन और उनका अध्यापन, क्षत्रियों का कार्य देशरक्षा, वैश्यों का वाणिज्य व्यापार, तथा शूद्रों का कार्य उक्त तीनों वर्णों की सेवा करना। कालांतर में इन व्यवसायों के भी कई उपव्यवसाय हो गए और व्यवसायों की संख्या असंख्य हो गई। इस तरह व्यवसायों का एक विराट् समूह निर्मित हो गया और किसी व्यक्तिविशेष के व्यवसाय को जानना अत्यंत कठिन हो गया। समाज में एक नाम के अनेक व्यक्ति होते हैं। उनका स्पष्ट परिचय प्राप्त करने के लिये उनके व्यवसाय को उनके नाम के साथ जोड़ देते हैं, जैसे रमेश चूड़ीवाला। कालांतर में यही परिचयसूचक शब्द उपनाम बन गए और व्यक्ति के साथ उसके व्यवसाय का भी ज्ञान कराने लगे। अपनी पूर्वावस्था में ये उपनाम व्यक्तिगत थे। आगे चलकर कुल वा जातिवाचक बन गए, जैसे सारथी, मंत्री, वैद्य, पाठक, चतुर्वेदी आदि। इन उपनामों से व्यक्ति का पूर्ण परिचय (नाम, धाम, काम) मिलता है। नाम और धाम जान लेने के बाद काम (व्यवसाय) जानने की इच्छा स्वाभाविक रूप से उठती है क्योंकि व्यवसाय के आधार पर व्यक्ति का आर्थिक और सामाजिक स्तर निर्भर रहता है, जैसे मंत्री नाम से राजकर्मचारी या चर्मकार नाम से निम्न व्यवसाय का पता चलता है। व्यवसायनामों या उपनामों में सारथी, द्वारपाल, वजीर तथा मुंशी आदि हैं।

महाराष्ट्र प्रदेश में हमें विविध प्रकार के उपनाम मिलते हैं। कुछ विचित्र प्रकार के उपनाम रखने की विचित्र प्रवृत्ति महाराष्ट्र प्रदेश में विशेष रूप से प्रचलित है। इन प्रवृत्तियों में व्यवसायपरक, स्थानवाची, घटनामूलक, भाव-भावना-मूलक, अंधविश्वसमूलक आदि हैं। यहाँ पर व्यवसायपरक उपनामों का एक विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

महाराष्ट्र प्रदेश में व्यवसायपरक उपनामों की संख्या बड़ी विशाल है। महाराष्ट्र प्रदेश में मुख्य रूप से आजीविका के छह मुख्य साधन हैं :

(१) कृषि
(२) व्यवसाय (गृहउद्योग)
(३) राजकर्मचारी
(४) बुद्धिजीवी
(५) श्रमजीवी
(६) शिल्पकार

इन्हीं साधनों के आधार पर हम महाराष्ट्र के व्यवसायपरक उपनामों को भी विभाजित कर सकते हैं।

(१) कृषिमूलक उपनाम वे उपनाम हैं जो कृषिकार्य से संबंधित हैं, जैसे कापूसकर वासेकर, गाजरे, वांगे, वनमाली, फुले, फुलकर, सब्जीवाले, सब्जीपाले आदि। इन उपनामों द्वारा यहाँ की कृषि पर प्रकाश पड़ता है। यहाँ के लोग अपने खेतों में विभिन्न प्रकार के अन्न पैदा करते हैं पर आश्चर्य की बात है कि अन्न-सूचक एक भी उपनाम नहीं है। बागवानी, फल फूल तथा सब्जी उत्पादन से संबंधित उपनाम हैं, जैसे फूलमाली, वनमाली, फुले, फुलकर, वांगे, गाजरे तथा सब्जीवाले। सब्जियों में सिर्फ वांगा (भंटा) का नाम मिलता है। उसका एकमात्र कारण यह है कि भंटे की सब्जी महाराष्ट्र की लोकप्रिय सब्जी है। खाद्यान्न के अलावा व्यापारिक फसलें भी महाराष्ट्र में उत्पन्न की जाती हैं जिनमें कपास का प्रथम स्थान है। 'कापूसकर' उपनाम इसी का प्रतीक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि महाराष्ट्र में खाद्यान्न और व्यापारिक फसलें पैदा की जाती हैं।

(२) गृह-उद्योग-मूलक उपनाम वे उपनाम हैं जो गृह उद्योगों से उद्भूत हुए हैं। कृषि के अलावा महाराष्ट्र की अधिकांश जनता गृह उद्योगों में लगी है, जैसे बढ़ईगीरी, लोहारी, सिलाई तथा पशुपालन आदि। इन उपनामों में वाढ़ई (बढ़ई), शिंपी (दर्जी), सिवनकर (दर्जी), सराफ, रत्नपारखी, पारखी, खानखोजे, मुर्गीपाले, नह्विने (नाई), गोसावी (गोस्वामी), दलाल आदि उपनाम आते हैं। भांडेकार, कुम्हारे तथा लोखंडे उपनाम विशेष रूप से गाँवों में मिलते हैं। इन व्यवसायों को हम दो भागों में बाँट सकते हैं :

(अ) ग्रामीण व्यवसाय—वाढई, लोखंडे, गोसावी, भांडेकार, कुम्हारे, शिंपी।

(ब) शहरी व्यवसाय—सराफ, रत्नपारखी, सिवनकर, दलाल आदि।

इन उपनामों के अतिरिक्त 'खानखोजे' उपनाम यहाँ के खनिज पदार्थों और उनके अन्वेषण की ओर संकेत करता है। महाराष्ट्र में कोयले और लोहे की खानें प्रसिद्ध हैं। इन उपनामों के अतिरिक्त भी महाराष्ट्र में बहुत से व्यवसाय प्रचलित हैं, पर वे किन्हीं कारणों से उपनाम नहीं बन सके।

(३) राजकर्मचारीमूलक उपनाम—इन उपनामों के द्वारा यहाँ की प्राचीन राज्य व्यवस्था, शासनप्रणाली तथा राजकर्मचारियों का पता चलता है। राजा के नीचे अनेक कर्मचारी होते थे जो शासनकार्य में राजा की सहायता करते थे। इनमें अधिकांश कर्मचारी वेतनभोगी होते थे, जैसे मंत्री, पेशवा (मिनिस्टर) कोतवाल, अदालतवाले, गडकरी, मोहरिर, पेशकर, कुलकर्णी आदि। इन कर्मचारियों के अतिरिक्त कुछ अवैतनिक अधिकारी भी होते थे जो राज्यकार्य में सहायता देते थे, जैसे सरदेशमुख, देशमुख, देसाई, सरदेसाई, देशपांडे, जमादार, चौधरी आदि। इन उपनामों को हम उपाधिमूलक उपनाम भी कह सकते हैं क्योंकि ये राजा द्वारा उपाधिस्वरूप दिए जाते थे। ये लोग राजा के कृपापात्र होते थे और शासन के महत्वपूर्ण अंग समझे जाते थे। 'हजारे' और 'टोपे' सेना की उपाधियाँ हैं। 'हजारे' एक हजार सैनिकों का अफसर तथा 'टोपे' (सैनिक पुरस्कार टोप के रूप में) सैनिक संमान का प्रतीक है। महाराष्ट्र के 'मराठा' अपनी वीरता के लिये प्रसिद्ध हैं।

(४) बुद्धिजीवी उपनाम—इस वर्ग के लोग मानसिक श्रम करते हैं, जैसे अध्ययन और अध्यापन, वेदपाठ, धार्मिक कर्मकांड तथा साहित्यसृजन आदि। आचार्य, पाठक, शास्त्री, बुद्धिसागर, जोशी, भट, बढवे (पंडा), कवीश्वर, भागवत, मोहरिर, मजुमदार (दस्तावेज और प्रार्थनापत्र लिखनेवाले) आदि उपनाम यहाँ के मानसिक स्तर का परिचय देते हैं। इन उपनामों से यहाँ के धार्मिक ग्रंथों एवं दार्शनिक ज्ञान का भी पता चलता है। महा-

राष्ट्र की वैदर्भी रीति साहित्य में अपना उच्च स्थान रखती है। यहाँ वकालत और डाक्टरी से संबंधित उपनाम नहीं मिलते अर्थात् इस दिशा में पाश्चात्य प्रभाव नहीं पड़ा और शुद्ध भारतीय व्यवसायों तक ही ये उपनाम सीमित हैं।

(५) श्रमजीवी उपनाम—इन उपनामों द्वारा यहाँ के निम्न वर्ग या सर्वहारा वर्ग का ज्ञान होता है। इनकी आर्थिक स्थिति दयनीय है तथा ये शोषित और पीड़ित हैं। ये लोग कठिन परिश्रम करके अपना तथा अपने परिवार का पोषण करते हैं, जैसे चांभारे, गोवारी, धनगरे, (गडरिया), ढीवर, न्हावी (नाई), तथा हरकारे आदि। इन उपनामों के विपरीत 'लाखे', 'करोड़े' तथा 'हजारे' उपनाम धन के सूचक हैं। इस प्रकार इन उपनामों द्वारा समाज की विषम स्थिति (आर्थिक दृष्टि से) का ज्ञान होता है। कुछ लोग समाज में गुलछर्रे उड़ा रहे हैं तथा कुछ कठिन परिश्रम करके भी अपना पेट भरने में समर्थ नहीं हैं।

(६) शिल्प-कला-मूलक उपनाम—इन उपनामों से यहाँ की शिल्प, ललित एवं उपयोगी कलाओं का पता चलता है। चित्रीव, शेलारे (शिलाहार), लोखंडे इसी वर्ग के उपनाम हैं। 'शेलारे' यहाँ की शिल्प एवं 'चित्रव' यहाँ की चित्रकला का प्रतीक है। उपयोगी तथा अन्य ललित कलाओं से संबंधित उपनाम यहाँ बहुत कम हैं। 'कवीश्वर' तथा 'वैद्य' यहाँ की ललित वा उपयोगी कला के अन्य उदाहरण हैं।

इन उपनामों से यहाँ के जनजीवन, आर्थिक इतिहास एवं अर्थव्यवस्था पर पूर्ण रूप से प्रकाश पड़ता है। इन उपनामों में यहाँ का आर्थिक जीवन चित्रित होकर शाश्वत हो गया है। भारतीय जीवन सदैव अध्यात्म की ओर उन्मुख रहा है वह भौतिक कला के पीछे कभी पागल नहीं हुआ। इसलिये व्यवसायपरक उपनामों में उतना वैविध्य नहीं दीखता। पाश्चात्य प्रभाव से भौतिकता का रंग हमपर चढ़ता जा रहा है। फलस्वरूप लोग जघन्य कार्य भी अपनाते जा रहे हैं, जैसे चोरी, दलाली आदि। 'चोडोचोरे', 'दलाल' आदि उपनाम इसके प्रमाण हैं। पढ़े लिखे लोग सरकारी नौकरियों की ओर झुक रहे हैं और नए नए उपनाम गढ़ रहे हैं। वैज्ञानिक युग में अब भारतीय जीवन जटिल, संघर्षमय एवं मशीनी होता जा रहा है। हमारे उपनाम भी विज्ञान से प्रभावित होते जा रहे हैं।

व्यवसायपरक उपनामों की प्रवृत्ति पारसियों में अधिक दिखलाई पड़ती है जैसे बंदूकवाला, टोपीवाला, झुनझुनवाला तथा तारापुरवाला आदि। हिंदी प्रदेश में भी विश्वकर्मा (बढ़ई), न्यायी (नाई), कुशवाहा (काछी), सोनी (सोनार), लोहार, चर्मकार, ओझा, बजाज तथा मिठाईवाला आदि व्यवसायपरक उपनाम हैं। इंग्लैंड में व्यवसायपरक उपनामों की परंपरा बहुत प्राचीन है, जैसे गोल्डस्मिथ, स्मिथ, कुक, बटलर आदि। इस प्रकार व्यवसायपरक उपनामों की परंपरा विश्वव्यापी है और किसी न किसी रूप में वह सर्वत्र जीवित है।

इन उपनामों का भाषावैज्ञानिक अध्ययन करने पर कुछ निश्चित नियम मिलते हैं। इन उपनामों तथा व्यवसायपरक शब्दों में कुछ विशेष परिवर्तन (विकास) मिलते हैं। इन उपनामों में विशिष्ट परिवर्तन के साथ स्वर और व्यंजन का आगम और लोप हुआ है तथा उनसे उपनाम बने हैं। इन व्यवसायपरक शब्दों में 'ए' और 'कर' प्रत्यय का आगम विशेष रूप से हुआ है, जैसे—

गाजर < गाजरे [ए]
फुल < फुले [ए]
लोखंड < लोखंडे [ए]
फुल < फुलकर [कर]
सिवन < सिवनकर [कर]
कापूस < कापूसकर [कर]

संक्षेप में भाषाविकास की ये ही प्रवृत्तियाँ इन उपनामों में मिलती हैं।

———

छत्तीसगढ़ के लोकसाहित्य में वर्णित सिक्का 'कौड़ी' का विवेचन

चंद्रकुमार अग्रवाल

छत्तीसगढ़ में 'कौड़ी' एक सिक्का के रूप में प्रचलित रहा है, इसका उल्लेख छत्तीसगढ़ के लोकसाहित्य में मिलता है। 'कौड़ी' का बहुत कम मूल्य था, और यह लोकजीवन का सिक्का था। सस्ता सिक्का ही कम आयवाले ग्रामीणों में सरलता से उपलब्ध होता था, अन्य सिक्कों का उल्लेख लोकसाहित्य में भी मिलता है। इनमें सोने की मुहर का उल्लेख सामंत जीवन में प्राण बचाने या कठिन काम कराते समय उसे देने का कई स्थानों में हुआ है, पर यह सिक्का ग्रामीण जीवन से संबंध नहीं रखता। सोने की मुहर के स्थान पर रत्न और लाल से भी कार्य लिया गया है परंतु वह सिक्का के रूप में नहीं है मूल्यवान् पदार्थ के रूप में ही आया है। इसकी उपलब्धि राजकुमारों, मंत्रीपुत्रों एवं साहूकारों के जीवन में होती है। लोकजीवन में इसका दर्शन भी नहीं होता था, इसी से लोककल्पना ने इसे अप्राप्य बताने के लिये खून की बूँद, हँसी और आँसू से भी उत्पन्न माना है। वह केवल काल्पनिक है, और लोक के साधारण जीवन से अति दूर लोक का प्रचलित सिक्का 'कौड़ी' गंडक मुद्रा कहलाती थी। यह सिक्का छत्तीसगढ़ के अतिरिक्त बंगाल में भी प्रचलित था। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस गंडक मुद्रा पर लिखा है :

"कौड़ी बंगाल का अत्यंत प्राचीन सिक्का थी जो मौर्य काल से १९वीं शताब्दी तक चालू रही। सन् १८०१ तक सिलहट जिले की ढाई लाख की मालगुजारी कौड़ियों में ही सरकारी खजाने में जमा की जाती थी। सन् १८१३ से यह प्रथा बंद हुई। चार कौड़ियों का एक गंडा होता था। भारतवर्ष में कौड़ियाँ माल द्वीप (मलाबार के पास एक द्वीप जिसका पुराना नाम कपर्दक द्वीप था) से आती थीं।"[1]

बंगाल में कौड़ी का प्रचलन था। साधारण जनता भूमिकर कौड़ियों में ही चुकाती थी। कौड़ियाँ एकत्रित करने के बाद सरकारी खजाने में जमा की जाती थीं। कौड़ियों को जमीन में गाड़कर भी साधारण जनता रखती थी। ताँबे का सिक्का भी जमीन में गाड़ा जाता था। प्राचीन स्थानों के उत्खनन में इस तरह के सिक्के पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। बंगाल में चार कौड़ियों का एक गंडा होता था, तो छत्तीसगढ़ में पाँच कौड़ियों का एक गंडा। गंडा शब्द आज भी छत्तीसगढ़ के लोकजीवन में प्रचलित है। चार गंडे की एक 'कोरी' होती है। २० गंडे का सौ होता है, और पाँच कोरी का का भी एक सौ। गंडा 'शब्द' ग्रामीण समुदाय की गणना के लिये प्रयुक्त होता है; कौड़ियों का हिसाब इस रीति से होता ही था। इसके अतिरिक्त 'नीधी' और 'दोगानी' का भी प्रचलन कौड़ियों में गणनामान हेतु मिलता है। इन दोनों का प्रयोग छत्तीसगढ़ की दो लोक कहावतों में आया है। एक कहावत में एक घोड़े के वास्तविक मूल्य और उसके भोजन के मूल्य की तुलना की है, जिसमें घोड़े से घोड़े का भोजन अधिक मूल्य का पड़ता है। कहावत है—

"नीधी के घोर, दोगानी के दाना।"

घोड़े की कीमत एक नीधी है, परंतु उसके दाने (भोजन) का मूल्य एक दोगानी है। यह नीधी और दोगानी कौड़ी की एक निश्चित संख्या के लिये प्रयुक्त हुआ है। डा० ग्रियर्सन ने इस कहावत की व्याख्या करते हुए लिखा है : ए हार्स वर्थ टेन माइट्स, ईट्स ग्रेन वर्थ फार्टी माइट्स। नीधी इज टेन टाइम्स फाइव कौरीज। ए दोगानी इज वर्थ फार्टी टाइम्स फाइव कौरीज।[1]

छत्तीसगढ़ी की एक दूसरी कहावत में कहा है कि "कहूँ निंधी के थैली मां दोगानी समाही" अर्थात् निंधी (नींधी) रखने की थैली में दोगानी (संख्या) की कौड़ियाँ नहीं आ सकतीं। यहाँ पर नींधी और दोगानी में

१. पृथिवीपुत्र, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृष्ठ ३७२।

कौड़ियों का वही मूल्य बताया गया है जो डा० ग्रियर्सन[1] ने आंग्ल मापी व्याख्या में स्वीकृत किया है :

५ कौड़ी = १ गंडा
५० कौड़ी = १ निंधी कौड़ी
२०० कौड़ी= १ दोगानी कौड़ी[2]

राजकीय आदेश से जब सिक्का चल पड़ता है, तब लोकजीवन में उसके प्रति श्रद्धा के भाव उमड़ पड़ते हैं। 'कौड़ी' के प्रति भी लोकजीवन में यही भाव मिलता है। यहाँ लोक की प्रवृत्ति रही है कि वह सिक्कों को माला के रूप में पहिने। इससे चाँदी, ताँबे एवं सोने के सिक्कों को कोंढ़े लगाकर और माला की भाँति गूँथकर पहिना गया। 'कौड़ी' भी इससे अछूती नहीं रही, वह शारीरिक शृंगार की बहुमूल्य सामग्री में एक थी। इससे वहँकर, पेटी आदि आभूषण बनाए गए। 'बहँकर' भुजा पर पहनने के लिये कौड़ियों को गूँथकर बनाया जाता है, 'पेटी' कमर में पहनी जाती है। ये आभूषण रावलों के लोकनृत्य में, आदिवासियों के करमा नृत्य में आज भी पहने जाते हैं। 'कौड़ी' आज सिक्का नहीं रही, पर उस युग की क्षीण स्मृति आज भी है जिस युग में कौड़ी सिक्के के रूप में चलती थी। लोग घरों में उस समय ताला नहीं लगाते थे।

लोककथाओं में भी 'कौड़ी' का उल्लेख सिक्के के रूप में कई स्थानों में आया है। एक कथा में कहा गया है कि एक बुढ़िया का मूर्ख पुत्र था। बुढ़िया दूसरे की मजदूरी करके किसी तरह अपने लड़के का पालन पोषण करती थी, और जो कुछ बच जाता था उसे कौड़ी के रूप में बदलकर एक मटके में संचित करती थी। उसने अपने पुत्र से एक रोज कहा कि बेटा, दूसरों के लड़के कैसे एक का दो कमाते हैं, और तुम निठल्ले हो, कुछ करते नहीं। घर में बैठे रहते हो। लड़के ने सब सुन लिया और कुछ नहीं कहा। बुढ़िया नित्य की भाँति काम पर चली गई। इधर लड़के ने घर में मटके से संचित कौड़ियों को निकाला और सब को फोड़कर एक का दो कर दिया। बुढ़िया काम से लौटकर आई तब लड़के ने बड़ी प्रसन्नता से अपनी कमाई का वृत्तांत सुना दिया। बुढ़िया ने सिर पीट लिया। खोटे सिक्कों की भाँति फूटी कौड़ी भी लोक में नहीं चलती थी। सिक्कों को खोटा कहा जाता था, परंतु अप्रचलित कौड़ी 'कानी कौड़ी' कही जाती थी। 'कानी कौड़ी' अर्थात् जिस कौड़ी में थोड़ी मात्रा का भी छेद हो, नहीं चलती थी। एक कहावत में उस निर्धन की शान शौकत की आलोचना हुई, जिसके घर में कानी कौड़ी भी नहीं है, परंतु बाहर वह मूँछ ऐंठकर चलता है। कौड़ी का प्रचलन बंद हो जाने के बाद इस कहावत (घर माँ कानी कवड़ी नहीं, अउ कोठा माँ मेंछा अटियावय) के कानी कवड़ी शब्द का लोप हो गया और अब यही कहावत इस रूप में (घर माँ भूँजी भाँग नहीं, अउ कोठा माँ मेंछा अटियावय) प्रयुक्त हो रही है। फिर भी लोक की विशालता में कहीं कहीं 'कानी कौड़ी' सुनने को मिल ही जाती है।

छत्तीसगढ़ी लोकजीवन में से नींधी और दोगानी शब्दों का प्रयोग बिलकुल उठ गया है, गंडा का प्रयोग होता है और वह पाँच की एक साथ गणना के लिये। 'कौड़ी' सिक्का के प्रचलन के साथ ही साथ नींधी और दोगानी का भी प्रचलन रहा है, और कौड़ी सिक्का के लोप के साथ इन दोनों शब्दों का भी लोप हुआ है। आज ये नींधी और दोगानी कौड़ी सिक्का के प्रचलन के स्मृतिस्वरूप लोकभाषा में बच गए हैं, अतीत और इतिहास दोनों से मिले हुए।

---

१. ए ग्रामर आव डायलेक्ट आव छत्तीसगढ़ी, जी० ए० ग्रियर्सन, कलकत्ता, १८९० ।

२. छत्तीसगढ़ी कहावतें, श्री कन्हैयालाल मिश्र (विकास, भाग ४, खंड २, संख्या ४, जुलाई, १९२५)

'खरभरा' या 'खरपरा'

डा० व्रजनारायण पुरोहित

मलिक मुहम्मद जायसी कृत महाकाव्य 'पदमावत' हिंदी के सर्वोत्तम प्रबंध काव्यों में गिना जाता है। अवधी भाषा का ठेठ रूप और मर्मस्पर्शी माधुर्य यहाँ देखते ही बनता है। परंतु इसके मूल पाठ के विषय में विद्वानों में मतभेद है।[१] इसी प्रकार का एक शब्द 'खरभरा' है जिसके अर्थ के विषय में अस्पष्टता प्रतीत होती है। "पदमावत" के २३वें खंड **'राजा गढ़ छेंका खंड'** — के जिस प्रारंभिक पद्य[२] के अर्थ के विषय में अटकलें लगाई गई हैं वह पद्य यह है :

> **"सिद्धि गोटिका राजै पावा।**
> **औ मैं सिद्धि गनेस मनावा।**
> **जब संकर सिधि दीन्ह गोटेका।**
> **परी हूल जोगिन्ह गढ़ छेंका॥**
> **सबै पद्मिनीं देखहिं चढ़ी।**
> **सिंघल घेरि गई उठि मढ़ी॥**
> **जस खरभरा चोर मति कीन्ही।**
> **तेहि बिधि सेंधि चाह गढ़ दीन्ही॥**
> **गुपुत जो रहै चोर जो साँचा।**
> **परगट होई जीव नहिं बाँचा॥**
> **पंवरि पंवर गढ़ लाग केवारा।**
> **औ राजा सौं भई पुकारा॥**
> **जोगी आई छेंकि गढ़ मेले।**
> **न जनै कौन देस सौं खेले॥**
> **भई रजाएसु देखहु**
> **को भिखारि अस ढीठ।**
> **जाउ बरजि तिन आवहु**
> **जन हुई जाइ बसीठ॥[३]**

इसमें प्रयुक्त 'खरभरा' शब्द उलझन का कारण है। शुक्ल जी ने इसके स्थान पर 'घर भरे' पाठ को प्रामाणिक माना है। उनके अनुसार विवादास्पद चौपाई मूलतः इस प्रकार है :

> **"जस घर भरे चोर मत कीन्हा।**
> **तेहि बिधि सेंधि चाह गढ़ दीन्हा॥**
> **गुपुत चोर जो रहै सो साँचा।**
> **परगट होई जीउ नहिं बाँचा॥"[४]**

अतः इस चौपाई (चौथी चौपाई) का अर्थ भी भिन्न भिन्न टीकाकारों ने भिन्न प्रकार से किया है। अग्रवाल जी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है :

'जैसे चोर सेंध फोड़ने का विचार कर लेने पर हलचल करता है, वैसे ही यह सिंघल के कोट में सेंध लगाना चाह रहा है।'[५] डा० श्रीनिवास शर्मा ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है :

'जैसे सेंध लगाने के विचार से चोर के हृदय में कोलाहल-सा मच जाता है, उसी प्रकार यह राजा भी सिंघलगढ़ में सेंध लगाने की कामना कर रहा है।[६]

---

१. श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावत, द्वितीय संस्करण, प्राक्कथन, पृष्ठ १ तथा १३, "पदमावत का मूल पाठ" शीर्षक खंड।

२. पद्य २१७।४

३. (क) श्री वासुदेवशरण अग्रवाल के पाठानुसार (ख) श्री श्रीनिवास शर्मा ने भी इसी पाठ को प्रामाणिक माना है।

४. आचार्य शुक्ल जी, 'जायसी ग्रंथावली' पृ० ६४।

५. श्री वासुदेवशरण अग्रवाल, पदमावत, पृ० २४६।

६. श्री श्रीनिवास शर्मा, जायसी ग्रंथावली (सटीक), पृ० २०६।

शुक्ल जी ने 'घर भरे' पाठ मानकर इस पंक्ति के पूर्वार्ध का अर्थ इस प्रकार किया है :

'जैसे भरे घर में चोरी करने का विचार चोर ने किया हो।' यद्यपि अग्रवाल जी ने 'खरभरा' पाठ मानकर इसकी व्याख्या उपर्युक्त रीति से कर दी, तथापि इससे वे संतुष्ट नहीं हो सके। यही कारण है कि प्राक्कथन'[1] में उन्हें लिखना पड़ा :

'सबै पदुमिनी देखहिं चढ़ीं।
सिंहल घेर गई उठ मढ़ी॥
जस खरभरा चोर मति कीन्हीं।
तेहि बिधि सेंधि चाह गढ़ दीन्हीं॥

इन दो चौपाइयों का अर्थ मुद्रित व्याख्या (पृ० २०८–९) में अस्पष्ट रह गया है। ठीक अर्थ इस प्रकार होना चाहिए :

'सब पद्मिनी स्त्रियाँ गढ़ के ऊपर चढ़कर क्या देखती हैं कि सिंहल घिर गया है और जोगियों की मढ़ियाँ उठ गई हैं। जैसे 'खरभरा चोर' इरादा करता है, उसी युक्ति से जोगी गढ़ में सेंध लगाना चाहते थे।'

पहली पंक्ति घेरि और उठि की जगह घेर और उठ शुद्ध पाठ होना चाहिए। गोपालचंद्र जी और बिहार शरीफ की प्रति में वस्तुतः यही पाठ है। खरभरा चोर उस चोर के लिये मध्यकालीन शब्द था जो खलबली मचाकर या चुनौती देकर चोरी करता था।

अग्रवाल जी के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'खरभरा' एक उपाधि के रूप में प्रचलित थी जो साहसी चोर के लिये प्रयुक्त होती थी। इस निष्कर्ष को मानते ही एक प्रश्न रहता है कि 'खरभरा' नामक किसी साहसी चोर की कहानियाँ प्राप्त हैं या नहीं? इसका उत्तर नकारात्मक के अतिरिक्त कुछ नहीं। परंतु इससे समस्या का समाधान नहीं होता। इसके लिये अन्य पाठों की छानबीन करना आवश्यक है।

डा० माताप्रसाद गुप्त ने यद्यपि यही पाठ प्रामाणिक माना है तथापि इसके स्थान पर एक हस्तलिखित प्रति में 'खरपरा' पाठ होना उल्लिखित किया है।[2] यदि 'खरपरा' पाठ को प्रामाणिक मान लिया जाता है तो इसका अर्थ स्पष्ट हो जाता है क्योंकि 'खरपरा > खापरा' (संस्कृत खर्पर) चोर संबंधी कथाएँ जायसी के समय तक बहुत प्रसिद्ध थीं। 'खर्पर चोर संबंधी कथा' के विकास को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है :

संस्कृत साहित्य में खर्पर चोर प्रसंग

(१) बृहत्कथामंजरी :

संस्कृत साहित्य में 'खर्पर प्रसंग' सर्वप्रथम क्षेमेंद्र रचित बृहत्कथामंजरी में उपलब्ध होता है। इसके 'शक्तियशसि' खंड में 'खर्पर कथा' संक्षिप्त रूप से इन शब्दों में गुंफित की गई है :

'पुरा खर्परघातांकललाटः पुरुषो नृपम्।
अवाप्य विपुलां वृत्तिं लेभे विक्रमलांछितः॥
कालेन पृष्टो राज्ञा स च प्रहारस्य कारणम्।
पूर्णघटप्रपातेन[3] खर्पराघातमभ्यधात्॥

तज्ज्ञात्वा राजपुरुषैर्निरस्तः
प्रच्युतः क्षणात्।
इति केवल सत्येन
न भवति हितश्रियः॥'

(पूर्वकाल में खर्पर (खप्पर) के प्रहार से चिह्नित ललाटवाले एक पुरुष ने राजा के निकट आकर पराक्रम के चिह्न की संभावना से पर्याप्त आजीविका प्राप्त की। कुछ समय के पश्चात् राजा द्वारा प्रहार का कारण पूछे जाने पर उसने भरे हुए घड़े के गिरने से खप्पर की चोट लगना कहा। उसको जानकर राजपुरुषों ने निरादर करके क्षण भर में ही उसे निकाल दिया। इस प्रकार केवल सत्य से ही हितकारी राजलक्ष्मी प्राप्त नहीं होती है।) यहाँ 'खर्पर' शब्द का तात्पर्य खर्पर चोर से भी है।

---

१. श्री अग्रवाल, प्राक्कथन पृ० ६१ : पाद टिप्पणी (द्वितीय संस्करण)

२. डा० माताप्रसाद गुप्त, 'पदमावत', प्रथम संस्करण, पृ० २६६ (पादटिप्पणी, तृ. खरफरा द्वि. ४ घरफिरा च. १, खरपरा)

३. 'अपहृष्ट' इति अन्य पुस्तके।

(२) कथासरित्सागर—सोमदेव रचित कथासरित्सागर में घट और कर्पर नामक दो चोरों की कथा अति विस्तृत रूप में मिलती है। पेंज़र[२] के मतानुसार 'कर्पर' ही अर्वाचीन कथाओं में 'खर्पर' संज्ञा से अभिहित किया जाने लगा।

इसमें एक राजकुमारी तथा कर्पर के प्रणय-प्रसंग की कथा है। उसके (राजकुमारी के) प्रणयप्रसंग में कर्पर को मृत्युदंड की सजा दी जाती है और फिर:उसका मित्र घट उसे प्राप्त करने में सफल होता है। उसकी मृत्यु राजकुमारी के द्वारा होती है।[१]

सागरोक्त कथा का सार यह है किसी नगर में घट और कर्पर नामक दो चोर रहते थे। एक रात्रि में वे दोनों राजमहल में चोरी करने के लिये गए। कर्पर ने घट को महल के बाहर ठहराया और स्वयं उसमें प्रविष्ट हुआ। सर्वप्रथम वह जिस कक्ष में गया वह राजकुमारी की कक्ष थी। उसमें राजकुमारी सोई हुई थी जो कर्पर के प्रवेश करने पर जाग गई। कर्पर को देखते ही वह उसपर आसक्त हो गई। उसने कर्पर को प्रभूत धन दिया। उसने (कर्पर ने) वह धन द्वार पर स्थित घट को दिया और उसे वहाँ से बिदा किया। पुनः वह राजकुमारी के पास गया और मदिरापानादि से मत्त होकर लेट गया।

प्रातःकाल द्वाररक्षकों ने कर्पर को सोया हुआ देखकर उसे राजा के समक्ष उपस्थित किया। राजा ने उसे मृत्युदंड की सजा दी। इस बात की सूचना प्राप्त कर घट भी बधस्थान पर पहुँचा। उसे कर्पर ने इंगितों द्वारा राजकुमारी की रक्षा का भार सौंपा।

कर्पर की मृत्यु के उपरांत घट ने राजकुमारी से भेंट की। उसने उसे सारा वृत्तांत कह सुनाया अतः वह उसके साथ चली गई। दूसरे दिन जब राजकुमारी नहीं मिली तो राजा अत्यंत क्रोधित हुआ। उसने आज्ञा दी कि जो भी व्यक्ति कर्पर की मृत देह के पास से विलाप करता हुआ किंवा रोता हुआ निकले उसे बंदी बनाया जाए। परंतु घट भी अति निपुण था। उसने छलपूर्वक प्रथम दिन कर्पर को तर्पण दिया, दूसरे दिन उसका दाह संस्कार कर दिया और तीसरे दिन उसकी अस्थियाँ पतितपावनी गंगा में प्रवाहित कर दीं। तदुपरांत राजा ने घोषणा करवाई कि 'जो राजकुमारी का चोर है वह मेरे सामने उपस्थित हो जाए, उसे मैं आधा राज्य दे दूँगा।' इस घोषणा पर विश्वास करके घट ने राजा के सामने उपस्थित होने की बात सोची परंतु राजकुमारी ने इसका निषेध कर दिया। उसने घट को संमति दी कि अब इस नगर का त्याग कर देना चाहिए। इस बात से घट भी सहमत हो गया और उन्होंने उस नगर से प्रस्थान कर दिया।

रास्ते में राजकुमारी ने एक परिव्राजक की सहायता से रात्रि में सोए हुए घट को मार डाला। आगे चलकर धनदेव नामक श्रेष्ठिपुत्र को देखकर वह उसपर आसक्त हो गई और रात्रि में सोए हुए परिव्राजक को छोड़कर उस सेठ के साथ चली गई। प्रातःकाल वह परिव्राजक भी अपने भाग्य को सराहता हुआ अपने निवासस्थान को चला गया क्योंकि उसने सोचा कि उसकी गति घट के समान नहीं की गई। यथा

"सैष लाभोऽथवा यन्न
हतोऽस्मि घटवत्तया।"

(३) विक्रमचरित्र—विक्रम संवत १४९० में शुभशीलगणि रचित विक्रमचरित्र[१] में खर्पर चोर की कथा प्राप्त होती है। इसमें उसकी उत्पत्ति के विषय में पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। उसका लालन पालन देवी द्वारा किया जाता है और देवी उसे 'अभयदान' का वर देती है। वह अत्यंत क्रूरकर्मा वर्णित है और बड़ी कठिनाई से विक्रमादित्य उसका हनन करके चैन की साँस लेते हैं। संक्षेप में कथा यह है :

एक बार विक्रमादित्य अपना राज्यभार भट्टमात्र को सौंपकर अन्यत्र चला गया।

---

२. दि ओशन ऑव दि स्टोरी, भाग ५, परिशिष्ट १।

१. द्रष्टव्य : कथासरित्सागर, शक्तियशोलंबक, आठवीं तरंग।

१. विक्रमचरित्र, सर्ग ३.

पीछे से एक चोर ने अति उत्पात मचाया। वह बड़े बड़े सेठों की चार कन्याओं को भी चुरा ले गया। छह माह पश्चात् विक्रम अवंती में आया। भट्टमात्र से नगर में चोर का उपद्रव सुनकर उसने उसे मारने का निश्चय किया।

विक्रम ने बहुत प्रयत्न किए परंतु वह चोर के विषय में किंचिन्मात्र जानकारी भी नहीं पा सका। एक रात्रि में वह चक्रेश्वरी देवी के मंदिर में गया। वहाँ उसने देवी की स्तोत्रों से स्तुति की। देवी प्रसन्न हो गई और विक्रम द्वारा चोर के विषय में पूछे जाने पर उसका परिचय दिया कि वह देवी की गुफा में रहता है। देवी ने ही उसका लालन पालन किया है और उसे वरदान दिया है कि उसकी मृत्यु उस गुफा में ही होगी। उससे बाहर कोई देवता भी उसे नहीं मार सकेगा। अतः वह निश्शंक होकर नगर में अत्याचार करता है।

देवी से खर्पर की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर राजा प्रतिदिन रात्रि में उसका पता लगाता। एक रात्रि में राजा की और खर्पर की भेंट हुई। राजा ने अपने आपको उसका भानजा प्रकाशित किया। खर्पर उसे अपने निवासस्थान पर ले गया। वहाँ राजा ने कठिनाई से उसे मारा और श्रेष्ठिकन्याओं को छुड़ाया।

(४) प्रबंधकोश—

विक्रम की १५वीं शताब्दी में संकलित ग्रंथ 'प्रबंधकोश' में भी 'खर्पर चोर' का उल्लेख हुआ है।[1] इसके संकलनकर्ता राजशेखर सूरि हैं। इसमें खर्पर चोर का उल्लेख जिस कथा में हुआ है उसका सार यह है :

विक्रमादित्य की मृत्यु के उपरांत उसके पुत्र विक्रमसेन का राज्याभिषेक किया गया। अभिषेक के समय पुरोहित ने आशीर्वाद दिया "अपने पिता विक्रमादित्य से श्रेष्ठ सिद्ध हो।" यह आशीर्वाद सुनकर सिंहासन में लगी हुई चार पुत्तलिकाओं में से एक ने कहा कि यह विक्रमादित्य की समता भी नहीं कर सकता फिर अधिक की तो बात ही क्या है? फिर उसने विक्रम के जीवन की एक घटना सुनाई, जो इस प्रकार है :

"विक्रमादित्य सत्य तथा अपूर्व वार्ता सुनानेवाले को पाँच सौ दीनार देते थे।

एक दिन खर्प्पर चोर ने आकर राजा को एक वार्ता सुनाई कि गंधवह श्मशान के पास विवर में एक दिव्य महल है। वहाँ जाकर मैंने देखा कि एक कढ़ाई अग्नि पर रखी हुई है। उसमें तेल खौल रहा है। उसके पास एक मनुष्य खड़ा है जिसने पूछने पर बतलाया कि इसी महल में एक शापभ्रष्ट दिव्य कन्या है। मैं उससे विवाह करना चाहता हूँ परंतु इस कड़ाही में स्नान किए बिना उसे प्राप्त करना दुर्लभ है और मैं इसमें स्नान करने में असमर्थ हूँ।

यह वार्ता सुनकर राजा ने खर्प्पर को पाँच सौ दीनारें दीं और उसके साथ उस स्थान पर पहुँचा। वहाँ पहुँचकर राजा उबलते हुए तेल से परिपूर्ण कड़ाही में कूद पड़ा। तदुपरांत उस कन्या ने अमृत द्वारा पुनः उसे जीवित कर दिया। उसने राजा को वरण करना चाहा परंतु उसने उसका विवाह उस मनुष्य के साथ करवा दिया।

इस विवेचना से यह असंदिग्ध हो जाता है कि जायसी के समय तक खर्प्पर-खरपरा की कथा अत्यधिक प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय हो चुकी थी। उसके संबंध में प्रचलित कथाएँ लोककथा-साहित्य में भी उपलब्ध होती हैं।[1] संस्कृत के ग्रंथों तक ही यह क्रम जारी नहीं रहा अपितु जैनाचार्यों ने "विक्रम-खापरा-कथा" को स्वतंत्र कथा के रूप में प्रकाशित किया।

१. प्रबंधकोश प्रबंध १७. ("एवं श्रुत्वा **खर्प्परचौरेण** दीनारपंचशती याचिता")

१. द्रष्टव्य : 'राजस्थानी लोक-कथा-कोश' (निबंध), मरुभारती, अक्टूबर, १९६२, पृष्ठ ३२-३८।

राजगिरि दुर्ग : एक टिप्पणी

श्री हरि अनंत फड़के

कन्नौज के प्रतिहार सम्राट् मिहिरभोज की ग्वालियर (सागरताल) प्रशस्ति[1] में उसके पितामह नागभट द्वितीय[2] की विजयों के संबंध में इस प्रकार उल्लेख है :

आनर्तमालवकिराततुरुष्कवत्स
मत्स्यादि राजगिरिदुर्ग हठापहारैः

इतिहासकार[3] आनर्त, मालव, किरात, तुरुष्क, वत्स तथा मत्स्यादि राजाओं के गिरिदुर्ग के नागभट द्वितीय द्वारा बलपूर्वक हरण के रूप में इसे स्वीकार करते हैं। अब तक इस बात पर ध्यान ही नहीं दिया गया कि राजगिरि दुर्ग राजाओं का गिरिदुर्ग नहीं परंतु एक स्थान है। ऐसा प्रतीत होता है कि राजगिरि दुर्ग दुर्भेद्य किला था जिसका बलपूर्वक अपहरण नागभट द्वितीय की दृष्टि में उसके साम्राज्य की सुरक्षा के लिये आवश्यक था। पहले मत को मानने में एक महत्वपूर्ण कठिनाई यह है कि उपर्युक्त सभी राज्यों के पास गिरिदुर्ग थे, यह सिद्ध करना पड़ेगा। उनके अपहरण की आवश्यकता भी स्पष्ट करनी होगी। जब राज्यों को जीत लिया गया था तो उनके गिरिदुर्गों को अलग से जीतने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह भी संभव नहीं लगता कि केवल गिरि दुर्गों को जीता गया था और राज्यों को नहीं। वास्तव में यहाँ द्वंद्व समास करना ही उचित है। इसके अनुसार नागभट ने ऊपर वर्णित देशों तथा राजगिरि दुर्ग का अपहरण किया।

इस संबंध में हमें दूसरे सूत्रों से भी जानकारी प्राप्त होती है। जैन ग्रंथ 'प्रभावक चरित'[4] में, जो मुख्य रूप से जैन आचार्यों के जीवन से संबंधित है, प्रसंगवश अनेक ऐतिहासिक घटनाओं की ओर भी संकेत है। जैनाचार्य बाप्पभट्टी के जीवन की घटनाओं के संबंध में उसके संरक्षक कन्नौज के राजा आमनागावलोक के कार्यों का भी उल्लेख इस ग्रंथ में किया गया है। इसके अनुसार आमनागावलोक ने भी राजगिरि दुर्ग को जीता था। प्रसंग इस प्रकार है :

अथ राजगिरिदुर्गमन्यदारुरुधे नृपः
समुद्रसेन भूपालाधिष्ठितं निष्ठितद्विषत्
॥६६१॥

कुमुदसेनभूपोऽपि धर्मद्वाराद् ययौ बहिः
आमनामाथ भूपालः श्री राजगिरिमाविशत् ॥६७५॥

इस प्रसंग से यह स्पष्ट होता है कि राजगिरि एक दुर्ग था जिसको स्वाधीन करने के लिये आमनागावलोक प्रयत्नशील रहा। इस संबंध में यह बात स्मरणीय है कि प्रतिहार नागभट द्वितीय को नागावलोक भी कहा गया है अतः उसमें और प्रभावकचरित के आमनागावलोक में इतिहासकारों[5] ने समानता देखी है। अगर यह सच है तो इससे हमारा दृष्टिकोण अधिक पुष्ट हो जाता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि ग्वालियर प्रशस्ति और प्रभावकचरित की घटनाओं के क्रम में अद्भुत समानता है। उक्त प्रशस्ति के अनुसार राजगिरि दुर्ग की विजय नागभट द्वितीय की अंतिम विजय थी। प्रभावकचरित में भी इस विजय के बाद शीघ्र ही नागावलोक की मृत्यु वर्णित

१. ग्वालियर प्रशस्ति, एपिग्राफिया इंडिका, नं० १८, श्लोक ११

२. कन्नौज का प्रतिहार राजा, शासनकाल लगभग ७९२–८३३ ई० स०

३. डॉ० रमेशचंद्र मजुमदार, एपि० इंडि० १९२४; डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, 'हिस्ट्री आव कन्नौज' पृ० २३५

४. प्रभाचंद्र : 'प्रभावकचरित' (सिंघी जैन ग्रंथमाला), संपादक जिनविजय मुनि (संवत् १९९७)

५. इंडियन एंटीक्वेरी १९११, पृ० २३९-४० डॉ० त्रिपाठी, 'हिस्टी ऑव कन्नौज, पृ० २३५; डॉ० आल्तेकर, 'राष्ट्रकूटाज ऐंड देयर टाइम्स', पृ० ८३

है। प्रशस्ति के पहले श्लोकों[६] में नागभट द्वारा आंध्र, सैंधव, कलिंग तथा विदर्भ के राजाओं के आत्मसमर्पण को स्वीकार करने तथा उसके बाद बंगपति की पराजय वर्णित है। प्रभावकचरित में भी बंगाल के राजा धर्मपाल के साथ आम नागावलोक की चिर शत्रुता का उल्लेख है। ऐसा वर्णन है कि बंगाल जाने के पूर्व आमराजा गोदावरी तट पर गया था[७]। कन्नौज से बंगाल जाने के लिये मार्ग गोदावरी से नहीं है। अतः यह संभव है, जैसा प्रशस्ति के वर्णन से प्रतीत होता है, कि आंध्र, विदर्भ, कलिंग आदि देशों का एक संघ बनाकर उसने बंगाल पर आक्रमण किया हो। ऐसा करने के लिये उसे गोदावरी के तट तक जाना आवश्यक था। डॉ० मजुमदार भी यह मानते हैं कि नागभट द्वितीय ने बंगाल के विरुद्ध इस प्रकार का एक संघ बनाया था।

राजगिरि दुर्ग के संबंध में दूसरा प्रमाण अरब इतिहासकार[९] अलबेरुनी का है। उसने कश्मीर घाटी के दक्षिण में राजगिरि दुर्ग की स्थिति का वर्णन किया है। उसके वर्णन से राजगिरि दुर्ग की स्थिति पंजाब में ही हो सकती है। डॉ० रे महोदय ने अपनी पुस्तक 'डॉयनैस्टिक हिस्ट्री ऑव नॉर्दर्न इंडिया' के द्वितीय भाग में हिंदुस्थान के एक मानचित्र (नं० ८) में पंजाब में किसी राजगढ को दिखाया है। संभवतः यही हमारा प्राचीन राजगिरि दुर्ग है। रे महोदय ने इसके अतिरिक्त मत्स्य देश में भी दूसरे रायगढ़ की स्थिति बताई है। हमारे विषय से संबंधित राजगिरि दुर्ग पंजाब का ही हो सकता है, क्योंकि मत्स्य की विजय के बाद वहाँ के राजगिरि दुर्ग की विजय स्वयं सिद्ध हो जाती है। प्रतिहारों का मूलस्थान राजस्थान में ही माना जाता है। वहाँ उनकी स्थिति दृढ़ थी। राष्ट्रकूट शिलालेखों के अनुसार विपत्तियों के समय प्रतिहार राजा वहीं आश्रय लिया करते थे। अतः उसकी विजय का प्रश्न नहीं उठता। ग्वालियर प्रशस्ति के अनुसार नागभट ने तुरुष्क और सैंधवों को जीता था। इनसे तात्पर्य अरबों से है जिनके आक्रमण भारत पर इस समय हो रहे थे। क्या यह संभव नहीं कि पंजाब के राजगिरि दुर्ग को, जो दुर्भेद्य था, जीतकर नागभट ने अरबों से अपने साम्राज्य की सुरक्षा की व्यवस्था की हो?

इस प्रकार यदि ग्वालियर प्रशस्ति के राजगिरि दुर्ग का समीकरण प्रभावकचरित तथा अलबेरुनी द्वारा वर्णित राजगिरि दुर्ग से होता है तो ९वीं शती के प्रतिहारों के इतिहास के संबंध में निम्नलिखित दो महत्वपूर्ण निर्णय किए जा सकते हैं :

(१) प्रतिहार नागभट द्वितीय तथा आम नागावलोक की अभिन्नता राजगिरि दुर्ग की विजय तथा प्रभावकचरित और ग्वालियर प्रशस्ति की घटनाओं के क्रम में समानता से सिद्ध है;

(२) प्रतिहार नागभट द्वितीय के साम्राज्य की सीमा पंजाब तक पहुँचती थी जो उसके पौत्र मिहिरभोज के संबंध में ही अब तक इतिहासकारों को ज्ञात थी।

---

६. ग्वालियर प्रशस्ति, श्लोक ८,९,१०.

७. गच्छत् गोदावरी तीरे ग्रामं कंचिदवाप सः ।२२३॥ प्रभावकचरित।

८. एपि० इंडिका १९२४

९. अलबेरुनीज इंडिया, एडवर्ड सचाऊ, पृ० २०३,३०८

'गोरक्ष-मल्लिका-संवाद और मल्लिकानाथ

डा० नागेंद्रनाथ उपाध्याय

'गोरक्ष-मल्लिका-संवाद' नामक हस्तलेख के संबंध में निम्नलिखित तथ्य ज्ञातव्य है :

१—हस्तलेख की लंबाई १२·६ इंच है और चौड़ाई ४·६ इंच है।

२—हाथ के बनाए हुए कागज पर लिखित। उसे किसी चीज से माठकर चिकना किया गया है।

३—पत्रों की संख्या ८ है, १५ पृष्ठ हैं। 'प्रीष्ठाः १' का पृष्ठभाग सादा है।

४—प्रथम पृष्ठ में १० पंक्तियाँ हैं तथा शेष में ११-११ पंक्तियाँ हैं। अंतिम पृष्ठ में लगभग ३ पंक्तियाँ हैं।

५—प्रथम पृष्ठ की अक्षरावली, अन्य पृष्ठों की अक्षरावली की अपेक्षा बड़ी है किंतु प्रथम तथा शेष पृष्ठों की हस्तलिपि एक सी प्रतीत होती है। संपूर्ण पोथी एक ही व्यक्ति के हाथ की लिखी प्रतीत होती है।

६—बीच बीच में अक्षरों को मिटाकर शुद्ध किया गया है। किसी दूसरे की हस्तलिपि में पृष्ठों के हाशिए में सुधार किया गया है। मूल ग्रंथ और सुधार के अक्षरों की हस्तलिपि में भेद प्रतीत होता है। सुधार दूसरे व्यक्ति द्वारा किए गए प्रतीत होते हैं। सुधार की लिपि नागरी है।

७—कागज को पीले रंग से रँग दिया गया है। लिखने के लिये काली स्याही का प्रयोग किया गया है जिसमें चमक है। अशुद्ध अक्षरों को मिटाने के लिये किसी सफेद द्रव पदार्थ का प्रयोग किया गया है।

८—ल, स, घ, अ आदि वर्णों के आकारों को देखने से मूल हस्तलेख की लिपि स्पष्ट ही बँगला प्रतीत होती है और लगभग ३००-४०० वर्ष प्राचीन प्रतीत होती है।

९—भाषा भी बँगला है। इसमें षष्ठी में में "एर", द्वितिया में "के" आदि के प्रयोग मिलते हैं। धातुरूपों में "कहिलाम" इत्यादि प्रयोग हैं। अन्ययों में "एखन" आदि के प्रयोग बँगला के विशिष्ट प्रयोगों की ओर संकेत करते हैं।

१०—ग्रंथ की पुष्पिका में लिपिक या रचयिता, किसी का भी नाम नहीं दिया गया है। ग्रंथनिर्माण अथवा ग्रंथलेखन अथवा हस्तलेख का भी सन् संवत् पोथी में नहीं है।

११—ग्रंथ संवाद शैली में लिखा गया है। यह संवाद गोरक्षनाथ और मल्लिकानाथ में हुआ है। इस गोरक्षनाथ के गुरु 'मच्छंद्रनाथ' थे। मल्लिकानाथ का थोड़ा सा विवरण 'माडर्न बुद्धिज्म ऐंड इट्स फालोअर्स इन ओरिसा' में मिलता है। मयूरभंज राज्य में मल्लिकानाथ संबंधी कुछ स्मारक और ध्वंसावशेष मिले हैं। संभव है, इस ग्रंथ के मल्लिकानाथ गोरक्षनाथ के उड़ीसादेशीय शिष्य रहे हों। ८४ सिद्धों में आनेवाले मालीपा से इन्हें अभिन्न बतलाने के लिये अनुमान किया जा सकता है।

१२—पुष्पिका में इस रचना का नाम 'श्री गोरकनाथ मल्लिका संवाद' दिया हुआ है।

१३—इसी प्रकार के एक हस्तलेख की सूचना 'श्री नाथ ग्रंथ सूची' (योगप्रचारिणी सभा, गोरक्ष टिल्ला, काशी) से मिलती है। कहा गया है कि जोधपुर दुर्ग में "मल्लिकानाथ गोरखनाथ संवाद" (संख्या १७९४ क-५८१ क) की एक प्रति है; किंतु काशी हिंदू विश्वविद्यालय के पुस्तकाध्यक्ष के आधिकारिक प्रयत्न करने पर भी इस प्रति से संबंधित कोई भी विवरण नहीं मिल सका। उत्तरों से मालूम होता है कि जोधपुर के पुस्तकालयों, संग्रहालयों में ऐसी कोई रचना नहीं है। संभव है, और प्रयत्न करने पर कुछ ज्ञात हो जाय।

सुविधा के विचार से, उपर्युक्त अधिकांश विवरणों की पुष्टि के लिये 'गोरक्ष-मल्लिका-संवाद' के प्रथम और अंतिम पृष्ठों के पूर्ण लिप्यंतर नीचे दिए जा रहे हैं :

हस्तलेख का प्रथम पृष्ठ

(कर्त्ता) २ प्रीष्ठाः १

पंक्ति १—श्रों नमोगणेशाय ॥ ईश्वर उवाच ॥ नमः नमस्ते गुरुदेव योगाख्य प्व (पु) रुष। अन्तर्यामि नाथ प्रभु महिमा विशेषः। नमस्ते गु—

पंक्ति २—रुदेव सर्व्वयोगदाता। नमस्ते गुरुदेव सर्व्वसुखदाता। नमस्ते गुरुदेव सर्व्व पुव सार। नमस्ते गुरु तुमि ब्रह्मा विष्णु हर ॥ न—

पंक्ति ३—मस्ते गुरुदेव ज्ञान कल्पतरु। सर्व्व योगेश्वर प्रभु अचल महामेरु। नमस्ते गुरुदेव करुणा ज्ञान सिन्धु। अन्ध तिमिर ना—

पंक्ति ४—सन तुमि सर्व्व ज्ञान इन्दु। नमस्ते गुरुदेव परं ब्रह्म रासि। शनी हाते उद्धार प्रभु काल दण्ड फांसि। स्तुति करे मल्लिका गो—

पंक्ति ५—रक्ष सुख (सुख ?) पाये चाहि। गुप्त कथा जिज्ञासि मोरे देह कहि। प्रसन्न हइया स्वामि कहिवा अमारे। तबे से छांडिबे स्वामि—

पंक्ति ६—जन्म मृत्तु मोरे। चरणे प्रणाम कह योग विधि। महायोगेश्वर प्रभु ज्ञान घट सिद्धि। उपदेस आज्ञा मोरे कर गुरु—

पंक्ति ७—देव। हइते प्राण मोरे के मते ना छाडिबे। से सकल कथा मोरे बुझाइया कह स्वामि। आत्माराम ज्ञानि तुमिसर्व्व—

पंक्ति ८—योग गामि। मो स्वामि परम दिता भावे मोरे कहा। जे मते रहिवे स्वामि अन्न (?) स्वर देह। योग मानचर (?) राजायो—

पंक्ति ९—ग मानस्वर (?) सार। से उपासना स्वामि दिया पिण्ड के उद्धार। जिव परम मोक्ष निरखि अछ जाहा। संसय फिटाइ मो—

पंक्ति १०—ते महिवा कता हा (?) जिव परम सम्भूत केमन्ते होइले। प्रथमे कि रूपे स्वामि काहि रे रहिले। केवने प्रकारे स्वा—

हस्तलेख का अंतिम पृष्ठ प्रीष्ठा : ८

पंक्ति १—गौतम कहिल याहा मल्लीका प्वणिल ॥ श्री गुरु व सिष्य पुत्र रे योग आत्मा विहरिल। आत्मा जे काष्ठेर करिआ पवन धारण करिवे। गुरु व—

पंक्ति २—स्त्रमन्द्रे ते स्वरूप ब्रह्म के देखिवा इति श्री पव (र) म योग सारे पव (र) म हंस निर्णये श्री गुरु कथने श्री गोरकनाथ मल्लिका सम्वादे श्री सप्तांग यो—

पंक्ति ३—ग धरणा जिव परम जाता याते अनुभव योग कथने श्री पव (र) म हंस योग : समाप्तोयमं ग्रन्थः ॥ लिपियत्री

नाथ साधना के अन्य ग्रंथों के समान ही इस रचना का भी विषय योग है। प्रारंभ में गुरुस्तुति की गई है। मल्लिकानाथ ने पिंड में आत्मा की स्थिरता, जन्म मृत्यु से अतीत होने, शरीर की अचलता, सप्तवारयोग, षट्योग आदि के विषय में जिज्ञासा की है। उत्तर में गोरखनाथ ने पवनसाधन, मन-पवन-साधन, सप्तखंडज्ञान, सप्तवार, सप्तभूमि, योगांग, भोगांग, धारणा, कालजय, मायाजय, काया-नगर विजय, अविनाशी पिंड, रसरक्षा, काल-सिद्धि, मन, पवन का एकत्र साधन, नाड़ी (इड़ा-पिंगला-सुषुम्ना) साधन, दश पवन, सप्तांग योग का उपदेश दिया है। इस रचना में वारानुसार साधन (दे० गोरखबानी में "सप्तवार" और "सप्तवार नवग्रह") पर विशेष आग्रह दिखाई पड़ता है। 'सात' संख्या भी रचनाकार को विशेष प्रिय (जैसे 'सिद्ध-सिद्धांत-पद्धति' में पाँच संख्या की महिमा है) मालूम होती है। इसमें त्रयी का भी परिचय मिलता है, जैसे—इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना; गंगा, यमुना, सरस्वती; उदयाचल, अस्ताचल, शून्याचल। स्पष्ट ही इनका साधना से संबंध है। कालजय की दृष्टि से चंद्र-सूर्य-अग्नि-साधन की भी

व्याख्या दी जा सकती है। चंद्र का इड़ा से, सूर्य का पिंगला से तथा अग्नि का सुषुम्ना से संबंध है। इसी प्रकार साधन (अमृतसाधन) की दृष्टि से उदयचंद्र (अमृत) में, अस्त सूर्य (अमृतशोषक) में तथा शून्यपद अग्नि या सुषुम्ना (द्वैतविवर्जित स्थान) में है। यह भी कहा गया है कि सात वारों में तीन पर चंद्र का और चार पर सूर्य का प्रभाव है। वारानुसार साधन का बार बार उपदेश है। गोरक्ष स्वीकार करते हैं कि यह उपदेश मत्स्येंद्र ने उन्हें दिया था। बताया गया है कि नाना कर्मों के कारण ही जीव संसार में भ्रमित होता रहता है। 'अष्टांग योग' और 'अष्टवार' की ओर भी इस रचना में संकेत किया गया है। अंतिम पृष्ठ को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि 'परम-योगसार' नामक किसी महाग्रंथ के 'परमहंस निर्णय' अनुच्छेद से संवाद गृहीत है। गोरक्ष और मल्लिका के इस संवाद में 'सप्तांग योग धारण' नामक अनुभव का उपदेश किया गया है। इन सब विवरणों को यहाँ केवल इसलिये उपस्थित किया जा रहा है, जिससे इस हस्तलेख की सूचना मात्र मिल सके। इस लेख में वर्णित साधनों का विस्तृत विचार यहाँ नहीं किया जा रहा है।

यह हस्तलेख लेखक को श्री पं० शिवकुमार शर्मा 'मानव,' ५।८६ त्रिपुरा भैरवी, काशी से मिला है। लेखक शर्मा जी का आभारी है।

(२) मल्लिकानाथ

ऊपर जिस हस्तलेख की चर्चा की गई है उसमें गोरखनाथ ने मल्लिकानाथ को योग-साधन का उपदेश दिया है। मल्लिकानाथ के संबंध में अद्यतन प्रकाशित सामग्री बहुत कम है। इनका थोड़ा सा परिचय "माडर्न बुद्धिज्म ऐंड इट्स फालोअर्स इन ओरिसा" में उपलब्ध है। मल्लिका नाम के परिचय के संबंध में अतिरिक्त सामग्री को एकत्रित करने में श्री शिवकुमार शर्मा 'मानव' ने मेरी सहायता की। स्वर्गीय संसदसदस्य श्री प्रफुल्लचंद्र भंजदेव, 'मानव' जी से परिचित थे। मेरा यह अनुमान सच ही निकला कि यदि मल्लिकानाथ का संबंध मयूरभंज प्रदेश से है तो निश्चय ही मयूर-भंज के राजवंश के व्यक्तियों को मल्लिकानाथ के संबंध में कुछ ज्ञान होगा क्योंकि इतिहास ग्रंथों में यह तथ्य मिलता है कि भंज राजवंश के ऊपर बहुत प्राचीन काल से ही शैव संप्रदाय का प्रभाव था। श्री 'मानव' जी के पत्र में श्री प्रफुल्लचंद्र भंजदेव ने मल्लिकानाथ के परिचय तथा 'मल्लिका मकरंद' के इतिहास खंड की प्रतिलिपि से युक्त एक पत्र भेजा। उन्होंने साथ ही मल्लिकानाथ सिद्धेश्वर की समाधि के ऊपर स्थापित शिवलिंग तथा मल्लिका-नाथ के स्वहस्तार्चित शिवलिंग के छायाचित्र भी भेजे। इन शिवलिंगों पर मंदिर का निर्माण श्री प्रफुल्लचंद्र भंजदेव के पितामह (महाराज श्री कृष्णचंद्र भंजदेव) के कनिष्ठ भ्राता राजोत्तर-राज श्री गोकुलचंद्र भंजदेव ने कराया था। राज्य के विलय के बाद मंदिर दुरवस्था में है। श्री गोकुलचंद्र भंजदेव ही मयूरभंज के अधि-कांश शिवालयों के प्रतिष्ठाता तथा संस्कर्ता थे। वारुणीनाथ के स्थल की खोज इन्होंने ही की थी। श्री प्रफुलचंद्र भंजदेव के पिता राजोत्तरराज श्री दामचंद्र भजदेव ने पुत्र के जन्म पर मयूर-भंज के शिल्पियों को उत्तर काशी के विश्वनाथ-मंदिर का मानचित्र लाने के लिये भेजा और उसी के अनुसार मल्लिकानाथ से संबंधित पंचशिख मंदिर का निर्माण हुआ।

वारुणीनाथ के पूर्व भी मयूरभंज का प्रदेश प्राचीन शैव क्षेत्र था। श्री प्रफुल्लचंद्र भंजदेव ने ताड़पत्र पर लिखित "मल्लिकामकरंद" के इतिहास खंड को उद्धृत करते हुए अपने पत्र में बताया है कि पहले मल्लिका नाथ नीवार देश के एक क्षत्रिय योद्धा थे और उसय सम उनका नाम विबुधमल था। किसी समय मृगयायात्रा में उन्होंने समाधिस्थ गोरक्षनाथ का दर्शन किया। नमस्कार करने पर आशीर्वाद न मिलने के कारण विबुधेंद्रमल्ल ने गोरक्ष को दंभी समझा और क्रुद्ध होकर समाधिस्थ कापालिक के मस्तक पर खड्ग से प्रहार किया। जटाजूट से टकराकर खड्ग के टूट जाने पर विबुधेंद्रमल्ल को अत्यधिक पश्चात्ताप हुआ और वे संसार का त्याग कर गोरक्ष के शिष्य बने। गोरक्ष की तरह ही उन्होंने भी कालीकुल और ताराकुल की सिद्धि प्राप्त की और सिद्ध पद पर अभिषिक्त हुए। सिद्धिप्राप्ति के बाद

ये विश्वनाथ नाम से प्रख्यात हुए किंतु इनका गुप्त नाम 'स्वानंद' था। गुरु के आदेश से त्रिपुरादेवी की उपासना के लिये उड्डीयान गए। कौलों के साथ विभिन्न चक्रार्चनों में त्रिपुरादेवी की उपासना में लीन रहने के बाद उड्डीयनाद्रि पर सिद्धिलाभ कर चक्रार्चन में अपनी उत्तरसाधिका के रूप में एक ब्रह्मवादिनी ब्राह्मणकन्या का वरण किया। इस कन्या से ही इनका चक्र में शैव विवाह भी हुआ। उड्डीयान के सिद्धों के क्रमानुसार उन्होंने अपनी सिद्धा भैरवी का नाम मल्लिका रखा और तत्पश्चात् ही वे मल्लिकानाथ के नाम से प्रसिद्ध हुए। महानिर्वाण के दिन उन्होंने अपने मुख्य शिष्य योगी वारुणीनाथ को मृत्यूपरांत शरीर को अरण्य में गाड़कर उसके ऊपर शिवलिंग स्थापित करने का आदेश दिया। तदनुसार ही वारुणीनाथ ने किया तथा पास में ही उन्होंने मल्लिकानाथ के स्वहस्तार्चित शिवलिंग को भी प्रतिष्ठित कर दिया। गोरक्ष आकाशमार्ग से उड्डीयान आए थे तथा मल्लिकानाथ ने उनका दर्शन किया था; इसका वर्णन "मल्लिकामकरंद" में मिलता है। वारुणीनाथ भी रससिद्ध और परम ज्ञानी थे। सिद्धा भैरवी मल्लिका मल्लिकानाथ के इहलोक के त्याग के बहुत दिनों बाद तक जीवित रहीं। ये कालिका मंत्र में दीक्षित थीं तथा पगली जैसी रहती थीं। 'मल्लिकामकरंद' में इस स्थान को दंडभुक्ति कहा गया है। इस रचना में मीननाथ और गोरक्षनाथ का भी कुछ विवरण उपलब्ध है।

ताड़पत्रलिखित "मल्लिकामकरंद" नामक हस्तलेख की प्रतियाँ मयूरभंज के प्राचीन ब्राह्मण परिवारों में अब भी मिलती हैं। इसकी तीन लहरी ही तीन खंडों में विभक्त कही जा सकती है। पहला खंड इतिहास खंड है जिसे सामान्यतया स्थूल खंड कहा जाता है तथा जिसमें सिद्धों का इतिहास है। दूसरे खंड (क्रियाकलाप खंड) या सूक्ष्म खंड में उनका साधनविवरण है तथा तीसरे खंड (रहस्य खंड या गुह्य खंड) में तत्व के गुप्त साधन का उल्लेख है। "मल्लिकामकरंद" के वास्तविक रचयिता विमलनाथ सिद्ध हैं। इन्होंने अपने गुरु वारुणीनाथ योगींद्र से इसे सुनकर, उन्हीं के आदेश से इसे लिखा था। "मल्लिकामकरंद" की दो लहरियों की प्रतिलिपि ताड़पत्र पर करके श्री प्रफुल्लचंद्र भंजदेव के पैतृक पुस्तकालय में सुरक्षित रखी हुई है। इस हस्तलेख के इतिहास खंड को ओड्र लिपि से नागरी लिपि में परिवर्तित कर श्री प्रफुल्लचंद्र भंजदेव ने श्री 'मानव' के पास भेजा था जिसकी टंकित प्रति मेरे पास सुरक्षित है।

जिन भंज श्रीमानों के संदर्भ ऊपर आए हैं उनके पूर्वज उड़ीसा में ९वीं ई० श० में सर्वप्रथम प्रकाश में आए। नेत्रभंज प्रथम सर्वप्रथम भंजप्रमुख थे, ऐसा माना जाता है। इनकी स्थिति ८वीं ई० श० में स्वीकृत है। इन भंजवंशियों का क्रम इस प्रकार बताया जाता है:

नेत्रभंज, शीलभंज प्रथम, त्रुभंज, रणभंज प्रथम, नेत्रभंज द्वितीय। रणभंज प्रथम को स्तंभेश्वरी और शिव का दृढ़ उपासक कहा गया गया है।[1] इन प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि मयूरभंज बहुत प्राचीन काल से शैवों से प्रभावित क्षेत्र रहा है। भंजवंश बहुत प्राचीन काल से ही शिवोपासक रहा है, किंतु कुछ धर्मेतिहासकार यह भी कहते हैं कि उड़ीसा के ऊपर बौद्ध प्रभाव भी कम नहीं रहा है। श्री नगेंद्रनाथ वसु ने अपने ग्रंथ में तथा उसके प्राक्कथन में महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री ने इस बात को सिद्ध करने की चेष्टा की है। बौद्धों के दार्शनिक और चिंतनात्मक उत्थान के बाद, ब्राह्मणों और शैवों के उत्थान तथा मुसलमानों के आक्रमण से क्रमशः उस बौद्धमत का ह्रास होता रहा। किंतु बौद्ध समाज ने जिन विभिन्न धर्मों को आत्मसात् कर लिया था, उनमें से एक नाथमत भी था, जिसके नेता मत्स्येंद्र और गोरक्ष थे और ये दोनों ही बौद्धधर्मेतर मतों से आए थे।[2] श्री वसु ने यह बताया है कि परवर्ती बौद्धों में

१—हिस्ट्री आव ओरिसा, आर० डी० बनर्जी, वा० १, पृ० १६३, १६७, १७३।

२—माडर्न बुद्धिज्म ऐंड इट्स फालोअर्स इन० ओरिसा—इंट्रो०—पृ० १–२८।

प्रवृत्तिमार्गियों और निवृत्तिमार्गियों के दो वर्ग हो गए थे। ये दोनों ही मार्ग एक दूसरे से तत्वतः भिन्न थे। प्रथम मार्ग आदिबुद्ध और आदिप्रज्ञा (पुरुष और प्रकृति) के एकात्म को, प्रेम और संसार के भोग से उपलब्ध करना चाहता था तथा दूसरा महाशून्य में आत्मा के लय को शुद्धता, प्रेम और संन्यास से प्राप्त करना चाहता था। गौड़ देश में इन दोनों मार्गों ने जन्म लिया और विकास पाया।[3] संकेत किया गया है कि महामहोपाध्याय पं० हरप्रसाद शास्त्री द्वारा प्राप्त ('बौद्ध गान श्रो दोहा' संग्रह की) रचनाएँ बौद्धों के उपर्युक्त प्रवृत्तिमार्ग की रचनाएँ हैं।

जब देश में बौद्ध धर्म का पूरी तरह से लोप नहीं हो पाया था, तभी प्रवृत्तिमार्ग ने वैष्णवों के सहजिया मत में प्रवेश किया। शीघ्र ही प्रवृत्तिमार्ग प्रभावशाली हो गया। निवृत्तिमार्ग भी समाज के विचारों के नियंत्रण और दिशापरिवर्तन में महत्वपूर्ण योग देता रहा। इसका प्रमाण शून्यपुराण, धर्मंमंगल तथा मयूरभंज में सद्यःप्राप्त श्रोड्र हस्तलेखों के आलोचनात्मक अध्ययन से मिलता है।[4] निवृत्तिमार्ग के परवर्ती विकसित विशिष्ट रहस्यवाद के साधक श्री ज्ञान, रामाइ पंडित आदि की सिद्धियों से बहुत प्रभावित थे। ये लोग बौद्धों के निर्वाण के समान ही 'बम्म' और 'निब्बान' की उपलब्धि को आवश्यक मानते थे। अतिश का प्रभाव तो उस समय दक्षिण बंगाल से लेकर भोट तक फैला हुआ था। रामाइ पंडित की प्रसिद्धि पूरे राढ़ प्रदेश में थी। मयूरभंज राढ़ देश के अत्यधिक समीप स्थित हैं, किंबहुना उड़ीसा के लोगों में मयूरभंज ही राढ़ के रूप में प्रसिद्ध है और हाडी सिद्ध के नाम का विलक्षण प्रभाव बंगाल के पूर्वी प्रदेशों में बहुत अधिक था।[5]

श्री नगेंद्रनाथ वसु ने एक अन्य स्थल पर लिखा है कि बौद्धों का अनुत्तर योग हठयोग है और उड़ीसा के गुप्त बौद्धों में पर्याप्त मात्रा में पाया जाता है। यह साधन, लामा तारानाथ के अनुसार, तांत्रिक साधनयोग का एक निम्न प्रकार था किंतु साथ ही सर्वप्रचलित साधन था। यह साधन असंग और धर्मकीर्ति के समय से ही चला आ रहा था। डा० कर्न ने उपर्युक्त बात को पुष्ट करते हुए कहा है कि "धर्मकीर्ति के बाद अनुत्तरयोग से अधिक अधिक सर्वप्रचलित और प्रभावशाली होता गया।" बलरामदास तथा अन्य लेखकों की रचनाओं से इस मत की पुष्टि होती है। बौद्ध और शैव, दोनों ही गोरक्षनाथ को हठयोग का पुरस्कर्ता मानते हैं। वैष्णव बौद्ध ग्रंथ अमरपटल का आरंभ गोरक्षनाथ और मल्लिकानाथ के संवाद से होता है।[6]

इन विवरणों के निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि कुछ धर्मेतिहासकारों के अनुसार गोरक्ष और उनके शिष्य मल्लिकानाथ परवर्ती बौद्धों (तांत्रिक बौद्धों) के निवृत्तिमार्ग की साधना की परंपरा में थे जिसमें प्राचीन बौद्ध आचार्य धर्मकीर्ति का प्रमुख स्थान था। यह साधना अनुत्तरयोग की थी जिसे शब्दांतर से हठयोग भी कहा जाता है। धर्मकीर्ति के बाद इसके दूसरे बड़े साधक गोरक्षनाथ थे। अर्थात् गोरक्षनाथ और मल्लिकानाथ निवृत्तिमार्गी वा तांत्रिक बौद्ध थे।

नालंदा के पतन के बाद, उत्कल में बौद्ध कई प्रमुख संप्रदायों में विभक्त हो गए और ये सभी संप्रदाय बौद्ध धर्म से क्रमशः विकसित होनेवाले विभिन्न रूपों के परस्पर संपर्क से उत्पन्न हुए थे; यहाँ तक कि १६वीं ई० श० तक उत्कल में उनके धर्मग्रंथों के अवशेष और प्रभाव उपलब्ध थे। अच्युतानंददास ने अपनी 'शून्यसंहिता' में इन धर्मसंप्रदायों के संबंध में लिखा है :

नागांतक वेदांतक योगांतक जेते।
नाना प्रति विधि रे कहिले तोष चिते॥
गोरखनाथांक विद्या वीरसिंह आज्ञा।
मल्लिकानाथांक योग बाउली प्रतिज्ञा॥

३—वही, मूल, नगेंद्रनाथ वसु, पृ० ७, ८।
४—वही, मूल, पृ० ६।
५—वही, मूल, पृ० ६।
६—वही, पृ० ११४-११५; दि आर्केयोलाजिकल सर्वे आव मयूरभंज, वा० १, इंट्रो० २, पृ० २०४-५।

लोहिदास कपिलंक साद्दिमंत्र जते ।
कहिले जे येमंत से होइछि गुपते ॥
[अध्याय—१०]

इन पंक्तियों में नागांतक से तात्पर्य नागार्जुन के अनुयायियों से है । इसी प्रकार वेदांतक का सौत्रांतिकों से, योगांतक का योगचारियों से है । गोरखनाथ और वीरसिंह की आज्ञा से धार्मिक नियम, साधन और अभ्यास, मल्लिकानाथ का योगमत, बाउली मत के सिद्धांत तथा लोहिदास और कपिल के साद्दिमंत्र—ये गुह्यता में भूमिगत (छिपे हुए या गुप्त) थे ।[७]

ऊपर उड़ीसा के जिन लेखकों के नाम आए हैं वे हैं—बलरामदास और अच्युतानंददास । दोनों का स्थितिकाल चैतन्यकाल है ।[८] इससे यह प्रकट होता है कि मल्लिकानाथ का अभ्युदय चैतन्य के पूर्व ही हो गया था । 'माडर्न बुद्धिज्म ऐंड इट्स फालोअर्स इन ओरिसा' के प्राक्कथनलेखक और मूललेखक के विचारों से यह बात स्पष्ट होती है कि गोरखनाथ और मल्लिकानाथ का अभ्युदय बौद्ध क्षेत्र, प्रभाव और परंपरा के अंतर्गत ही हुआ किंतु इस संबंध में हम 'तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य' के अंतिम परिच्छेद में यह प्रमाणित कर चुके हैं कि नाथों का पारंपरिक और सांप्रदायिक संबंध बौद्धों से नहीं था । इसी प्रकार दार्शनिक और साधनात्मक आधार पर भी अब प्रमाणित किया जा चुका है कि नाथों की अपनी परंपरा शैवों की परंपरा थी । डा० गोपीनाथ जी कविराज ने नाथों का, विशेषकर मत्स्येंद्र और गोरक्ष का दार्शनिक संबंध काश्मीर दर्शन से माना है ।[९] डा० कल्याणी मल्लिक ने भी इस संबंध का खंडन किया है और उनकी शैव परंपरा की पुष्टि की है ।[१०] ऊपर मल्लिकानाथ संबंधी जो सांप्रदायिक विवरण श्री प्रफुल्लचंद्र भंजदेव द्वारा प्रेषित सामग्री के आधार पर दिया गया हैं, उससे भी यही स्पष्ट होता है कि मल्लिकानाथ का संबंध शैवों से था तथा भारतीय तांत्रिक साधना से उनका घना संबंध था । सिद्धों की सूचियों में 'मल्लिकानाथ' अथवा 'मल्लिका' नाम का कोई भी सिद्ध नहीं है । डा० हजारीप्रसाद जी द्विवेदी ने इस संबंध में विचारविमर्श करते समय बताया कि मल्लिकानाथ का 'मालीपाव' नाम के सिद्ध से अभिन्न होने का अनुमान किया जा सकता है । किंतु इस संबंध में पूरी छानबीन की जानी अभी शेष है । फिर भी इतना निश्चित है कि मल्लिकानाथ और उनके उपदेशों के संबंध में अभी तक कुछ ज्ञात नहीं था और न उनके संबंध में अभी तक कोई विवरण ही प्रकाशित था ।

———

७. माडर्न बुद्धिज्म ऐंड इट्स फालोअर्स इन ओरिसा, पृ० १२३-१२४; दि आर्कैयोलाजिकल सर्वे आव मयूरभंज, इंट्रो०—२, पृ० २१२ ।

८. दि हिस्ट्री आव ओरिसा, हरेकृष्ण महताब, अपेंडिक्स, पृ० १७२-१७३ ।

९. हिस्ट्री आव ईस्टर्न ऐंड वेस्टर्न फिलासफी, सं० राधाकृष्णन, वा० १, पृ० ४०४ ।

१०. इनके दो ग्रंथ द्रष्टव्य हैं : 'नाथ संप्रदायेर इतिहास, दर्शन ओ साधनाप्रणाली,' 'सिद्ध सिद्धांत पद्धति ऐंड अदर वर्क्स' ।

कवींद्राचार्य सरस्वती और कवींद्र परमानंद

प्रा. कृ. गं. दिवाकर,

नागरीप्रचारिणी पत्रिका[1] में श्रीमान् तामसकर जी का "कवींद्राचार्य सरस्वती" नामक लेख प्रकाशित हुआ था। उसमें उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि मुगल सम्राट् शाहजहाँ के आश्रित कवींद्राचार्य सरस्वती और छत्रपति शिवाजी महाराज के संस्कृत चरित्र "शिवभारत" के रचयिता कवींद्र परमानंद दोनों अभिन्न व्यक्ति थे। अनुसंधान कार्य के सिलसिले में मुझे कवींद्राचार्य सरस्वती तथा कवींद्र परमानंद के चरित्रों एवं ग्रंथों का अध्ययन करने का अवसर प्राप्त हुआ। उक्त दोनों कवियों के संबंध में उपलब्ध समस्त अंतर्बाह्य सामग्रियों का परिशीलन करने से ज्ञात हुआ कि कवींद्राचार्य सरस्वती और कवींद्र परमानंद दोनों एक व्यक्ति नहीं हैं अपितु भिन्न व्यक्ति हैं।

कवींद्राचार्य सरस्वती और कवींद्र परमानंद इन दोनों का अभिन्नत्व सिद्ध करते समय अपने मत की पुष्टि में श्रीमान् तामसकर जी ने जो बातें लिखीं उनमें से लगभग सभी कल्पना एवं अनुमान पर समाश्रित हैं। कवींद्र सरस्वती बड़े विद्वान् थे, बनारस के रहनेवाले थे। परमानंद भी "कवींद्र" थे, बनारस के रहनेवाले थे, बहुत बड़े विद्वान् थे। दोनों के संबंध में प्राप्त इतनी सी सामान्य बातों में समता पाकर श्रीमान तामसकर जी ने उन दोनों को अभिन्न व्यक्ति ठहराने का प्रयास किया है। उन्होंने प्रारंभ में ही उन दोनों के अभिन्न होने की बात स्वीकार की है और उसी दृष्टिकोण से हर बात पर बिना विशेष छानबीन किए अनुमान के आधार पर ही चर्चा की है और निष्कर्ष भी निकाले हैं।

कवींद्राचार्य सरस्वती कृत "कवींद्र कल्पद्रुम" नामक संस्कृत ग्रंथ में कवींद्राचार्य का जन्मस्थान विषयक स्थूल परिचय प्राप्त हो जाता है :

> गोदातीरे प्रमोदाषलि बिलिततमे
> जन्मभाक् पुण्यभूमा।
> तृग्वेदी वेदवेदी जगति विजयते
> श्री कवीन्द्र द्विजेन्द्रः ॥[2]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कवींद्राचार्य का जन्म महाराष्ट्रांतर्गत गोदावरी नदी के तीरस्थ किसी पुण्यक्षेत्र पुण्यभूमि में हुआ था। यह पुण्यक्षेत्र या तो नासिक हो सकता है या प्रतिष्ठान [पैठण]। परंतु श्रीमान् तामसकर जी ने यह स्थान निधिवास [नेवासे] मान लिया है क्योंकि शिवभारत के रचयिता का निवासस्थान निधिवास था। निधिवास को गोदातीर के पुण्यक्षेत्र के रूप में स्वीकार करते समय उन्होंने भौगोलिक तथा ऐतिहासिक सूचनाओं की उपेक्षा सी की है। वास्तव में निधिवास प्रवरा नदी के तीर पर है न कि गोदावरी नदी के।[3] और उस समय निधिवास की प्रसिद्धि भी पुण्यक्षेत्र के रूप में वैसी न थी जैसी नासिक अथवा प्रतिष्ठान की थी। अतः निधिवास को गोदावरी तीरस्थ पुण्यभूमि मानकर उसे कवींद्राचार्य की जन्मभूमि ठहराना कोरी कल्पना मात्र है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि कवींद्राचार्य सरस्वती का जन्मस्थान गोदावरी तीरस्थ पुण्यक्षेत्र नासिक अथवा प्रतिष्ठान [पैठण] था और कवींद्र परमानंद का जन्मस्थान प्रवरा नदी के तीरस्थ निधिवास नामक ग्राम था। अतः यह निश्चित हो जाता है कि दोनों के जन्मस्थान भिन्न थे।

यह सत्य है कि दोनों विद्वान् थे, दोनों को कवींद्र उपाधि प्राप्त थी, परंतु केवल इतनी

---

१. नागरीप्रचारणी पत्रिका, काशी, श्रावण—आश्विन, सं० २००५, बर्ष ५३, अंक २।

२. इंडिया ऑफिस कैटलॉग, भा० ७ नं० ३६४७।

३. महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश, डॉ० श्रीधर व्यंकटेश केतकर [१९२५ ई०] विभाग १७, पृ० ३९३।

सी बातों के आधार पर दोनों व्यक्तियों को एक ठहराना तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। किसी भी विद्वान् तथा श्रेष्ठ कवि को "कवींद्र" की उपाधि देने की परंपरा बहुत प्राचीन है। परमानंद के नाती गोविंद कवि को भी कवींद्र की उपाधि प्राप्त थी।[४] इसी प्रकार कालिदास त्रिवेदी के पुत्र उदयनाथ भी कवींद्र नाम से प्रसिद्ध थे।[५] इस भाँति देखा जाय तो कवींद्र उपाधिधारी कई संस्कृत तथा हिंदी कवियों के नाम गिनाए जा सकते हैं। यह स्पष्ट ही है कि कवींद्र उपाधि इन्हें इसीलिये मिली होगी कि वे सभी अच्छे विद्वान् तथा श्रेष्ठ कवि थे। अतः केवल कवींद्र की उपाधि तथा विद्वत्ता में साम्य होने से कवींद्र सरस्वती और कवींद्र परमानंद को अभिन्न ठहराना समीचीन न होगा। रही बात दोनों के बनारस में निवास की। परंतु यह भी कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है क्योंकि उस समय काशी विद्या का केंद्र होने से उच्च शिक्षा की प्राप्ति के लिये भारतवर्ष के समस्त सुदूर प्रांतों से विद्वज्जन काशी में आते ही रहते थे। इसलिये यद्यपि उन दोनों के काशी निवास का उल्लेख मिलता है तो भी उससे उनका अभिन्नत्व सिद्ध होने में कोई सहायता नहीं मिलती। कवींद्र चंद्रोदय में प्राप्त एक छंद के द्वारा कवींद्राचार्य सरस्वती के संन्यासपूर्व नाम का अस्पष्ट सा संकेत प्राप्त होता है:

भट्टो नारायणः साक्षात्
पुरासीच्छंकर शिवः।
तथैवात्र स्वयं कृष्णः
कवीन्द्रस्वामिदण्डधृक्॥

श्रीमान् तामस्कर जी ने इसका अर्थ देते हुए लिखा है—"नारायण भट्ट ही कवींद्र थे, जो संन्यासी हुए। वे शंकर के समान उपकारी थे और सबका उपकार करते थे। अब वे कृष्ण के समान सबको वेदांत सिखाते हैं। उपर्युक्त श्लोक का अर्थ ऐसा ही हो सकता है, दूसरा नहीं। ऐसा न होने पर किस प्रकार कहा जा सकता है कि वे पहले "शंकर शिव" थे। बाद में वे कृष्ण हुए। एक ही जीवन में एक आश्रम के न तो दो नाम हो सकते हैं और न अवतारों की कल्पना की जा सकती है। शिव अर्थात् उपकारी शंकर और कृष्ण अर्थात् वेदांत की शिक्षा देनेवाले कृष्ण ही अभिप्रेत हो सकते हैं।" अन्वय की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि श्रीमान् तामसकर जी द्वारा किया हुआ यह अर्थ ठीक नहीं है। वास्तव में इस श्लोक का स्पष्ट अर्थ यही हो सकता है कि इसके पूर्व जिस प्रकार नारायण भट्ट साक्षात् शिव के समान कल्याणकारी थे उसी प्रकार यहाँ (तथैवात्र) ये कवींद्र स्वामी संन्यासी होकर भी कृष्ण के समान थे। अर्थात् संन्यासी होकर भी तपश्चर्यार्थ कहीं एकांत में न जाकर इन्होंने अपना जीवन कृष्ण के समान सामाजिक कार्य के लिये व्यतीत किया था। इस छंद के पूर्व छंदों में भी कवींद्राचार्य सरस्वती की तुलना अनेक महान् व्यक्तियों से की गई है। डा० राघवन् ने[८] इसी श्लोक के आधार पर यह अनुमान किया है कि कवींद्राचार्य का वास्तविक

---

४. मराठी रियासत, भा. ४ गो. स. सरदेसाई पृ. १६४।

५. दि माडर्न वर्नाक्युलर लिटरेचर ऑव हिंदुस्तान—डॉ. ग्रियर्सन—कविसंख्या—३३४।

६. कवींद्र चंद्रोदय—संपादक शर्मा और पाटकर, छंदसंख्या–१२३

७. नारायण भट्ट नामक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण का समय सन् १५१३ ई० से १५८० ई० तक था। इन्होंने काशी में विश्वेश्वर मंदिर बनवाया था। संपूर्ण भारतवर्ष के विद्वान् इन्हें आदर संमान देते थे। विद्वत्ता एवं दयालुता के कारण इन्हें "जगद्गुरु" नामक उपाधि प्राप्त हुई थी। ये अत्यंत उपकारी व्यक्ति थे। इनके शिष्यों में ब्रह्मेंद्र सरस्वती और नारायण सरस्वती प्रसिद्ध हैं। (भारतवर्षीय मध्ययुगीन चरित्रकोश, सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव, सन् १९३७ ई०, पृ० ४८९–४९०) नारायण भट्ट और कवींद्र सरस्वती में साम्य द्रष्टव्य है।

८. "कवींद्राचार्य सरस्वती"—आचार्य पुष्पांजलि (डा० बी०आर० भंडारकर २६ शतीग्रंथ पृष्ठ, १६०) डा० राघवन अपने तर्क कविन्द्र चंद्रिका के छंदों के आधार पर (१२३) प्रस्तुत करते हैं।

मूल नाम या तो कृष्ण होगा या संन्यासाश्रम का कोई ऐसा नाम होगा जिसका मुख्य अंश "कृष्ण" होगा। डॉ० राघवन् के इस कथन से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है कि तामसकर जी द्वारा लिखित अर्थ ठीक नहीं है। अतः यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नारायण भट्ट कवींद्राचार्य का मूल नाम न था।

श्रीमान् तामसकर जी ने अपने लेख में निष्कर्ष रूप में यह लिखा है कि हमारा ऐसा मत है कि कवींद्राचार्य का मूल नाम नारायण था, पिता का नाम गोविंद था, संन्यासाश्रम का नाम परमानंद था और इन्होंने ही "शिवभारत" नामक शिवाजी का चरित संस्कृत भाषा में लिखा।[९] यह तो स्पष्ट हो चुका है कि कवींद्राचार्य सरस्वती का मूल नाम नारायण भट्ट न था। अब रहा प्रश्न पिता के तथा संन्यासाश्रम के नामों का। उन्होंने अपने निष्कर्ष रूप में अभिव्यक्त मत की पुष्टि में कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया हैं। कवींद्राचार्य के किसी ग्रंथ में अथवा उनके लिये तत्कालीन पंडितों तथा कवियों द्वारा रचित अभिनंदनग्रंथों में भी इस बात का उल्लेख तक नहीं मिलता कि कवींद्र सरस्वती के पिता का नाम गोविंद था और संन्यासाश्रम का नाम परमानंद था।

कवींद्राचार्य सरस्वती कृत कवींद्र-कल्पलता नामक हिंदी ग्रन्थ में कवि ने स्वयं अपना परिचय देते हुए स्पष्ट लिखा है :—

पहले गोदातीर निवासी।
पाछे आइ बसे हैं कासी॥
सब विषयन्हि ते भए उदास
बालदशा मैं लयो संन्यास॥[१०]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि कवींद्राचार्य सरस्वती को जीवन की प्रारंभावस्था ही में विरक्ति हुई थी, जिसके फलस्वरूप उन्होंने संन्यास ग्रहण किया। यदि श्रीमान् तामसकर जी की बात मान ली जाय तो जीवन की प्रारंभावस्था में संन्यासाश्रम के "परमानंद" नाम से इनकी प्रसिद्धि हुई होगी। संन्यासी व्यक्ति संन्यास ग्रहण के पश्चात् केवल इसी नाम का प्रयोग करते हैं जो नाम संन्यासाश्रम में स्वीकार किया जाता है। यदि "परमानंद" कवींद्राचार्य सरस्वती का संन्यासाश्रम का नाम था तो उस नाम के स्थान पर उन्होंने परंपरा के विरुद्ध कवींद्राचार्य नाम को ही ग्रहण किया होगा? कवींद्राचार्य के सरस्वती नाम को ही क्यों ग्रहण किया होगा? कवींद्राचार्य के समस्त ग्रंथों में कहीं भी तो "परमानंद" नाम का उल्लेख होना चाहिए था, परंतु वह भी नहीं मिलता।

काशी प्रयाग जैसे हिंदू तीर्थक्षेत्रों को शाहजहाँ द्वारा करमुक्त करानेवाले कवींद्राचार्य सरस्वती के कार्य से प्रभावित होकर आंशिक रूप में ऋणमुक्त होने के लिये समकालीन दिग्गज पंडितों एवं कवियों ने संस्कृत, मराठी, हिंदी में जो प्रशस्तिकाव्य[११] लिखा है उनमें कवींद्राचार्य सरस्वती के मूल नाम से लेकर सभी उपाधियों का परिचय दिया है परंतु "परमानंद" नाम का कहीं भी उल्लेख तक नहीं है। अतः कवींद्राचार्य सरस्वती का संन्यासाश्रम का नाम परमानंद मानना काल्पनिक एवं निराधार ही है। नृसिंह सरस्वती, नारायण सरस्वती, माधव सरस्वती, दामोदर सरस्वती आदि श्रेष्ठ तथा वेदशास्त्रसंपन्न संन्यासियों के नाम देखकर अनुमान होता है कि कवींद्राचार्य सरस्वती यह नाम उन्होंने संन्यासदीक्षा के समय लिया था और परंपरा के अनुसार इसी नाम से प्रसिद्ध हुए थे। कवींद्राचार्य सरस्वती स्वयं वेदशास्त्रसंपन्न संन्यासी थे और उन्होंने शाहजहाँ के दरबार में ऋग्वेद की व्याख्या सुनाई थी।[१२]

---

९. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, काशी, श्रावण-आश्विन सं० २००५, वर्ष ५३, अंक—२

१०. कवींद्र कल्पलता—हस्तलिखित प्रति, भांडारकर रिसर्च इंस्टि०, पूना

११. "कवींद्र चंद्रोदय" में संस्कृत और मराठी में प्रशस्ति काव्य है जो शर्मा तथा पाटकर के संपादन में ओरिएंटल बुक एजंसी, पूना से सन् १९३९ ई० में प्रकाशित हुआ है। "कवींद्रचंद्रिका" हिंदी प्रशस्तिकाव्य है जो अप्रकाशित है और इसकी हस्तलिखित प्रति बीकानेर में प्राप्य है।

१२. हिंदी साहित्य का बृहत इतिहास, षष्ठ भाग, संपादक डॉ, नगेंद्र (प्रथम संस्करण) पृ. ५

इसके अतिरिक्त कवींद्राचार्य सरस्वती और कवींद्र परमानंद के अभिन्न न होने के प्रमाण दिए जा सकते हैं। कवींद्र सरस्वती का संस्कृत तथा हिंदी पर समान अधिकार था। उन्होंने अनेक संस्कृत ग्रंथों के साथ कवींद्र कल्पलता, योगवाशिष्ठसार आदि हिंदी ग्रंथों का भी प्रणयन किया है। कवींद्र परमानंद के शिवभारत तथा परमानंद काव्य (अंशावतरण) नामक दो संस्कृत ग्रंथ ही मिलते हैं। उनके द्वारा रचित कोई हिंदी ग्रंथ अब तक न प्रकाश में आया है, न इस बात का कहीं उल्लेख ही पाया जाता है। दोनों के ग्रंथों में प्राप्त पुष्पिकाएँ भी भिन्न हैं। कल्पलता में कवींद्राचार्य सरस्वती ने लिखा है—

> इतिश्री सर्वविद्यानिधान कवीन्द्राचार्य सरस्वती विरचितायां कवीन्द्रकल्पलतायाम् साहिजहां विषयक भाषा कवित्वानि ॥[13]

जहाँगीर की प्रशंसा में लिखित इनके जगद्विजय छंदः नामक संस्कृत ग्रंथ में इस प्रकार पुष्पिका मिलती है—

> श्री सर्व विद्यानिधान कवीन्द्राचार्य सरस्वतीनां लघुजगद्विजय छंदः पुस्तकम् । शुभमस्तु ॥[14]

कवींद्र परमानंद की शिवभारत में प्राप्त पुष्पिका इससे सर्वथा भिन्न है—

> इत्यनुपुराणे सूर्यवंशे कवीन्द्रपरमानंद प्रकाशितायां शतासाहस्यां संहिता या कुमार प्रभवो नाम प्रथमो ध्यायः ॥[15]

उपर्युक्त पुष्पिकाओं से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों की शैलियों, उपाधियों तथा नामों में सर्वथा भिन्नता पाई जाती है। दोनों को पढ़कर निश्चय हो जाता है कि दोनों व्यक्ति भिन्न थे।

परमानंद ने शिवभारत के प्रत्येक अध्याय के अंत में निधिवासकर का हेतुपुरस्सर प्रयोग किया है परंतु कवींद्र सरस्वती के किसी भी ग्रंथ में निधिवास अथवा नेवासे का उल्लेख तक नहीं आया। परमानंद ने अपने पिता का नाम गोविंद लिखा है परंतु कवींद्राचार्य ने अपने पिता के संबंध में कुछ भी नहीं लिखा।

कवींद्राचार्य सरस्वती का अधिकांश काल जहाँगीर तथा शाहजहाँ के दिल्ली दरबार में व्यतीत हुआ था। संभवतः सन् १६२२ ई० से सन् १६५८ ई० तक अर्थात् शाहजहाँ की पदच्युति तक वे मुगल दरबार में ही थे, जिसके पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं। "शिवभारत" में परमानंद ने शिवाजी के जीवन की घटनाओं को इतना विस्तृत दिया है कि पढ़कर ज्ञात होता है कि परमानंद अवश्य ही शिवाजी के संपर्क में बहुत काल तक रहे होंगे और सूक्ष्म निरीक्षण से उन्होंने शिवचरित्र का वर्णन उसमें किया है। बाल्यावस्था से लेकर शिवाजी के चरित्र का वर्णन उसमें किया गया है। उन्होंने कई स्थानों पर युद्ध में संमिलित योद्धाओं की नामावली भी गिनाई है। स्थल, काल तथा घटनाओं का इतना सूक्ष्म वर्णन उस व्यक्ति के लिये कैसे संभव है जिसने अपने जीवन का अधिकांश काल मुगल दरबार में बिताया हो। इसके अतिरिक्त दोनों की वर्णनशैली में महान् अंतर दृष्टिगोचर होता है। जहाँ शिवभारत के रचयिता परमानंद में स्थान स्थान पर ऐतिहासिक घटनाओं का सूक्ष्म वर्णन पाया जाता है वहाँ कवींद्राचार्य के ग्रंथों में इस प्रवृत्ति का अभाव दिखाई देता है। जहाँ परमानंद की शैली आत्मनिष्ठ (विषयीगत) है वहाँ कवींद्राचार्य सरस्वती की शैली वस्तुनिष्ठ (विषयगत) है। कवींद्राचार्य का ध्रुपद के प्रति विशेष आकर्षण था। परमानंद के संबंध में यह बात नहीं पाई जाती। दोनों के काव्य-विषयों तथा नामकरण की पद्धति में भी भिन्नता है। जहाँ परमानंद के विषय ऐतिहासिक हैं वहाँ कवींद्राचार्य सरस्वती के विषय ऐतिहासिक,

---

१३. कवींद्रकल्पलता, हस्तलिखित प्रति, भांडारकर रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना,

१४. जगद्विजय छंदः ले० कवींद्राचार्य, सं० डा० सी० कुंहन्न राजा, अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय (१९४५ ई०)

१५. शिवभारत—सं०—स० म० दिवेकर (शके १८४९) पृष्ठ १२.

पौराणिक, दार्शनिक पाए जाते हैं। परमानंद ने अपने ग्रंथों के नाम शिवभारत, अंशावतरण रखे हैं तो कवींद्राचार्य सरस्वती ने अपने ग्रंथों के नाम कवींद्रकल्पलता, कवींद्रकल्पद्रुम, जगद्विजयछंदः, योगवाशिष्ठसार आदि रखे हैं। कवींद्राचार्य सरस्वती का कविताकाल सन् १६२२ से १६६० तक ठहरता है और शिवभारत के रचयिता परमानंद का कविताकाल सन् १६६४ के पश्चात् ठहरता है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि सर्वविद्यानिधान कवींद्राचार्य सरस्वती और कवींद्र परमानंद इन दोनों में "कवींद्र" उपाधि के अतिरिक्त ऐसा कोई साम्य नहीं मिलता जिससे दोनों की अभिन्नता सिद्ध हो सके। अतः यह निश्चित हो जाता है कि कवींद्राचार्य सरस्वती कवींद्र परमानंद नहीं थे अपितु दोनों भिन्न भिन्न व्यक्ति थे।

हिंदी : अँगरेजी

कु० वीणा व्यास

आज हिंदी और अँगरेजी को लेकर जटिल विवाद छिड़ा हुआ है। प्रश्न है कि जनवरी १९६५ के बाद राजकार्य की भाषा हिंदी स्वीकृत की जाए, या उसे उसके बाद भी अँग्रेजी की उँगली पकड़कर चलनेवाली बालिका के सदृश रखा जाए। आज के इस विवाद को देखकर, वर्षों पूर्व हुए उस संघर्ष का स्मरण हो आता है जो इसी प्रकार संस्कृत और अरबी की शिक्षा तथा अंग्रेजी शिक्षा के प्रश्न को लेकर हुआ था। उस समय अंग्रेजी शासकवर्ग की भाषा होने के कारण विजयिनी रही। किंतु आज की परिस्थिति नितांत भिन्न है। आज भारत स्वतंत्र तथा गणतंत्रीय भावनाओं से युक्त, पूर्णतः राजनीतिक स्वतंत्रताप्राप्त है। तब भाषा संबंधी परतंत्रता क्यों? अंग्रेजी का त्याग करने के लिये हम इच्छुक क्यों नहीं? क्या अंग्रेजी का अभाव हमें कार्यरत न होने देगा, या हिंदी का आगमन एक वर्गविशेष का प्राधान्य स्थापित करेगा? अनेक प्रश्न आते हैं किंतु वास्तविकता क्या है? सत्य ही अंग्रेजी ने अपनी जड़ इस दृढ़ता से जमा दी है कि हम उसे उखाड़ने में असमर्थ हैं। वह घुन की तरह भीतर ही भीतर हमारी एकता को खोखला करने में लगी है। अंग्रेज जाने के साथ साथ भारत का विभाजन तो कर ही गए, साथ ही छोड़ गए एक ऐसा चिह्न जो भारत भिन्न भाषाभाषियों के विभक्तीकरण हेतु प्रयासशील है। जिसके पीछे उत्तर, पश्चिम, पूर्व एवं दक्षिण का विभाजन छिपा है। स्वतंत्र भारत की इस भाषा संबंधी पराधीनता को देख, लार्ड मैकाले के शब्दों का स्मरण हो आता है जो उन्होंने १८३५ में कहे थे कि 'अंग्रेजी भाषा की शिक्षा द्वारा हम एक ऐसे वर्ग का संगठन कर लेंगे जो केवल शरीर से भारतीय होगा भाषा, विचार, कार्य एवं हर प्रकार से अंग्रेज तथा अंग्रेजों का समर्थक।' ऐसा प्रतीत होता है कि मैकाले की वाणी एवं स्वप्न वास्तव में सत्य रूप हो उठा है। क्या सत्य ही अँग्रेजों की शैक्षणिक नीति, अपने छिपे लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हुई? यदि नहीं, तो भारत में अंग्रेजी की इतनी महत्ता क्यों? वर्तमान समय का छोटे से छोटा राज्य भी अपनी भाषा में कार्यरत है, तब भारत भी हिंदी को क्यों नहीं अपनाता? हमारी इस मानसिक दासता का कारण अंग्रेजों का दीर्घकालीन शासन नहीं है। यदि ऐसा होता तो भारत में अरबी फारसी की भी

उतनी ही प्रधानता होनी थी, अँग्रेजी शिक्षा का विरोध संस्कृत या हिंदी से न होकर अरबी एवं फारसी से होना था। इसके पीछे अँग्रेजों की नीतिज्ञता है, जिसके द्वारा उन्होंने हमारे भीतर अपने साहित्य, संस्कृति एवं सभ्यता की भावना भर, हमें अपनी ओर से पूर्ण अनभिज्ञ तथा उदासीन बना दिया।

भारत में अंग्रेजों के आगमन के साथ ही आधुनिक युग का प्रारंभ माना गया। वर्षों तक मुगलों की पराधीनता के कारण हमारी शिक्षा पिछड़ गई थी, समाज में अंधविश्वासों एवं कुरीतियों का प्राधान्य हो गया था एवं हर क्षेत्र में स्थिरता ने प्रवेश पा लिया था। अंग्रेजों ने अपने शासन का प्रारंभ दो प्रकार से किया। प्रथमतः हमारी दुर्बलताओं से लाभ उठा राज्य हस्तगत किया द्वितीय सुधारों की नीति अपना कर, शिक्षा के माध्यम से नवविचारों का प्रसार एवं जागरण की नीति अपनाई, शासनयंत्र के संचालन में एवं स्थायित्व में भारतीयों की सहानुभूति एवं सहायता प्राप्त की। इस प्रकार वे अकबर के समान केवल शारीरिक नहीं वरन् मानसिक रूप से भी, भारतीयों को परतंत्र बनाने के लिये प्रयत्नशील हुए।

भारत में शिक्षा संबंधी अंग्रेजी कार्य सर्वप्रथम ईसाई धर्मप्रचारकों ने करना प्रारंभ किया था। १७१५, १७२७ आदि में कई मिशन भारत में आए एवं प्रमुखतः दक्षिण भारत में अपने स्कूलों की स्थापना की। उसके बाद लंदन मिशनरी सोसायटी के प्रयास प्रारंभ हुए। दक्षिण भारत एवं कलकत्ता के निकट श्रीरामपुर आदि में विद्यालय खोले गए, जिनमें निःशुल्क शिक्षा दी जाती थी। अंग्रेजी एवं बाइबिल का पढ़ना अनिवार्य था। धार्मिक उपदेश एवं शिक्षा इनके कार्यों का अत्यंत महत्वपूर्ण अंग थी जिसके माध्यम से ये लोग अंग्रेजियत के भाव भरने के साथ ही धर्मपरिवर्तन की शांतिपूर्ण नीति भी अपनाते एवं कार्यान्वित करते थे। इस प्रकार प्रारंभिक मिशनरी प्रयासों के फलस्वरूप दक्षिण भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार सर्वप्रथम प्रारंभ हुआ। ये सारे प्रयास गैर सरकारी थे। सर्वप्रथम वारेन हेस्टिंग्ज ने कलकत्ते में एक मदरसा और बनारस में संस्कृत विद्यालय खोला जिसमें भारतीय तथा मुस्लिम संस्कृति, धर्म, कानून आदि की शिक्षा दी जाती थी। इस प्रकार प्रारंभिक सरकारी प्रयास भारतीय शिक्षा को प्रोत्साहन देने के थे। ये लोग भारतीय ज्ञान विज्ञान को बढ़ाने के इच्छुक थे। किंतु लंबे समय तक इस दिशा में कोई निश्चित कदम नहीं उठाया गया।

१८१३ में ब्रिटिश पार्लमेंट ने एक लाख रुपए की सहायता शैक्षणिक कार्यों के लिये प्रदान की किंतु कुछ समय तक इस धन का उपयोग नहीं किया गया। इसी ने विरोधी विचारों को जन्म देकर विवादपूर्ण स्थिति का प्रारंभ किया। शिक्षा के क्षेत्र में दो विरोधी दलों का निर्माण हुआ। एक दल भारतीय विषयों की शिक्षा में ही उक्त धनराशि का उपयोग करने का इच्छुक था जबकि दूसरा पाश्चात्य विचारों के प्रसार एवं भारतीयों को अँग्रेजी शिक्षा देने का इच्छुक था। इनका मत था कि ब्रिटिश सरकार का मंतव्य भारत में ऐसी शिक्षा का प्रसार है जिससे उनका मानसिक विकास तथा उत्थान हो सके। वे लोग केवल अँग्रेजी शिक्षा को ही इसके उपयुक्त समझते थे। इस विचार के प्रतिपादकों में प्रथम स्थान लार्ड मेकाले का था जिन्होंने अपने तर्कों द्वारा पार्लमेंट एवं वाइसराय को नीतिपरिवर्तन के लिये तत्पर कर लिया।

मेकाले के विचार से संस्कृत शिक्षा प्रदान करके सरकार भारतीयों का उत्थान न कर सकेगी। उच्चतम एवं अच्छी शिक्षा के लिये अनिवार्य है कि उन्हें पाश्चात्य विचारों से परिचित कराया जाय। सरकार केवल संस्कृत एवं अरबी शिक्षा की ही इच्छुक नहीं वरन् वह बौद्धिक विकास के लिये विज्ञान एवं अन्य विषयों की भी शिक्षा की इच्छुक है। मेकाले इसके लिये अँग्रेजी को ही उपयुक्त समझते थे क्योंकि उनके विचार से भारतीय भाषाएँ इतनी समृद्ध नहीं थीं कि उनका उपयोग उच्चतम शिक्षा में किया जा सके। अँग्रेजी शासक वर्ग में प्रयुक्त होनेवाली नौकरियों के लिये अनिवार्य भाषा थी जिसका साहित्य समृद्ध था तथा भारतीय जिसे सीखने के लिये उत्सुक

थे। मेकाले का कथन था कि जहाँ संस्कृत शिक्षा के लिये सरकार को छात्रवृत्तियाँ देनी पड़ती हैं जब कि अँग्रेजी पढ़नेवाले छात्र स्वयं ही शिक्षकों को धन देने के लिये प्रस्तुत हैं। अतः अँग्रेजी शिक्षा प्रसार में ही सरकार को लाभ की प्राप्ति अधिक होगी। इसी प्रकार ट्रेवेलियन का भी कथन था कि भारतीयों को अँग्रेजी शिक्षा देकर इस योग्य बनाना चाहिए कि वे प्रशासन एवं राजनीति में भाग ले सकें। ऐसी ही स्थिति में भारतीय समाजसुधारकों ने भी इस ओर रुचि दिखाई। १८२३ में राजा राममोहन राय ने लार्ड एम्हर्स्ट को पत्र लिखा जिसमें संस्कृत तथा भारतीय ज्ञान की शिक्षा को अनुपयोगी ठहराते हुए अँग्रेजी शिक्षा की माँग की। उनका कथन था कि संस्कृत भारतीयों की अपनी भाषा है जिसका उन्हें थोड़ा बहुत ज्ञान होता ही है। अतः जीवन के बहुमूल्य वर्षों को संस्कृत व्याकरण आदि के अध्ययन में नष्ट करने से कुछ भी लाभ नहीं। इससे नवीन विचारों के साथ संपर्क की स्थापना नहीं हो पाती। इस कारण सरकार को अँग्रेजी ज्ञान विज्ञान तथा भाषा की शिक्षा एवं प्रसार करना चाहिए जिससे भारतीय लाभान्वित हो सकें। ऐसी ही विवादपूर्ण स्थिति में कुछ संस्कृत शिक्षाप्राप्त विद्यार्थियों ने अपनी स्थिति से असंतुष्ट हो एक आवेदनपत्र तत्कालीन वाइसराय के संमुख प्रस्तुत किया। इसमें असंमानित जीवन की ओर संकेत करते हुए यह स्पष्ट किया गया कि संस्कृत की उपाधियाँ आदि प्राप्त करने के पश्चात् भी उन्हें संमानित जीवन एवं जीविका के साधन उपलब्ध न थे। उन्होंने सरकार से संमानपूर्ण साधनों की माँग की एवं संस्कृत अध्ययन द्वारा उपस्थित होनेवाली बाधाओं को हटाने के लिये आवेदन किया। इसी समय विदेशों से शिक्षा प्राप्त करके आए भारतीय युवकों ने नवविचारों को फैलाने एवं भारत के लिये अँग्रेजी की अनिवार्यता का अनुभव किया। इन सब का प्रभाव समुचित पड़ा एवं यह प्रतिपादित किया गया कि भारतीय भी अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक हैं। अतः सरकार की नीति में परिवर्तन हुए।

आरंभ में अंग्रेजी एक विषय के रूप में पढ़ाई जाती थी। १८३५ से उसका उपयोग माध्यम के रूप में भी किए जाने का निश्चय किया गया। इस कार्य के लिये सर्वप्रथम संस्कृत शिक्षाकेंद्रों को अनुपयोगी समझते हुए उन्हें बंद करने की घोषणा की गई एवं छात्रवृत्तियाँ देनी बंद कर दी गई। इसका प्रतिकूल परिणाम हुआ। जनता में विरोधी भावनाएँ बढ़ने लगीं जिसने सरकार को संस्कृत विद्यालयों की अनिवार्यता समझाई। अतः लार्ड आकलैंड ने पुनः संस्कृत शिक्षा को अनिवार्य समझकर विद्यालयों का प्रारंभ किया। ब्राह्मणों एवं अध्ययनकर्ताओं को छात्रवृत्तियाँ भी प्रदान की जाने लगीं। पूना में एक संस्कृत विद्यालय खोला गया। इसमें मराठों द्वारा दिया गया दक्षिणा फंड का धन प्रयुक्त किया जाने लगा। ज्योतिष, गणित, फलित नक्षत्रविद्या आदि की शिक्षा दी जाने लगी, परंतु विद्यालयों की अवस्थाओं में परिवर्तन कर दिया गया। इनमें अंग्रेज निरीक्षकों की नियुक्तियाँ की गईं जिनके संरक्षण में विद्यालयों ने बढ़ना प्रारंभ किया, जैसे पूना संस्कृत विद्यालय में श्री कैंडी की नियुक्ति हुई। ब्रिटिश सरकार भारतीय विरोध, विशेषतः धर्मवर्ग का, नहीं चाहती थी क्योंकि वे भारतीय भावनाओं से संबद्ध थे तथा उन्हें प्रभावित करते थे। अतः नीति में आकस्मिक परिवर्तन के स्थान पर क्रमशः परिवर्तन किया गया और इन स्थानों में भी अंग्रेजी का एक विषय के रूप में प्रवेश हुआ।

अंग्रेजी शिक्षा एवं उसके प्रसार के प्रश्न पर उन साधनों की समस्या आई जिनके द्वारा योजना कार्यान्वित की जाय। कार्यान्वय के प्रश्न का निराकरण अति सुंदर ढंग से किया गया एवं अनुवाद कार्य प्रारंभ हुए। सर्वप्रथम शिक्षकों को शिक्षा देने की नीति अपनाई गई। सर्वसाधारण के शिक्षार्थ अधिकतम संस्थाओं एवं शिक्षकों की आवश्यकता थी। अनुवाद कार्य के लिये भी ऐसे लोगों की आवश्यकता थी जो अँग्रेजी के साथ साथ भिन्न प्रांतीय भाषाओं के ज्ञाता हों। सर्वप्रथम प्रमुख ग्रंथों का अनुवाद मुख्य भाषा में करके जिज्ञासा उत्पन्न की गई तत्पश्चात् शिक्षित करने का कार्य प्रारंभ हुआ। जो शिक्षक पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर

लेते, सरकार उन्हें अनुवादक के रूप में नियुक्त करने लगी जिससे भिन्न प्रांतीय भाषाओं में अनुवाद होने प्रारंभ हुए। केवल पाश्चात्य ग्रंथ ही नहीं, भारतीय संस्कृत ग्रंथों को भी अनूदित किया गया। धर्मग्रंथों में वर्णित न्याय, दर्शन राजनीति आदि के विचार पृथक् पृथक् संग्रहीत किए गए। ये सारी रचनाएँ अँग्रेजी में होती थीं। इस प्रकार शिक्षकों को शिक्षित करके, भारतीय भाषाओं के माध्यम से अंग्रेजी के प्रसार की नीति अपनाई गई। अंग्रेजी शिक्षा को बढ़ाने के लिये प्रोत्साहन दिया गया, संस्कृत तथा अंग्रेजी का ज्ञान अनिवार्य किया गया। संस्कृत भारत में प्रयुक्त होनेवाली भाषा थी—एवं इसी से विभिन्न प्रांतीय भाषाओं का जन्म तथा विकास हुआ था। अतः संस्कृत का ज्ञान प्रांतीय भाषाओं के ज्ञान के लिये आवश्यक था। इसके साथ ही प्रांतीय भाषाओं के ज्ञान की भी अनिवार्यता रखी गई। जो एक अतिरिक्त प्रांतीय भाषा का ज्ञाता होता उसके पद एवं वेतन में वृद्धि की जाती। दक्षिणी भाषाओं के ज्ञाता का पद ऊँचा माना जाता। इस प्रकार भिन्न भिन्न भागों में प्रयुक्त होनेवाली प्रांतीय भाषाओं के माध्यम से सर्वसाधारण में पाश्चात्य विचार एवं अंग्रेजी ज्ञान की जिज्ञासा जाग्रत कर उसकी ओर आकृष्ट किया। फलतः अंग्रेजी शिक्षामाध्यम एवं विषय दोनों रूपों में सुदृढ़ रूप से स्थापित हो गई। उसकी जड़ें इतनी गहरी चली गईं कि आज भी उसके उन्मूलन में कठिनता होने लगी।

अंग्रेजी की स्थापना कर अंग्रेजों ने अपनी नीति को तो सफलता प्रदान की एवं भारतीयों में जागरण के बीज भी डाले किंतु यह जागरण मानसिक दासता का प्रारंभ था। हम नवविचारों के संपर्क में आकर भी अपनी भाषा की महत्ता को न पहचान सके। राजा राममोहन राय द्वारा प्रारंभ किए गए ब्रह्मसमाज ने जहाँ भारतीयों में नवजागरण फैलाया, भारतीय संस्कारों को रखते हुए भी विधवा-विवाह आदि की प्रथाएँ चलाईं, उपेक्षित एवं उन लोगों के लिये धर्म का मार्ग खोला जिन्होंने भारतीय जटिलताओं से ग्रस्त होकर ईसाई मत अपना लिया था किंतु जो पुनः भारतीय धर्म में आना चाहते थे; इस प्रकार शुद्धि आंदोलन चलाकर भारतीयता की सुरक्षा की; वहीं केशवचंद्र सेन एवं अन्य ब्रह्मसमाजी नेताओं के हाथों में जाकर वह समाज ईसाइयत से प्रभावित होने लगा। उन लोगों ने ईसाई रीति रिवाजों को अपनाना प्रारंभ कर दिया तथा पृथक् रूप से 'प्रार्थना समाज' का प्रारंभ किया। इन समस्त परिवर्तित कार्यों के फलस्वरूप भारतीय युवकवर्ग में हीनता की भावनाएँ फैलने लगीं, वे अपनी संस्कृति, धर्म एवं सभ्यता को उपेक्षा तथा निम्न भावों से देखने लगे। इन हीन भावों की समाप्ति एवं उन्मूलन के लिये भारतीय संस्कृति के परिपोषकों एवं उपासकों ने कार्य किए। दयानंद सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानंद जैसे मनीषियों ने भारतीयता की उच्चता की स्थापना की, 'वेदों की ओर' का नारा लगाया। इनके कार्यों के फलस्वरूप केवल भारत में ही नहीं, विदेशों में भी भारतीयता की स्थापना एवं प्रसार होने लगा। अतः भारतीयता और भाषा को पिछड़ा हुआ मानना भ्रम मात्र था। जो समर्थक अंग्रेजी को ही जागरण एवं नवविचारों के प्रसार, उत्तरदायी भावनाओं के जन्म एवं अंतर्राष्ट्रीय संबंधों तथा विज्ञान के लिये अनिवार्य मानते हैं वे वास्तव में हीनता की भावनाओं से ग्रसित तथा अपनी उच्चता से स्वतः अनभिज्ञ हैं।

भारतीय ग्रंथों का अध्ययन हमें यह स्पष्ट संकेत देता है कि अँग्रेजी की अनुपस्थिति में भी हम सभ्य, सुसंस्कृत, प्रगतिशील एवं उन्नत दशा में थे। भारत का सदा से भिन्न भिन्न देशों से संबंध रहा है। आवागमन के साधनों की अनुपस्थिति एवं भाषा का वैषम्य होने पर भी ७वीं ८वीं शती में भारत ने एक बृहत्तर भारत का निर्माण किया। जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली, बर्मा जापान इंडोचायना, चीन एवं लंका आदि के दूरस्थ प्रदेशों में संस्कृति धर्म एवं सभ्यता का प्रसार कर उपनिवेशों की स्थापाना की। वहाँ की जनता ने भारतीय धर्म, वेशभूषा, नाम, खान पान आदि को अपनाया। जावा के शैलेंद्र शासकों का शासनकाल, जिन्होंने तत्कालीन निकट-

वर्तो समस्त प्रदेशों को विजित किया था, इसका प्रतीक है कि हमारी संस्कृति कितनी विशाल तथा समृद्ध थी। क्या वही सभ्यता अँग्रेजी के अभाव में पिछड़ जाएगी ? यह केवल भ्रम मात्र है। उस स्थिति में तो हम पूर्ण स्वतंत्र जीवनयापन करेंगे।

अँग्रेजी के समर्थकों का कथन प्रायः यह होता है कि उसी के परिचय एवं अध्ययन से हममें उत्तरदायी शासन, व्यक्तिगत एवं सामूहिक उत्तरदायित्व, स्वतंत्रता, समानता, स्वशासन संबंधी भावनाएँ जाग्रत हुई। निश्चय ही अँग्रेजी ने हमें जौन लाक एवं जान स्टुअर्ट मिल की विचारधाराओं से परिचित कराया, किंतु जागरण केवल उक्त शिक्षा का ही परिणाम न था वरन् वह एक अवश्यंभावी घटना थी। भारतीय कई सौ वर्षों से दासता की शृंखलाओं में जकड़े तथा उत्पीड़ित थे, अतः क्रांति का होना स्वाभाविक था। साथ ही गणतंत्रीय भाव, सीमित, उत्तरदायी एवं व्यवस्थित शासन की विचारधाराएँ नवीन न थीं। इनका अस्तित्व भारत में अति प्राचीन काल से था, किंतु विदेशी शासकों ने उसपर आवरण डाल दिया था। लिच्छवि गणराज्य गणतंत्र का उत्तम उदाहरण एवं इसका प्रमाण है कि हम उक्त व्यवस्थाओं से पूर्ण परिचित थे। राजा, राजा के कर्तव्य, जनता के अधिकार आदि के वर्णन यह बताते हैं कि हमारे पास व्यवस्थित एवं उत्तरदायी शासन भी था। निरंकुश अत्याचारी शासक का स्थान भारत में न था, जनता विद्रोह कर उसे पदच्युत करने एवं मनोनुकूल नवीन शासक को निर्वाचित करने की अधिकारिणी थी। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में इसपर प्रकाश डाला है :

प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्,
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।

अर्थात् प्रजा का सुख ही राजा का सुख है, राजा का व्यक्तिगत सुख प्रजा से पृथक् नहीं। उसके समस्त कार्य प्रजा के सुख एवं कल्याण-भावनाओं से प्रेरित होने चाहिए।

'तस्मादरिषड् वर्ग त्यागेनेन्द्रिय जयं कुर्वीत' वृद्धसंयोगेन प्रज्ञां चारेण चक्षुरुत्थानेन योगक्षेमसाधनं कार्यानुशासनेन्।

स्वधर्मस्थापनं विनयं विद्योपदेशेन लोकप्रियत्वमर्थ संयोगेन हितेन वृत्तिम्।" अर्थात्—राजा को अपनी समस्त इंद्रियों पर विजय प्राप्त कर जनता के योगक्षेम के हेतु, गुप्तचरों के चक्षुओं के द्वारा धर्मानुसार आचरण करना चाहिए। जनता को कार्यों एवं स्वधर्मपालन में लगाकर, प्रजाप्रिय एवं हितकारी कार्यों में रत रहना चाहिए।

इतना ही नहीं, राजा की निरंकुशता पर भी प्रतिबंध थे एवं मंत्रिपरिषद् की व्यवस्था की गई थी। मंत्रियों की सहायता एवं मंत्रणानुसार कार्य के आदेश थे। उसकी महत्ता बताते हुए कहा गया :

मंत्रिणां मंत्र मूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विर्धवते।
(शांति पर्व, महाभारत)

अर्थात् मंत्रियों की सन्मंत्रणा में ही राज्य का मूल एवं उत्थान निहित है।

इसी प्रकार हमें राजा के निर्वाचन के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। यह निर्वाचन प्रणाली बहुत समय तक प्रचलित रही। रुद्रदामन् का जूनागढ़ लेख एवं पाल शासकों के लेख इसपर प्रकाश डालते हैं। महाभारत एवं वेदों में भी निर्वाचन का वर्णन प्राप्त होता है—

'त ईं विशो न न राजानां वृणान
बीभत्सवो अप वृत्रादतिष्ठान्
(ऋग्वेद)

इन विचारों के अलावा जहाँ तक ज्ञान विज्ञान का प्रश्न है, उसमें भी हमें पूर्ण समृद्धि प्राप्त थी। रवि, शशि, अग्नि, वायु आदि पर नियंत्रण के उल्लेख यह स्पष्ट करते हैं। रामायण एवं महाभारत में आए वर्णन इसके प्रतीक हैं। रावण द्वारा विभिन्न ग्रहों पर विजय वैज्ञानिक उच्चता का प्रमाण है। पुष्पक विमान एवं वायुवेग से आने जाने के वर्णन यह सिद्ध करते हैं कि हम एरोप्लेन सदृश साधनों से भी परिचित थे। अग्नियुक्त तीरों का वर्णन यह स्पष्ट करता है कि हमें अणुशक्ति का भी ज्ञान था। इस क्षेत्र में विभिन्न वैज्ञानिकों को भारत ने जन्म दिया जिन्होंने रसायन शास्त्र, पदार्थ विज्ञान, लौहशास्त्र, जीवविज्ञान, अणु आदि से संबंधित सिद्धांतों एवं विज्ञान का विकास किया।

चरक, नागार्जुन, सुश्रुत, वराहमिहिर, पतंजलि वाचस्पति, भास्कर, उदयन, गंगाधर, जयंत आदि वैज्ञानिकों के कार्यों से विज्ञान का विकास हुआ। न्याय वैशेषिक, चरकसंहिता, बृहत्संहिता, व्यासभाष्य, रसरत्नाकर (नागार्जुन) रसहृदय (भगवद्गोविंद) काकचंडेश्वरीमत, सोमदेवरचित रसेंद्रचूड़ामणि, यशोधररचित रसप्रकाश सुधाकर, मदनांतदेव सूरि का रसकल्प, रसचिंतामणि, रुद्रयाम का धातुक्रिया, धातुमंजरी आदि अनेकों ऐसी रचनाएँ हैं जो वैज्ञानिक उपकरणों की व्याख्या एवं बृहत् विस्तृत विवेचना और साधन प्रस्तुत करती हैं। इन्हीं से हमें प्रकृति के तीन तत्व सत्व, रजस्, एवं तमस् का ज्ञान होता है। इस संबंध में कहा गया है कि इन भिन्न तत्वों के मिलन, पृथक्करण एवं भिन्न भिन्न मात्रा में मिलने से ही पृथक् पृथक् वस्तुएँ निर्मित होती हैं। व्यासभाष्य उसका विस्तृत उल्लेख करता है। पंचमहाभूतों का वर्णन, शरीर की रचना, कार्यक्षमता, रक्तसंचार, स्नायु की क्रियाएँ आदि के उल्लेख भी हमें नागार्जुन, सुश्रुत, चरक एवं वराहमिहिर से प्राप्त होते हैं। चिकित्सा संबंधी वर्णन यह बताते हैं कि उक्त समय में भी भारत पोस्टमार्टम, आपरेशन, सर्जरी आदि से पूर्ण परिचित था। इतना ही नहीं, ये यौन क्रियाओं उसके परिणामों का भी विस्तृत विवेचन देते हैं। गर्भस्थ शिशु, उसका विकास एवं लिंग बताने में भी ये समर्थ थे:

'द्वितीये मासि घनः,
सम्पद्यते पिण्डः पेश्यर्बुदवा
तत्र घनः पिण्डः पुरुषः
स्त्री पेशी अर्बुदं नपुंसकम्

चक्रपाणि ने लिखा है:

घनः कठिनः। पिंडो ग्रंथ्याकारः पेशी दीर्घमासपेश्याकारा अर्बुदं वर्तुलोन्नतम्।

अणु, अणु के प्रकार, मिश्रण आदि के संबंध में न्याय, वैशेषिक, जैन, बौद्ध ग्रंथ, वेदांत पर्याप्त विवेचना तथा विस्तार देते हैं। वर्तमान कालीन खान एवं धातुशास्त्र (माइनिंग ऐंड मेटलर्जी) भी उक्त काल में पर्याप्त विकसित था। पतंजलि, नागार्जुन तथा वराहमिहिर बड़े लौहशास्त्रज्ञ एवं यंत्रज्ञ थे। धातु, धातुप्रकार, रासायनिक मिश्रण, उन मिश्रणों का धातुओं पर प्रभाव आदि की विवेचना भी की गई। लौहशास्त्रज्ञ पतंजलि ने संभवतः इसी समय तक एक ऐसे मिश्रण का निर्माण कर लिया था जिसे 'विद' कहा गया। इसमें अम्लराज (आक्वा रेजिया) तथा अन्य अम्लों का मिश्रण था। इस काल तक लवण, मिश्र धातु, सरस पारद मिश्रण (एमालगम) आदि के प्रयोग, मूल्यांकन एवं निष्कर्षण आदि भी निकाले गए। नागार्जुन ने इन रासायनिक मिश्रणों के क्षेत्र को और भी विकसित किया।

बृहत्संहिता से हमें वज्रलेपों एवं भिन्न २ प्रकार के सीमेंट निर्माण के वर्णन मिलते हैं।

प्रासाद हर्म्यवलभी लिंग प्रतिमासु कुड्य कूपेषु
संतप्तो दातव्यो वर्ष सहस्रायुत स्थायी।
—बृहत्संहिता।

प्राचीन काल के भवनों का स्थायित्व, उनका सौंदर्य, उनपर किए गए आक्षेप इसके प्रमाण हैं। इस प्रकार प्राचीन काल में भी उन्नत विज्ञान था। रसायन, जीव, पदार्थ, खनिज आदि सभी में पूर्ण विकसित विवेचन हमें प्राप्त होते हैं। अतः हम विज्ञान से युक्त थे। लंबी पराधीनता एवं हमारी उदासीनता ने उसे विस्मृति के गर्भ में डाल दिया था। अतः यह कहना कि विज्ञान के उच्चतम अध्ययन के लिये केवल अंग्रेजी ही उपयुक्त है, उचित नहीं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अंग्रेजी की अनुपस्थिति में भी भारत ज्ञान विज्ञान से युक्त प्रगतिशील देश था। अंत में, हिंदी के आगमन से एक सीमित वर्ग का प्राधान्य कभी भी स्थापित न होगा। जब एक विदेशी भाषा संपूर्ण भारत की भाषा बन सकती है तो हमारी अपनी हिंदी क्यों नहीं? हिंदी के विकासक्रम को देखने से यह विदित होता है कि सर्वप्रथम मध्यदेश या अंतर्वेद में बसे आर्यों की भाषा संस्कृत से ही शौरसेनी प्राकृत एवं शौरसेनी अपभ्रंश का विकास हुआ एवं उन्हें प्रमाणिकता दी गई। शौरसेनी अपभ्रंश से ही पश्चिमी हिंदी, पंजाबी, गुजराती, राजस्थानी, भीली, खानदेशी, पहाड़ी आदि बोलियाँ निकलीं। इन्हीं में से पश्चिमी हिंदी ने जिन पाँच प्रमुख बोलियों को जन्म दिया, उनमें खड़ी

बोली, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुंदेली एवं बाँगड़ू आती हैं। खड़ी बोली आज प्रयुक्त होनेवाली भाषा है। इसी से हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी, का विकास हुआ। इस प्रकार यही हिंदी बोलचाल एवं काम में आनेवाली भाषा के रूप में स्थापित हुई। यह उसी अंतर्वेद की भाषा से विकसित हुई है एवं परंपरागत संस्कृत की संपदा, महत्ता पैतृक संपत्ति के रूप में इसने प्राप्त की है। अतः इसे निश्चय ही पैतृक स्थान तथा पद की भी प्राप्ति होनी चाहिए।

श्री गोर्डन का यदि यह तर्क भी स्वीकार करने योग्य होता तो हस्तिनापुर के निर्धारित समय में परिवर्तन अनिवार्य हो जाता। जहाँ तक मथुरा के राजाओं की मुद्रा का प्रश्न है, यदि उनमें शेषदत्त का स्थान निश्चत नहीं किया जा सकता तो यह कैसे स्वीकृत किया जाय कि उसकी मुद्रा ५० ई० पू० के बाद की ही है? यौधेयों की जो मुद्राएँ हस्तिनापुर से प्राप्त हुई हैं उनपर किस प्रकार कुषाणप्रभाव परिलक्षित होता है? मृण्मूर्तियों का समय जिस बारीकी से वे निर्धारित करते हैं क्या वह व्यावहारिक दृष्टि से उचित है? अंतिम बात उन्होंने तीसरे और चौथे कालों के बीच व्यवधान के संबंध में कही है। प्रथम तो, आग लगने का कारण अनिवार्य रूप से किसी का आक्रमण ही हो, यह आवश्यक नहीं है। फिर, तीसरी शताब्दी ई० पू० के आरंभ में चंद्रगुप्त के उपरांत बिंदुसार उसका उत्तराधिकारी हुआ। बिंदुसार का शासनकाल बहुत स्थिर नहीं कहा जा सकता। यदि हस्तिनापुर के क्षेत्र में कुछ अशांति हुई हो तो आश्चर्य की बात नहीं है।

तीसरे काल के निचले स्तरों में प्राप्त अलिखित 'कास्ट' मुद्राओं के संबंध में गोर्डन महोदय का कहना है कि वे २३० ई० पू० से पहले की हो ही नहीं सकतीं। इस विषय में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि हाल के उत्खनन से 'कास्ट' मुद्राओं की प्राचीनता ६ठी शताब्दी अनायास सिद्ध होती है।[२] कौशांबी में तो वह ८वीं शताब्दी तक पहुँच जाती है।[3] इसमें कोई संदेह नहीं कि वे दूसरी - पहली शताब्दी ई० पू० की लिखित मुद्राओं की पूर्वजा हैं। अतः इनका आरंभ ६ ठीं – ५ वीं शताब्दी ई० पू० मानना ही तर्कसंग्रत है।

सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि तक्षशिला में गोर्डन ने एन० बी० पी० भांड का समय ४०० से २०० ई० पू० माना है।[४] परंतु हस्तिनापुर में, जो इस

१. लिपि के आधार पर ऐलेन ने दूसरी शताब्दी का अंत और पहली शताब्दी ईन मुद्राओं के लिये निर्धारित की है — ऐलेन : 'कैटेलाग आव दि कॉएंस आव ऐंशेंट इंडिया, पृ० ११८ — ११६

२. एस० सी० रे : 'स्ट्रेटिग्राफिक एविडेंस आफ कोयंस इन एंशेंट इंडियन एक्सकेवेशंस ऐंड ऐलाइड स्यूज़,' पृ० २४ – २६

३. जी० आर० शर्मा, दि ऐक्स्केवेशंस ऐट कौशांबी, १९४७–१९५८, पृ० २२

४. गार्डन, पृ० १६६

भांड के केंद्र के निकट है, उनके अनुसार इसका समय ३५० ई० पू० से आरंभ होता है।[1] ऐसी असंगत बात तर्क का आधार लेकर नहीं कही जा सकती।

इस भांड का समय निर्धारित करने में सहायक दूसरा स्थल कौशांबी है। यहाँ के सांस्कृतिक क्रम का विभाजन चार कालों में किया गया है।[2] इस विभाजन के आधार मुख्य रूप से मृद्भांड ही हैं। तीसरा काल एन० बी० पी० भांड का है। के-एस ३, सी १ (K Siii, C I) में अक्षत भूमि के ऊपर के तीन स्तरों (२७ से २५) से ग्रे भांड के ठीकरे प्राप्त हुए हैं। इन स्तरों के ऊपर ६–७ फुट का अवशेष शून्य निक्षेप है। इसके ऊपर प्रथम स्तर से ही (१६ वें) एन० बी० पी० भांड आरंभ हो जाता है और ८ वें तक चलता है। एन० बी० पी० भांडवाले समस्त स्तरों की मोटाई लगभग ८ फुट है, जिसमें कुल आठ निवासकाल पाए गए हैं। सातवें स्तर से ऊपर कौशांबी के मित्र राजाओं की मुद्राएँ प्राप्त होती हैं। इन मुद्राओं का समय दूसरी शताब्दी ई० पू० है। अतः यह कहा जा सकता है कि एन० बी० पी० भांड का अंत दूसरी शताब्दी ई० पू० के आरंभ के साथ हो गया। आठ फुट के निक्षेप में बराबर एन० बी० पी० भांड की उपस्थिति के कारण उसका आरंभ छठी शताब्दी ई० पू० में मानना उचित ही है। कौशांबी के घोषिताराम के सबसे नीचे के स्तरों में एन० बी० पी० भांड के ठीकरे प्राप्त होते हैं। इस विहार का इतिहास छठी शताब्दी ई० पू० से आरंभ होता है। अतः इस भांड का समय भी वही मानना चाहिए।[3]

वाराणसी के पास राजघाट में १ बी (I B) और १ सी (I C) कालों से एन० बी० पी० भांड के ठीकरे प्राप्त हुए हैं। १ ए (I A) में 'ओकर रेड' 'ब्लैक - ऐंड - रेड' ब्लैक स्लिप्ड', लाल तथा ग्रे भांड प्राप्त होते हैं। इनके आधार पर १ ए (IA) का समय लगभग ८०० से ६०० ई० पू० माना गया है। १सी (I C) में एन० बी० पी० भांड, ग्रे तथा 'ब्लैक स्लिप्ड' भांडों का स्तर गिर जाता है। 'कास्ट' मुद्रा के साथ मिट्टी की गेंद और मनकों के अलावा दो 'रिंगवेल' भी इसी काल के हैं। इन उपकालों का निश्चित समय निर्धारित करने के लिये इनकी सामग्री अपर्याप्त है। परंतु दूसरे काल का समय अधिक निश्चय के साथ स्थिर किया जा सकता है। दूसरे काल की मुहरों (सीलिंग्स) की लिपि २–१

१. गोर्डन, पृ० १६८

२. जी० आर० शर्मा : दि ऐक्स्केवेशंस ऐट कौशांबी (इलाहाबाद, १९६०) पृ० १८

३. इंडियन आर्कैयोलॉजी, १९५५–५६, पृ० २०

शताब्दी ई० पू० की है। शुंग - मृण्मूर्तियाँ भी इस काल के स्तरों से मिली हैं। अतः इसका आरंभ दूसरी शताब्दी ई० पू० के आसपास मानना उचित ही है। इस प्रकार प्रथम काल का अंत दूसरी शताब्दी ई० पू० के लगभग सिद्ध हो जाता है। १ बी (I B) के एन० बी० पी० भांड का उच्च स्तर गिरने में काफी समय लगा होगा। दूसरे, गंगाघाटी में इस भांड का केंद्र होने के कारण यहाँ उसकी अवधि लंबी रही होगी। अतः ६०० ई० पू० के लगभग १ बी (I B) का आरंभ स्वीकार किया जा सकता है।[1] तक्षशिला, कौशांबी और हस्तिनापुर के साक्ष्य से भी इस निर्धारण की पुष्टि होती है।

बिहार प्रांत में जाने से पूर्व श्रावस्ती के उत्खनन से प्राप्त साक्ष्य का यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है।[2] यहाँ प्राचीर का उत्खनन करते हुए तीन काल देखे गए हैं। प्रथम काल (जो प्राचीरनिर्माण से पूर्व का है) की सामग्री में पेंटेड ग्रे भांड के कुछ ठीकरे महत्वपूर्ण हैं, जो इस काल के निचले स्तरों में मिले हैं। इनके साथ ही कुछ काले भांडों के ठीकरे भी प्राप्त हुए हैं जो प्राविधीय दृष्टि से एन० बी० पी० भांड के पूर्वज कहे जा सकते हैं। इनसे ऊपर के स्तरों में एन० बी० पी० के ठीकरे बड़ी संख्या में मिलते हैं।

प्राचीर से लगभग १००० फुट हट कर किए गए उत्खनन में प्रथम काल से संबंधित कोई वस्तु नहीं मिलती है। दूसरे काल के उपकरणों में एन० बी० पी० भांड का अभाव है जो प्राचीर के उत्खनन में भी देखा गया था। द्वितीय 'काल' का समय निर्धारण बलदत्त की एक मिट्टी की मुहर और अयोध्या की मुद्राओं के आधार पर निश्चित रूप से किया जा सकता है। इस मुहर पर बलदत्त का नाम दूसरी - पहली शताब्दी ई० पू० की लिपि में उत्कीर्ण है। इनके ऊपरी स्तरों में मिलने के कारण द्वितीय काल का समय तीसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य से पहली शताब्दी ई० पू० के मध्य तक माना गया है। द्वितीय काल के तीन निर्माण उपकाल पाए गए हैं। अतः इस समयनिर्धारण पर किसी को आपत्ति नहीं हो सकती।

प्रथम काल के संबंध में श्री के० के० सिन्हा का मत है कि उसका आरंभ हस्तिनापुर के पेंटेड से भांडकाल के अंत से अति दूर नहीं होना चाहिए।

१. इंडियन आर्कैयोलॉजी, १९६० – ६१, पृ० ३७
२. वही, १९५८ – ५९, पृ० ४७

अर्थात् यह ई० पू० प्रथम सहस्राब्दी के द्वितीय पाद में होगा[१]। उसका अंत दूसरे काल के आधार पर अधिक निश्चय के साथ स्थिर किया जा सकता है जिसे वे ई० पू० चौथी शताब्दी के अंत में मानते हैं। यदि हस्तिनापुर को थोड़ी देर के लिये भूल भी जाएँ तब भी द्वितीय काल के उपकरण तथा प्रथम काल का पाँच छह फुट मोटा निक्षेप लगभग यही समय निर्दिष्ट करेंगे। द्वितीय काल में एन० बी० पी० भांड का न होना आश्चर्यजनक है। गंगा घाटी के पड़ोस के इस प्रदेश में उसका चलन अधिक समय तक रहा होगा। संभवतः सीमित उत्खनन ही उसके अनुपलब्ध होने का कारण है।

बिहार के अनेक स्थलों से एन० बी० पी० भांड के ठीकरे प्राप्त हुए हैं। यद्यपि स्वतंत्र रूप से इस भांड का समय कहीं भी निर्धारित नहीं किया जा सकता, तथापि वैशाली के उत्खनन का संक्षिप्त विवरण यहाँ उल्लेखनीय है[२]। खरौना पोखरा के उत्तर-पूर्व में एक टीले का उत्खनन करते हुए यह देखा गया है कि वह एक स्तूप का अवशेष है और मूल स्तूप मिट्टी की तहों से बनाया गया था। इन तहों और उनके नीचे, तथा स्तूप की प्रथम आकारवृद्धि के अंतर्गत आनेवाले स्थान में एन० बी० पी० भांड के ठीकरे प्राप्त हुए हैं। प्रथम आकार वृद्धि के लिये पकी ईंटों का प्रयोग किया गया है। इसकी सीमा के बाहर मिले धूरे में चुनार के पत्थर के कुछ पालिश किए हुए टुकड़े पाए गए हैं, अतः अनुमान है कि स्तूप के आकार में यह वृद्धि मौर्यकाल में हुई होगी। इससे यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मूल स्तूप का निर्माण मौर्यकाल से पूर्व हुआ था और उस समय एन० बी० पी० भांड का प्रचलन था। डा० अल्तेकर का सुझाव है कि यह वही स्तूप है जिसे लिच्छवियों ने बुद्ध के अवशेष पर बनाया था और जिसका आगे चलकर अशोक ने विस्तार कराया। यदि यह वही स्तूप है तो एन० बी० पी० का समय छठी - पाँचवीं शताब्दी ई० पू० स्वीकार करना पड़ेगा।

पंजाब के स्थलों में रोपड़ का साक्ष्य सबसे महत्वपूर्ण है। यहाँ तीसरे काल में एन० बी० पी० भांड मिलता है।[3] इस 'काल' का समय इसके स्तर में मिली हाथीदाँत की एक मुहर के, जिसपर मौर्यकालीन ब्राह्मी में लेख उत्कीर्ण है,

१. वही, पृ० ५०

२, वही, १९५७ - ५८, पृ० १०

३. इं० आ० १९५३–५४, पृ० ६

तथा चौथे 'काल' की सामग्री के आधार पर अधिक निश्चय के साथ निर्धारित किया जा सकता है। चौथे काल के स्तरों में इंडो ग्रीक मुद्राओं के साथ तक्षशिला, औदुंबर तथा मथुरा के राजाओं की मुद्राएँ मिली हैं। इन्हीं स्तरों में कुषाण मुद्राएँ भी प्राप्त हुई हैं। इस काल की अंतिम मुद्रा चंद्रगुप्त प्रथम की है। अतः इस काल की सीमा दूसरी शताब्दी ई० पू० से छठी शताब्दी ई० तक निर्धारित करना तर्कसंगत है। इससे पूर्व के तीसरे 'काल' का आरंभ ई० पू० की प्रथम सहस्राब्दी के मध्य में माना गया है।

मध्य प्रदेश के अनेक स्थलों से यह भांड प्राप्त होता है परंतु समय-निर्धारण की दृष्टि से उज्जैन, नागदा, महेश्वर तथा त्रिपुरी के उत्खनन के विवरण महत्वपूर्ण हैं। उज्जैन के दूसरे काल में एन० बी० पी० भांड के ठीकरे अत्यधिक संख्या में मिलते हैं, परंतु उनमें से अधिकांश निम्न कोटि के हैं।[1] इसका कारण उनका स्थानीय उत्पादन जान पड़ता है। एक ठीकरा ताँबे के तार से जुड़ा हुआ भी मिला है। (राजस्थान में बैराट से भी ताँबे के तारों से जुड़ा हुआ कटोरी के आकार का एक पात्र प्राप्त हुआ है।[2] भड़ौंच में भी इसी प्रकार का एक ठीकरा मिला है।[3]) इस 'काल' की अंतिम सीमा हाथीदाँत की दो मुहरों से निर्धारित होती है जिनपर तीसरी - दूसरी शताब्दी ई० पू० की लिपि में लेख उत्कीर्ण हैं।[4] दूसरे काल की दीर्घ अवधि प्रमाणित करने के लिये उसका चौदह फुट का निक्षेप पर्याप्त है।[5] श्री एन० आर० बनर्जी ने इस 'काल' का समय लगभग ५०० ई० पू० से २०० ई० पू० माना है।[6]

मालवा में नागदा के साक्ष्य से इस भांड के लगभग इसी समय में प्रचलित रहने की पुष्टि होती है। यहाँ एन० बी० पी० भांड तीसरे काल के स्तरों से प्राप्त होता है। इस काल के ऊपरी स्तरों से एक ठीकरा तथा एक मिट्टी की गेंद मिली है जिनपर लगभग दूसरी शताब्दी ई० पू० की लिपि में लेख उत्कीर्ण हैं।[7]

१. वही, १९५६–५७, पृ० २४
२. सुब्बाराव : दि पर्सनालिटी आव इंडिया, द्वितीय संस्करण, पृ० ४६
३. इं० आ० १९५९–६०, पृ० १९
४. वही १९५६–५७, पृ० २७
५. वही, पृ० २४
६. वही १९५७–५८, पृ० ३४
७. इं० आ०, १९५५–५६, पृ० १८ तथा १९

मध्य प्रदेश में महेश्वर - नवदाटोली का उत्खनन अत्यंत महत्वपूर्ण समझा जाता है। नवदाटोली में ताम्राश्म युग के स्तरों से ऊपर के स्तरों में एन० बी० पी० भांड प्राप्त होता है। ताम्राश्म युग के १० – ११ फुट मोटे निक्षेप को चार कालों में विभाजित किया गया है।[1] चौथे उपकाल के कुछ भांडों के प्रकार ईरान के सियाल्क नामक स्थान की सिमेटरी बी० के भांडों से साम्य रखते हैं, जिनका समय लगभग १००० से ८०० ई० पू० माना जाता है। इस संपूर्ण 'काल' में तीन बार आग से विनाश होने के चिह्न मिलते हैं। ताम्राश्म युग की ऊपरी सीमा ७०० ई० पू० मानी जा सकती है।[2] अवश्य ही इसके बाद के काल का समय ५०० ई० पू० के अनंतर नहीं हो सकता।

महेश्वर में ताम्राश्म काल के अनंतर २० फुट मोटे निक्षेप में ऐतिहासिक काल के अनेक उपकरणों के साथ एन० बी० पी० भांड मिलता है।[3] अतः यहाँ एन० बी० पी० भांड का समय प्रथम सहस्राब्दी ई० पू० का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। यह स्पष्टतः मालवा के अन्य स्थलों से उपलब्ध साक्ष्य के साथ संगति रखता है।

महाराष्ट्र के स्थलों में बहल, नासिक तथा प्रकाश उल्लेखनीय हैं। बहल के पाँच काल हैं जिनमें एन० बी० पी० भांड तीसरे काल से प्राप्त होता है जिसका समय श्री एम० एन० देशपांडे ने लगभग ३०० ई० पू० से १०० ई० माना है।[4] इस काल के दो चरणों, ए तथा बी० में से एन० बी० पी० भांड प्रथम चरण में ही मिलता है। इससे पूर्व के द्वितीय काल में लोहे के साथ ब्लैक - ऐंड - रेड भांड प्राप्त होता है। नासिक में द्वितीय काल के निचले स्तरों में यह भांड उपलब्ध होता है। इस काल की अन्य सामग्री में लोहा तथा ब्लैक - ऐंड - रेड भांड उल्लेखनीय हैं। इनका समय लगभग ४०० ई० पू० से २०० ई० पू० माना गया है।[5] इससे बाद के स्तरों में प्रथम शताब्दी ई० पू० के मृद्भांड मिलने लगते हैं। प्रकाश में दूसरे काल के ऊपरी स्तरों से एन० बी० पी० भांड के

१. वही, १९५७–५८, पृ० ३०
२. वही, पृ० ३२
३. एच० डी० संकालिया, सुब्बाराव तथा देव : दि एक्स्कैवेशंस ऐट महेश्वर ऐंड नवदाटोली, १९५२–५३
४. इं० आ०, १९५६–५७, पृ० १७
५. संकालिया देव : रिपोर्ट आन दि एक्स्कैवेशंस ऐट नासिक ऐंड जोरवे, पृ० २९

ठीकरे प्राप्त होते हैं।[1] इससे पूर्व के स्तरों में मुख्य रूप से ब्लैक-ऐंड-रेड भांड मिलता है। महाराष्ट्र के इन सभी स्थानों के विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मालवा के समान यहाँ भी ब्लैक-ऐंड-रेड भांड के साथ एन० बी० पी० भांड मिलता है, भले ही वह कहीं कुछ पहले आरंभ हो गया है।

गुजरात में प्रभास पाटन के तीसरे काल में एन० बी० पी० भांड मिलता है।[2] इस काल के एक झाँवें पर दूसरी शताब्दी ई० पू० की लिपि में कुछ अक्षर खुदे हैं। यद्यपि विस्तृत विवरण के अभाव में इस विषय में अधिक कहना संभव नहीं है तथापि दूसरे काल के भांडों पर बाद के हड़प्पा भांडों का प्रभाव स्पष्ट होने से तीसरे काल का समय दूसरी शताब्दी ई० पू० से पहले मानना न्यायसंगत है। पश्चिमी भारत के एन० बी० पी० भांड का उसके आरंभ होने से दो एक शताब्दी बाद मिलना आश्चर्यजनक नहीं है।

इस भांड वर्ग के विस्तार के संबंध में डा० सुब्बाराव ने यह सुझाव दिया है कि यह भांड गंगा घाटी के बाहर बहुत अल्प संख्या में तथा साधारणतः बौद्ध स्थलों से ही प्राप्त होते हैं। तो क्या यह संभव नहीं है कि बौद्ध भिक्षु ही इसके प्रसारक रहे हों?[3] इस प्रसंग में चुल्लवग्ग में क्षुद्रकवस्तु-स्कंधक के अंतर्गत भिक्षुओं के पात्र के संबंध में बुद्ध के आदेशों का उल्लेख बड़ा रोचक है।[4] बुद्ध ने भिक्षुओं को लोहे तथा मिट्टी के पात्रों का उपयोग करने की अनुज्ञा दी है। इस प्रकरण से प्रतीत होता है कि मिट्टी के पात्रों को पानी सहित रखने से उनमें दुर्गंध आ जाती थी। इसी कारण बुद्ध ने आदेश दे रखा था कि उन्हें पानी सहित नहीं छोड़ना चाहिए। उनका यह भी आदेश था कि पात्रों को धूप दिखाकर रखना चाहिए और उन्हें पानी भर कर तपाना नहीं चाहिए। धूप में अधिक देर तक रखने से उनका रंग विकृत हो जाता था; अतः थोड़ी देर तक ही उन्हें धूप में रखने की आज्ञा दी गई थी।

इस प्रकरण से कई बातें प्रकट होती हैं। मिट्टी के पात्रों पर किसी प्रकार का रंग होता था जिसके धूप में अधिक देर तक रहने पर विकृत होने का भय रहता था। पानी भरकर रखने से भी पात्र के रंग में दोष उत्पन्न हो जाता था।

१. इं० आ० १९५४-५५, पृ० १३
२. वही, पृ० १९५६-५७, पृ० १७
३. सुब्बाराव : दि पर्सनालिटी आव इंडिया, पृ० ४६ तथा संकालिया : इंडियन आर्कियॉलोजी टुडे, पृ० ११
४. राहुल सांकृत्यायन : विनय पिटक, पृ० ४२३

बुद्ध के समय पेंटेड ग्रे भांड गंगा यमुना के दोआब में प्रचलित था। काले भांड का भी प्रचार था और उसकी विधि में विकास होकर एन० बी० पी० भांड का निर्माण हो रहा था। उपर्युक्त संदर्भ में एन० बी० पी० भांड की ओर ही संकेत जान पड़ता है। यह भी ध्यातव्य है कि बुद्ध ने लोहे अथवा मिट्टी के ही पात्रों के प्रयोग की अनुमति दी है। एन० बी० पी० भांड का रंग लोहे के रंग के सर्वाधिक निकट है। संभव है, लोहे के पात्र उपलब्ध न होने पर उनसे निकटतम पात्रों का ही प्रयोग उचित समझा गया हो। इसी गुण के कारण संभवतः भिक्षुओं में इस भांड का प्रचार हुआ और उन्हीं के द्वारा वह तक्षशिला, चारसदा, उद्ग्राम तथा अमरावती ऐसे सुदूर स्थानों तक पहुँच सका।[1]

एन० बी० पी० भांड के इस रंग के संबंध में ह्वीलर महोदय के मत का उल्लेख करना आवश्यक है। उनका अनुमान है कि यह भांड रंग में लोहे जैसा दीखने के कारण लोकप्रिय हुआ। विकल्प से, उनका कथन है कि इस भांड की चमक में ईरानियों की रुचि प्रदर्शित होती है।[2] जहाँ तक इस भांड के प्रसार और लोकप्रियता का संबंध है, यह तर्कसंगत प्रतीत होता है कि लोहे से मिलता जुलता होने के कारण ही ऐसा हुआ हो। परंतु चमक के कारण इसका संबंध ईरान से जोड़ना श्री ह्वीलर की उन्मुक्त कल्पना पर ही आधारित है। संभवतः उनका तर्क है कि जिस प्रकार मौर्य अवशेषों पर चमक का कारण ईरानी प्रभाव समझा जाता है उसी प्रकार इन भांडों की चमक भी ईरानी प्रभाव की ओर संकेत करती है। यह ज्ञातव्य है कि इन शब्दों को लिखने से कुछ समय पूर्व ही उन्होंने एन० बी० पी० भांड की निर्माणविधि ढूँढ़ निकालने का श्रेय गंगाघाटी के कुम्हारों को दिया है। और फिर यह तर्क वैसा ही है जैसा कौवा काला होता है, अतः सब काले पक्षी कौवा हैं।

हम ऊपर उज्जैन बैराट तथा भड़ौंच से प्राप्त उन भांडों का उल्लेख कर चुके हैं जो ताँबे के तारों से जोड़े गए हैं। क्या यह कहा जा सकता है कि वे उस क्षेत्र में बाहर से आए थे, इस कारण उन्हें इतना मूल्यवान् समझा गया कि उन्हें जोड़ने का विशेष प्रयत्न किया गया? उज्जैन में यद्यपि एन० बी० पी० भांड के ठीकरे अधिक संख्या में प्राप्त होते हैं तथापि जैसा कहा जा चुका है, वे निम्न कोटि के हैं। संभव है, अच्छे भांड बाहर से आते हों और ताँबे से जोड़ा गया भांड उसी वर्ग का हो।

१. एन० बी० पी० भांड पर जोगिया रंग का उदाहरण उज्जैन तथा कौशांबी से मिलता है। ऐसा भिक्षुओं के कारण ही तो नहीं पाया जाता?

२. ह्वीलर : अर्ली इंडिया एंड पाकिस्तान, पृ० ३०

उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह भांड मौर्यकाल से पूर्व का है। जिस प्रकार पंचमार्क अथवा अलिखित 'कास्ट' मुद्रा का निश्चित समय निर्धारित नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार एन० बी० पी० का समय निश्चित करना भी दुष्कर है। इस संबंध में हम इतना ही कह सकते हैं कि उनका आरंभ ई० पू० प्रथम सहस्राब्दी के मध्य के आसपास रखा जाना चाहिए। इन भांडों की अंतिम सीमा दूसरी पहली शताब्दी ई० पू० रखी जा सकती हैं, यद्यपि कहीं कहीं ये बहुत बाद के स्तरों में भी मिलते हैं। उदाहरण के लिये, शिशुपालगढ़ में २ बी (IIB) काल के सातवें स्तर में इस भांड के तीन ठीकरे प्राप्त हुए हैं। परंतु यह काल १०० ई० से २०० ई० तक माना गया है।[१] उनके इस स्तर में प्राप्त होने से उनके प्रचलनकाल का कोई संबंध नहीं है। तीन ठीकरों का मिलना कालनिर्धारण के लिये यथेष्ट नहीं है।[२]

एन० बी० पी० भांडों से संबंधित एक अन्य समस्या उनकी उत्पत्ति की है। इस विषय में यह कहा जा सकता है कि इसके कई प्रकार पेंटेड ग्रे भांड से विरासत में प्राप्त हुए हैं। पेंटेड ग्रे भांड की स्थिति एन० बी० पी० भांड से पूर्व होने के कारण यह स्वाभाविक ही है। हस्तिनापुर के द्वितीय काल में पेंटेड ग्रे भांड के साथ एक अन्य भांड मिलता है जिसे 'ब्लैक स्लिप्ड' भांड की संज्ञा दी गई है।[3] ये भांड संभवतः रगड़कर चमकाए जाते थे। श्री लाल का कथन है कि पेंटेड ग्रे भांड की उपस्थिति संभवतः इस दिशा में प्रयोग की स्थिति सूचित करती है। इस भांड के प्रकार परवर्ती काल के एन० बी० पी० भांडों में भी मिलते हैं।

कौशांबी के एन० बी० पी० भांड से पूर्व के द्वितीय काल में ग्रे भांडों पर कभी कभी काला रंग चढ़ा दिया जाता था।[५] श्रावस्ती के प्रथम काल के सबसे निचले स्तरों में पेंटेड ग्रे भांड के साथ कुछ काले रंग के भांड भी प्राप्त होते हैं और इन्हें एन० बी० पी० भांड का 'अग्रज' कहा गया है।[६] अन्य स्थलों से भी एन० बी० पी० भांड से पूर्व के स्तरों में काले रंग के भांड प्राप्त होते हैं। वर्तमान अवस्था में यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि काले रंग के उन्हीं भांडों की निर्माणविधि में संशोधन करते हुए एन० बी० पी० भांड का निर्माण हुआ।

१. बी० बी० लाल : शिशुपालगढ़, १६४८, एंशेंट इंडिया, सं० ५, पृ० ६८
२. गार्डन, टी० एन० : एं० इं०, सं० १०–११, पृ० १ ७४
३. एं० इ०, सं० १०–११, पृ० ४४
१. शर्मा, जी० आर० : 'दि एक्स्केवेशंस ऐट कौशांबी, पृ० ५८
२. इं० आ०, १६५८–५६, पृ० ४७

प्रांत	क्र० सं०	स्थल	प्रकाशन	टिप्पणी
१	२	३	४	५
आंध्र	१	अमरावती जि० गुंटूर	इं० आ० १९५३–५४, पृ० ३८ इं० आ० १९५८–५९, पृ० ५	एन० बी० पी० भांड की दक्षिणी सीमा निर्धारित होती है।
उड़ीसा	२	शिशुपालगढ़, जि० पुरी	एं० इं०, सं० ५, पृ० ७९	उत्खनन में केवल तीन ठीकरे वह भी १०० ई० से २०० ई० के स्तर में।
उत्तर प्रदेश	३	अतरंजी खेड़ा, जि० एटा।	एं० इं०, सं० १, पृ० ५५ इं० आ० १९६०–६१, पृ० ३५	धरातल से प्राप्त
	४	अयोध्या, जि० फैजाबाद।	इं० आ०, १९५५–५६, पृ० ७१	ये भांड भी प्राप्त
	५	अहिच्छत्रा जि० बरेली।	एं० इं०, सं० १, पृ० ३७–५९	उत्खनन में प्राप्त
	६	इलाहाबाद–आसपास के अनेक स्थान।	इं० आ०, १९६०–६१, पृ० ३३	धरातल से प्राप्त
	७	उन्नाव, जि० कानपुर	इं० आ०, १९५७–५८, पृ० ६९	धरातल से प्राप्त
	८	उपधौलिया, जि० गोरखपुर		संग्रहालय, प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर। धरातल से प्राप्त
	९	उमरगढ़, जि० कानपुर	इं० आ० १९५७–५८, पृ० ६९	धरातल से प्राप्त
	१०	एरच, जि० झाँसी	इं० आ० १९५५–५६, पृ० ७१	धरातल से प्राप्त
	११	कड़ा, जि० इलाहाबाद	ऐं० इं० सं० १०–११, पृ० १४४	धरातल से प्राप्त
	१२	कोपिया, जि० बस्ती		सग्रहालय, प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
	१३	कंपिला, जि० फर्रुखाबाद	एं० इं० सं० १०–११, पृ० १४४	धरातल से प्राप्त
	१४	कन्नौज, जि० फतेहगढ़	इं० आ० १९५५–५६, पृ० १९	उत्खनन से प्राप्त
	१५	किलरमान, जि० फतेहगढ़	इं० आ० १९५८–५९, पृ० ७५	धरातल से प्राप्त
	१६	कौशांबी, जि० इलाहाबाद।	इं० आ० १९५४–५५, पृ० १६ वही, १९५५–५६, पृ० २० वही, १९५६–५७, पृ० २९	एन० बी० पी० भांडों का केंद्र तथा वैज्ञानिक विधि से उत्खनन के कारण महत्वपूर्ण।

प्रांत	क्र० सं०	स्थल	प्रकाशन	टिप्पणी
१	२	३	४	५
			वही, १९५७–५८, पृ० ४७-४८	
			वही, १९५८–५९ पृ० ४६-४७	
			वही, १९६०–६१, पृ० ३३	
			डा० जी० आर० शर्मा, ऐक्सकेवेशंस ऐट कौशांबी १९५७–५९।	
	१७	छोटा बेलवा, जि० झाँसी	इं० आ० १९५५–५६, पृ० ७१	धरातल से प्राप्त
	१८	जाजमऊ, जि० कानपुर	इं० आ० १९५६–५७, पृ० २९ वही १९५७–५८, पृ० ४९	उत्खनन में ग्रे भांड के साथ प्राप्त
	१९	झूँसी, जि० इलाहाबाद	एं० इं० सं० १, पृ० ५५	धरातल से प्राप्त
	२०	टीकर, जि०-फतेहगढ़	इं० आ० १९५८–५९, पृ० ७५	धरातल से प्राप्त
	२१	टोहरगंज, जि० गाजीपुर	इं० आ० १९५९–६०, पृ० ७५	धरातल से प्राप्त
	२२	दौलताबाद, जि० हुसेनाबाद	इं० आ० १९५७–५८, पृ० ६९	धरातल से प्राप्त
	२३	देवपंचपुर, जि० गाजीपुर	इं० आ० १९५९–६०, पृ० ७५	धरातल से प्राप्त
	२४	पीपरगंज, जि० एटा	इं० आ० १९५९–६०, पृ० ७५	धरातल से प्राप्त
	२५	पामा, जि० गाजीपुर	इं० आ० १९५७–५८, पृ० ६९	धरातल से प्राप्त
	२६	बड़ागाँव, जि० गाजीपुर	इं० आ० १९५७–५८, पृ० ६९	धरातल से प्राप्त
	२७	बरनावा जि० मेरठ	एं० इं० सं० १०–११, पृ० १३९, १४४	पेंटेड ग्रे भांड से ऊपर के स्तरों में प्राप्त।
	२८	नहुआ जि० फतेहगढ़	इं० आ० १९५७–५८, पृ० ६९	धरातल से प्राप्त
	२९	बाघपत, जि० मेरठ	एं० इं० सं० १०–११, पृ० १४४	यहाँ पेंटेड ग्रे भांड भी प्राप्त होता है।
	३०	बाड़ा, जि० कानपुर	इं० आ० १९५५–५६, पृ० ७१	धरातल से प्राप्त
	३१	बिठूर, जि० कानपुर	इं० आ० १९५५–५६, पृ० ७१	ग्रे भांड भी प्राप्त।
	३२	बिंदुअल, जि० फतेहगढ़	इं० आ० १९५८–५९, पृ० ७५	धरातल से प्राप्त
	३३	नैगर, जि० वाराणसी	इं० आ० १९५८–५९, पृ० ७५	धरातल से प्राप्त
	३४	भरगेन, जि० एटा	इं० आ० १९५९-६०, पृ० ७५	धरातल से प्राप्त
	३५	भीटा, जि० इलाहाबाद	आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इंडिया का वार्षिक विवरण १९११–१२, पृ० २९	उत्खनन से प्राप्त

प्रांत	क्र० सं०	स्थल	प्रकाशन	टिप्पणी
१	२	३	४	५
	३६	मथुरा	इं० आ० १९५४–५५, पृ० १५ एं० इं० सं० १०–११, पृ० १४५	श्री लाल ने यह भांड पेंटेड ग्रे भांड के ऊपर के स्तरों में पाया है।
	३७	पसांवडीह, जि० गाजीपुर	एं० इं० सं० १, पृ० ५५ इं० आ० १९५९–६०, पृ० ७५	धरातल से प्राप्त
	३८	महनीडीह, जि० इलाहाबाद	इं० आ० १९५८–५९, पृ० ७४	धरातल से प्राप्त
	३९	माटीकसनपुर, जि० कानपुर	इं० आ० १९५५–५६, पृ० ७१	धरातल से प्राप्त
	४०	मूसानगर, जि० कानपुर	इं० आ० १९५५–५६, पृ० ६९	धरातल से प्राप्त
	४१	मौराव, जि० फतेहगढ़	इं० आ० १९५८–५९, पृ० ७५	धरातल से प्राप्त
	४२	राजघाट, जि० वाराणसी	इं० आ० १९५७–५८, पृ० ५० इं० आ० १९६०–६१, पृ० ३५ एं० इं० सं० १०–११, पृ० १४५	उत्खनन में प्राप्त
	४३	लखनऊ	इं० आ० १९५५–५६, पृ० ७१	नदी के कटाव से एन० बी० पी० भांड तथा ग्रे भांड प्राप्त
	४४	लखनेश्वरडीह, जि० बलिया	इं० आ० १९५५–५६, पृ० ७१ वही १९५६–५७, पृ० २९	उत्खनन से प्राप्त
	४५	लच्छागिरि, जिला इलाहाबाद	एं० इं० सं० १०–११, पृ० १४४	नदी के कटाव में प्राप्त
	४६	श्रावस्ती, जि० बहराइच	इं० आ० १९५५–५६, पृ० ७१ वही १९५८–५९, पृ० ४७–५०	उत्खनन में प्राप्त
	४७	सारनाथ, जि० वाराणसी	एं० इं० सं० १०–११, पृ० १४५	धरातल से प्राप्त
	४८	सिंगरौर, जि० इलाहाबाद	इं० आ० १९५५–५६, पृ० ७१	धरातल से प्राप्त
	४९	सैनी, जि० मेरठ	एं० इं० सं० १०–११, पृ० १४५	टीले के कटाव में पेंटेड ग्रे भांड के ऊपर प्राप्त
	५०	सोहगौरा, जि० गोरखपुर		प्राचीन इतिहास, पुरातत्व एवं संस्कृति विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय का संग्रहालय।
	५१	सौरीपुर, जि० आगरा	इं० आ० १९५८–५९, पृ० ७४	धरातल से प्राप्त

प्रांत	क्र० सं०	स्थल	प्रकाशन	टिप्पणी
१	२	३	४	५
	५२	हस्तिनापुर, जि० मेरठ	एं० इं० सं० १०-११, पृ० १५१	इस भांड के समयनिर्धारण के लिये महत्वपूर्ण स्थल। उत्खनन में १०३ ठीकरे प्राप्त
	५३	हुसैनाबाद जि० नजीबाबाद	इं० आ० १९५७-५८, पृ० ५६	धरातल से प्राप्त
गुजरात	५४	प्रभास पाटन, जि० सोरठ।	इं० आ० १९५६-५७, पृ० १६-१७	उत्खनन में प्राप्त।
	५५	भड़ौच	इं० आ० १९५९-६०, पृ० १९	यहाँ दूसरे काल का आरंभ तीसरी शती ई० पू० माना गया है। प्राप्त ठीकरा ताँबे के पिन से जोड़ा गया है। उत्खनन में प्राप्त।
दिल्ली	५६	तिलपत	एं० इं० सं० १०-११, पृ० १४१-४६	सीमित उत्खनन में पेंटेड ग्रे भांड के ऊपर एन० बी० पी० भांड प्राप्त हुआ है।
	५७	पुराना किला	एं० इं० सं० १०-११, पृ० १४४ इं० आ० १९५४-५५, पृ० १३-१४	यहाँ भी पेंटेड ग्रे भांड के ऊपर के स्तरों में एन० बी० पी० भांड मिलता है।
पंजाब	५८	कोटलानिहंग, जि० अंबाला	एं० इं० सं० १०-११, पृ० ४४	धरातल से प्राप्त
	५९	खोखराघोट, जि० रोहतक	एं० इं० सं० १०-११, पृ० १४४	धरातल से प्राप्त
	६०	चरन, जि० जालंधर	एं० इं० सं० १०-११, पृ० १४४	धरातल से प्राप्त
	६१	छट, जि० पटियाला	,, ,, ,,	पेंटेड ग्रे भांड के ऊपर यह भांड मिलता है।
	६२	सेपड जि० अंबाला	इं० आ० १९५३-५४, पृ० ६ वही १९५४-५५, पृ० ,, एं० इं० सं० १०-११, पृ० १४१ तथा १४५	उत्खनन से प्राप्त ,,
	६३	सोनपत, जि० रोहतक	एं० इं० सं० १०-११, पृ० १४५	धरातल से प्राप्त
बिहार	६४	कुमरहार, जि० पटना	इं० आ० १९५३-५४, पृ० ९ वही १९५४-५५, पृ० १८	उत्खनन से प्राप्त

प्रांत	क्र० सं०	स्थल	प्रकाशन	टिप्पणी
१	२०	३	४	५
	६५	गिरअक, जि० पटना	एं० इं० सं० १, पृ० ५६	धरातल से प्राप्त
	६६	चेरंद, जि० सारन	इं० आ० १९५८–५९, पृ० ६८	धरातल से प्राप्त
	६७	घुरहरा, जि० पूर्णिया	इं० आ० १९५४–५५, पृ० ६१	धरातल से प्राप्त
	६८	नाथनगर, जि० भागलपुर	इं० आ० १९५८–५९, पृ० ६८	धरातल से प्राप्त
	६९	पटना	इं० आ० १९५५–५६, पृ० २२ एं० इं० सं० १०–११, पृ० १४५	उत्खनन से प्राप्त
	७०	पीरनगरडेइली, जि० मुंगेर	इं० आ० १९५५–५६, पृ० ७१	धरातल से प्राप्त
	७१	बक्सर, जि० शाशाबाद	एं० इं० सं० ११–१२	धरातल से प्राप्त
	७२	बनिया, जि० मुजफ्फरपुर	इं० आ० १९६०–६१, पृ० ६	उत्खनन से प्राप्त
	७३	बलीगढ़, जि० दरभंगा	इं० आ० १९५४–५५, पृ० ६१	धरातल से प्राप्त
	७४	बोधगया, जि० गया	इं० आ० १९५५–५६, पृ० ७१	धरातल से प्राप्त
	७५	राजगिर, जि० पटना	एं० इं० सं० ७, पृ० ६६ इं० आ० १९५३–५४, पृ० ९ वही १९५४–५५, पृ० १६ से	उत्खनन से प्राप्त
	७६	लालपुरा, जि० मुजफ्फरपुर	इं० आ० १९६०–६१, पृ० ६	उत्खनन से प्राप्त
	७७	वैशाली, जि० मुजफ्फरपुर	इं० आ० १९५७–५८, पृ० १०-११ वही १९५८–५९, पृ० १२	उत्खनन से प्राप्त
	७८	सोनपुर, जि० गया	इं० आ० १९५६–५७, पृ० १९ वही १९५९–६०, पृ० १४ वही १९६०–६१, पृ० ४	ब्लैक तथा रेड भांड के साथ एन० बी० पी० भांड का स्तरीय संबंध निश्चित होता है।
	७९	सोनितपुर, जि० गया	इं० आ० १९५५–५६, पृ० ७१	धरातल से प्राप्त
पूर्वी बंगाल	८०	खाना, जि० चौबीस परगना	इं० आ० १९५९–६०, पृ० ७८	धरातल से प्राप्त

प्रांत	क्र० सं०	स्थल	प्रकाशन	टिप्पणी
१	२	३	४	५
	८१	चंद्रकेतुगढ़, जि० चौबीस परगना	इं० आ० १९५५-५६ पृ० ७१ वही १९५६-५७, पृ० ८१ वही १९५९-६० पृ० ५०-५१ वही १९६०-६१, पृ० ३९	उत्खनन से प्राप्त
	८२	तामलुक, जि० मेदिनीपुर	एं० इं० सं० १०-११, पृ० १४५	धरातल से प्राप्त
	८३	तिलदह जि० मेदिनीपुर	इं० आ० १९५४-५५ पृ० २३	उत्खनन में प्राप्त
	८४	बानगढ़, जि० दिनाजपुर	के० जी० गोस्वामी, एक्सकेवेशंस ऐट बानगढ़, पृ० २७	उत्खनन से प्राप्त
	८५	बेटोर	इं० आ० १९५८-५९, पृ० ७७	धरातल से प्राप्त
	८६	महीनगर	इं० आ० १९५८-५९, पृ० ७७	” ”
	८७	मालिकपुर, जि० कलकत्ता	इं० आ० १९५९-६० पृ० ७१	” ”
	८८	हरिहरपुर	इं० आ० १९५८-५९, पृ० ७७	” ”
मध्यप्रदेश	८९	असोहनी, जि० भिंड	इं० आ० १९५९-६०, पृ० ६९	” ”
	९०	औरा, जि० मंदसोर	इं० आ० १९५७-५८, पृ० ६८ वही १९५९-६०, पृ० २४	” ”
	९१	उज्जैन	इं० आ० १९५५-५६ पृ० १९ वही १९५६-५७, पृ० २४	उत्खनन से प्राप्त
	९२	एरण	इं० आ० १९६०-६१, पृ० १७	उत्खनन से प्राप्त
		कंकरहटा, जि० जबलपुर	इं० आ० १९६०-६१, पृ० ६०	धरातल से प्राप्त
	९३	कसरावाड़, जि० इंदौर		
	९४	कैथ, जि० भिंड	इं० आ० १९५८-५९, पृ० २६	धरातल से प्राप्त
	९५	जमादारा, जि० भिंड	इं० आ० १९५९-६०, पृ० ६९	धरातल से प्राप्त
	९६	जमुहा, जि० भिंड	इं० आ० १९५८-५९, पृ० २६	धरातल से प्राप्त
	९७	तेवर, जि० जबलपुर	इं० आ० १९५७-५८, पृ० ६८	धरातल से प्राप्त
	९८	त्रिपुरी, जि० जबलपुर	एं० इं० सं० १०-११, पृ० १४६	उत्खनन
	९९	नागदा	इं० आ० १९५-५६, पृ० ११ एं० इं० सं० १०-११, पृ० १४५	उत्खनन से प्राप्त
	१००	बरत, जि० भिंड	इं० आ० १९५८-५९, पृ० २६	धरातल से प्राप्त

प्रांत	क्र० सं०	स्थल	प्रकाशन	टिप्पणी
१	२	३	४	५
	१०१	बरेहत, जि० भिंड	इं० आ० १९५८–५९ पृ० २६	धरातल से प्राप्त
	१०२	बरौली, जि० भिंड	इं० आ० १९५९–६०, पृ० ६९	धरातल से प्राप्त
	१०३	बुरहानपुर, जि० निमाड़	इं० आ० १९६०–६१, पृ० ६०	धरातल से प्राप्त
	१०४	मऊ, जि० भिंड	इं० आ० १९५९–६०, पृ० ६९	धरातल से प्राप्त
	१०५	महेश्वर, जि० निमाड़	दि एक्सकेवेशन ऐट महेश्वर ऐंड नवदाटोली संकालिया,	उत्खनन में प्राप्त
	१०६	नवदाटोली, जि० निमाड़	सुब्बाराव और देव, पृ० २१।	
	१०७	मेहराबुजुर्ग, जि० भिंड	इं० आ० १९५८–५९, पृ० २६,	धरातल से प्राप्त
	१०८	लहर, जि० भिंड	इं० आ० १९५७–५८, पृ० ६७	धरातल से प्राप्त
	१०९	साँची, जि० भोपाल	एं० इं० सं० १०–११, पृ० १४५	धरातल से प्राप्त
	११०	सिरसा (इटौरा), जि० भिंड	इं० आ० १९५८–५९, पृ० २६	धरातल से प्राप्त
महाराष्ट्र	१११	टेकवाड़ा	इं० आ० १९५६–५७ पृ० १८	उत्खनन से प्राप्त
	११२	टेर, जि० उस्मानाबाद	इं० आ० १९५७–५८ पृ० २३	धरातल से प्राप्त
	११३	नासिक	संकालिया तथा सुब्बाराव रिपोर्ट आन दी एक्सकैवेशन ऐट नासिक १९५०–५१ पृ०, ७	उत्खनन से प्राप्त
	११४	नेवासा जि० अहमदनगर	संकालिया आदि : एक्सकैवेशंस इं० आ० १९५४–५५, पृ० ५, इं० आ० १९५५–५६, पृ० ८	उत्खनन से प्राप्त
	११५	प्रकाश, जि० पश्चिमी खानदेश	इं० आ० १९५४–५५, पृ० १३	उत्खनन से प्राप्त
	११६	बहल, जि० पूर्वी खानदेश	इं० आ० १९५६–५७, पृ० १०	उत्खनन से प्राप्त
राजस्थान	११७	गोंदी जि० टोंग	इं० आ० १९५८–५९, पृ० ४५	धरातल से प्राप्त
	११८	चौसला, जि० अजमेर	इं० आ० १९५८–५९, पृ० ४५	धरातल से प्राप्त
	११९	बैराट	डी० आर० साहनी, एक्सकैवेशन ऐट बैराट, पृ० २४।	उत्खनन से प्राप्त

*

अपभ्रंश और देशी

परममित्र शास्त्री

अपभ्रंश के साथ बहुधा 'देशी' शब्दों की चर्चा की जाती है। सर्वप्रथम हमें 'देशी' शब्द पर ही विचार करना चाहिए। संस्कृत वैयाकरणों ने कहीं भी देशी शब्द की चर्चा नहीं की है। यह अवश्य है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी में स्पष्टतः कई जगह 'देश'[1] शब्द का प्रयोग हुआ है। पाणिनि के सूत्रों में प्रयुक्त देश शब्द के उदाहरण से प्रतीत होता है कि यह प्रांत[2] के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। देश शब्द के पूर्व यदि 'एक' जोड़ दिया जाय तो वह ग्राम, जनपद शब्द से अञ्, ठञ् प्रत्यय करके 'एक भाग'[3] के अर्थ में भी प्रयुक्त होता था। पाणिनि के पूर्व यास्क[4] के निरुक्त में प्रत्यक्ष रूप से देश शब्द का प्रयोग न करके 'दातिः' शब्द पर विचार करते हुए लिखा है कि इसका अर्थ कंबोज में कुछ होता है तो उदीच्य में कुछ दूसरा ही। इसपर दुर्गाचार्य ने टीका करते हुए उदीच्य आदि के आगे देशेषु' का प्रयोग किया है। अतः इससे भी सिद्ध होता है कि यह देश शब्द प्रांत के अर्थ में प्रयुक्त होता था। महर्षि व्यास ने महाभारत[5] के शल्यपर्व

१. अष्टाध्यायी — एङ्प्राचां देशे ।१।१।७५; तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ४।२।६७।

२. महाभाष्य १।१।७५ सूत्र पर नागेश भट्ट की टीका — 'विधेयसंबंधलाभात् प्राग्ग्रहणमाचार्य निर्देशार्थम्। अन्यथा प्राग्देश इत्येव वदेदिति भावः।··· वाहीकश्च देशविशेषः तत्र स ग्रामः प्राग्देश इत्येव वहिर्भूतः वाहीक देशश्चोभय संबंधः प्राग्देश बहिर्भूतो वा······शरावत्यास्तुयोवधेः। देशः प्राग्दक्षिणः प्राच्यउदीच्यः पश्चिमोत्तर, इत्यमरेण दर्शितः।

३. काशिका ४ - २ - ७, ग्रामजनपदैकदेशादञ्ठञौ — 'ग्रामैक देश वाचिनो जनपदैकदेशवाचिनश्च प्रातिपदिकादिक पूर्वपदादद्धान्तादञ्ठञौ प्रत्ययौ भवतः······इमे खलु अस्माकं ग्रामस्य जनपदस्य बापौर्वधा इत्यादि।

४. निरुक्त अ० २, पा० १ पर दुर्गाचार्य एवं मीहरचंद पुष्करणी टीका।

५. नानाचर्म मृगाःच्छिन्ना नाना भाषाश्च भारत।
कुशला देशभाषासु जल्पन्तोऽन्योन्यमीश्वराः ।। महा०, शल्य०' अ० ४५।

में विभिन्न भाषाभाषियों के बारे में वर्णन करते हुए 'देश' शब्द के साथ भाषा शब्द का भी उल्लेख किया है जिससे प्रांत या जनपद का ही बोध होता है। देशभाषा का प्रयोग विभिन्न बोलियों के अर्थ में भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में भी मिलता है :

अतऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि देशभाषाविकल्पनम्।
अथवा छंदतः कार्या देशभाषा प्रयोक्तृभिः ॥
नाना देश समुत्थं हि काव्यं भवति नाटके ॥

नाट्यशास्त्र, अ० १७, श्लो० २४, ४६, ४७।

जिनदास महत्तर ने अर्धमागधी की १८ देशी भाषाओं की सूचना दी है। जैन सिद्धांत में भी राजकुमार ने गणिका आदि की १८ देशी भाषाओं में विज्ञता का वर्णन किया है। इससे विदित होता है कि पहले भारतवर्ष में १८ देशी भाषाओं की प्रतिष्ठा थी। ज्ञात सूत्र[6] में भी इसी बात की चर्चा की गई है। विपाक श्रुत, औपपातिकसुत्त[7], राजप्रश्नीयसूत्र[8] आदि में भी १८ देशी भाषाओं का वर्णन पाया जाता है। विक्रम की नवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में 'कुवलयमालाकथा' की रचना हुई थी। इसमें भी १८ देशी भाषाओं का वर्णन किया गया है। कुवलयमालाकथा में वर्णन आया है : 'क्षत्रिय राजकुलोत्पन्न आचार्य उद्योतन ने दक्षिण प्रदेश में बहादुर जावालिपुर नामक स्थान के ऋषभ जिनेंद्रायतन में बैठकर शक संवत् ८३५, चैत्र कृष्ण पक्ष चतुर्दशी के अपराह्न में इस धर्मकथा की रचना की।' उस समय श्रीवत्सराज नामवाले रणहस्ती पार्थिव विद्यमान थे। इस प्राचीन कथा का हस्तलिखित ताड़पत्र वि० सं० ११३९ वर्ष के जेसलमेरु दुर्ग के जैन भांडागार में मिला है। वि० सं० ११६० में देवचंद्र सूरि ने तथा १३वीं शताब्दी में माणिक्यचंद सूरि ने इस कथा का शांतिनाथचरित में स्मरण किया है। रत्नप्रभ सूरि ने भी १४वीं शताब्दी

६. 'तते णं से मेहे कुमारे बावत्तरि कलापंडियेणव गंधसुयत्त (णवंगसुत्त) पडिबोहिए अट्ठारस विहि (ह) प्पयार देसि भासा विसारए गीयरई गन्धब्वणट्ट कुसले......। (ततः खलु समेघः कुमारो द्वासप्रति कलापंडितोसुत प्रतिबोधित नवाङ्गेऽष्टादशविध देशी भाषा विशारदो गीतरतिर्गन्धर्व नाट्यकुशलः।) (ओ० इ० ता० प० २५, ७१ – समित प्र० ३८ – ९२) एल० पी० गांधी : 'अपभ्रंश काव्य', पृ० ८९।

७. आ० समित प्र० प० ९८।

८. आ० समित प्र० प० १४८।

के प्रारंभ में संस्कृत भाषा में संक्षेप रूप से अवतरित किया है। इस कुवलयमाला[9] की कथा को मुख्यतया छोटी छोटी कथाओं में रचकर, प्राकृत भाषा में, कहीं कहीं कुतूहलवश दूसरे के वचनों को संस्कृत, अपभ्रंश और पैशाची भाषा में भी अनुबंधित किया है। इसी कारण देशी भाषा के लक्षण जाननेवाले कवियों ने भी कुवलयमाला पढ़ने की प्रार्थना की है। श्री देवीप्रसाद विरचित कथा में जिन १८ देशी भाषाओं का वर्णन है उनमें १६ देशी बनियों के शरीरवर्ण, वेशभूषा तथा भाषा का स्वरूप भी बताया गया है। उन १६ देशों[10] (प्रांत या क्षेत्रीय भाग) के नाम हैं गोल, मध्य देश, मगधांतर्वेदी, कीर, टक्क, सिंध, मरु, गुर्जर, लाट, मालव, कर्णाटक, तायिक, कोसल, महाराष्ट्र और आंध्र।

उपर्युक्त वर्णन से प्रतीत होता है कि देशी भाषा बहुत प्राचीन भाषा है और यह संस्कृत तथा प्राकृत से भिन्न भाषा थी। इसका शब्दकोश आदि भी भिन्न था। पादलिप्ताचार्य आदि विरचित देशी शास्त्र के परिशीलन से देशी शब्द-संग्रहों की सूचना मिलती है। हेमचंद्र द्वारा संकलित देशी शब्दों की सार्थकता भी परिलक्षित होती है। वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र (१,४,५०) तथा विष्णुधर्मोत्तर में एवं शूद्रक ने 'मृच्छकटिकम्' के अ० ६, पृ० २२५ में, तथा विशाखदत्त[11] ने 'मुद्राराक्षस' में, बाणभट्ट ने 'कादंबरी'[12] में एवं धनंजय ने 'दशरूपक' में विभिन्न बोलियों या विभिन्न भाषाभाषियों के लिये 'देशभाषा' शब्द का प्रयोग किया है:

'देशभाषा क्रियावेश लक्षणाः स्युः प्रवृत्तयः।
लोकादेवागम्यैता यथौचित्यं प्रयोजयेत्॥
यद्देशं नीच पात्रं यत् तद्देशं तस्य भाषितम्॥

दशरूपक, २,५८, ६१।

९. पायअ भासा रइया मरहट्ठय देसी वयणय णिबद्धा।
सुद्धा सयल कहच्चिय तावस - सत्थ - वाहिल्ला।
कोऊह लोण कत्थइ पर वयण वसेण सक्कय णिबद्धा।
किंचि अवब्भंसकआदा विय पेसाय भासिल्ला।
कुवलयमाला कथा (जे मां ता प० ३)।

१०. वही (जे मां ता० १३१-२)

११. प्रयुक्ताश्च स्वपक्षपरपक्षयोरनुरक्तापरक्त जनजिज्ञासया बहुविध देशवेष भाषाऽचार - संचार वेदिनो नाना व्यंजनाः प्रणिधयः।

१२. शिक्षिताशेषदेश भाषेण सर्व लिपिज्ञेन, पृ० १०२।

धनंजय के पूर्वोक्त कथन पर ध्यान देना चाहिए कि उसने 'देशभाषा' का प्रयोग नीच पात्रों की भाषा के लिये किया है किंतु जैन सिद्धांत के 'बृहत्कल्प' ग्रंथ में विभिन्न भाषाभाषियों की कुशलता प्रकट करने के लिये देशी भाषा का प्रयोग किया गया है :

नाणा देसी कुसलो नाणा देसी कप्पस्ससुत्तस्स।
अभिलावे अत्थकुसलो होई तओऽणेण गंतव्वं॥
बृहत्कल्पे उ० ६, बृ० प० ८३१।

देशी की व्याख्या

दंडी ने अपने 'काव्यादर्श' में प्राकृत का भेद करते हुए बताया है कि प्राकृत के अनेक भेद होते हैं :

'तत्समः तद्भवो देशी इत्यनेकः प्राकृतक्रमः'

विद्वानों ने[13] तत्सम से तात्पर्य निकाला संस्कृतसम, तत्तुल्य, तथा समान शब्द; तद्भव से तात्पर्य है संस्कृतभव, संस्कृतयोनि, एवं तज्जविभ्रष्ट और देशी से मतलब है देशप्रसिद्ध या देशी मत। उपर्युक्त प्राकृत शब्द की व्याख्या से निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रथम प्राकृत शब्द बिना किसी परिवर्तन के ही संस्कृत से लिए गए हैं; दूसरे प्राकृत शब्द परिवर्तन के साथ साथ संस्कृत से लिए गए हैं और तीसरे प्रकार के शब्द वे हैं जो संस्कृत से नहीं लिए गए हैं किंतु प्रांतों की विभिन्न बोलियों से या ग्रामीण क्षेत्रों से आए हुए शब्द हैं और जिनकी जानकारी शब्दकोश से होती है। अभी तक दो शब्दकोशों का पता चल सका है — एक धनपाल का और दूसरा हेमचंद्र का।

आचार्य हेमचंद्र ने 'देशी नाममाला' में देशी शब्दों की व्याख्या करते हुए बताया है कि देशी शब्द वे हैं जो व्याकरण के नियमों से यानी प्रकृति-प्रत्ययादि से सिद्ध नहीं होते और जो संस्कृत शब्दकोशों में भी नहीं पाए जाते तथा जिनकी सिद्धि गौणीलक्षणा द्वारा भी नहीं हो पाती :

जे लक्खणेणसिद्धाण पसिद्धा सक्कयाहिहाणेसु।
ण या गउण लक्खणा सत्ति संभवा तेइह णिवद्धा॥
देशी नाममाला, श्लोक ३

१३. विशेष के लिये देखिए —प्राकृत : स्प्रीचनस्ट्रेसवर्ग, पृ० १६०।

इस पूर्वोक्त लक्षण से देशी का अर्थ विदेशी शब्दों से होने लगता है जो प्राकृत - अपभ्रंश के शब्दकोशों में हैं। किंतु हेमचंद्र का यह मतलब नहीं है। उसका कहना है कि मैंने ऐसे शब्दों को इस कोश में संगृहीत किया है जो सिद्धहेम-शब्दानुशासन में प्रकृतिप्रत्ययादि के विभाग के द्वारा सिद्ध नहीं हो पाते। मैंने उन शब्दों को भी छोड़ दिया है जिन्हें दूसरे शब्दकोशकारों ने अपने शब्द-कोश में रखा है किंतु उन्हें हमने (सिद्धहेमचंद्र ८।४।२) आदेश आदि के द्वारा (वज्जर, पज्जर आदि) सिद्ध किया है। उसे भी देशी नाममाला में ग्रहण नहीं किया है। मैंने उन शब्दों को भी संकलित किया है जो संस्कृत शब्दकोशों में नहीं पाए जाते किंतु प्रकृतिप्रत्यय से सिद्ध किए जा सकते हैं। मैंने उन शब्दों को संकलित नहीं किया है जो संस्कृत शब्दकोशों में नहीं पाए जाते किंतु व्याख्या आदि के द्वारा निष्पन्न किए जा सकते हैं।[१४]

उपर्युक्त कथन पर आशंका उठ खड़ी होती है कि आखिर ऐसे शब्द तो संस्कृत में भी हैं जिनकी व्युत्पत्ति प्रकृतिप्रत्ययादि से नहीं हो सकती। उन्हें भी 'देशी' क्यों न कहा जाय ? संस्कृत व्याकरण में शब्द दो प्रकार के माने गए हैं : पहला व्युत्पन्न और दूसरा अव्युत्पन्न। व्युत्पन्न वे शब्द हैं जिनकी सिद्धि प्रकृति-प्रत्ययादि से की जाती है तथा अव्युत्पन्न वे शब्द हैं जो स्वतःसिद्ध हैं। जिस प्रकार हेमचंद्र ने 'देशी नाममाला'[१५] के श्लोक ४ में कहा है कि विभिन्न प्रांतों

१४. लक्षणे शब्दशास्त्रे सिद्धहेमचंद्र नाम्नि ये न सिद्धाः प्रकृतिप्रत्ययादिविभागेन न निष्पन्नास्तेऽत्र निबद्धाः। ये तु वज्जर, पज्जर, उप्फाल, पिसुण, संघ, बोल्ल, चव, जंप, सीस साहादयः कथ्यादीनामादेशत्वेन साधिता स (सिद्ध हेमचंद्र ८।४।२) तेऽन्यैर्देशीषु परिगृहीता अप्यस्माभिर्ननिबद्धाः। ये च सत्यामपि प्रकृतिप्रत्ययादिविभागेन सिद्धौ संस्कृताभिधानकोशेषु प्रसिद्धास्तेऽप्यत्र निबद्धाः। यथा अमृतनिर्गमछिन्नोद्भवा महानटादयश्चंद्रदूर्वाहरादिष्वर्थेषु। ये च संस्कृताभिधानकोशेष्वप्रसिद्धा अपि गौण्यादि लक्षणया चालंकार चूणामणिप्रतिपादितयाशक्त्या संभवन्ति। यथा मूर्खे वइल्लो। गंगातटे गंगा शब्दस्त इह देशी शब्दसंग्रहहेतु निबद्धाः।

१५. देशी नाममाला : 'देस विसेस पसिद्धीइ भाणमाणा अणन्तयाहुन्ति। तम्हा बाणाइ पाइठा पणट्ठ भाया विसेसओ देसी।
देश विशेष महाराष्ट्र विदर्भाभीरादयस्तेषु प्रसिद्धा······इत्येव मादयः शब्दा यदुच्येरंस्तदा देशविशेषाणामनन्तत्वात् पुरुषायुषेणापि न सर्वं संग्रहःस्यात्।

की बोलियों में असंख्य देशी शब्द हैं जिनका पूर्णतया संग्रह करना संभव नहीं प्रतीत होता, उसी प्रकार पतंजलि मुनि ने भी कहा है कि लोक में शब्दों का भंडार बहुत बड़ा है। उन शब्दों में न जाने कितने ऐसे शब्द हैं जिनमें धातु प्रत्यय की दाल नहीं गल पाती। हठात् उन शब्दों में धातुप्रत्यय की थकेली लगाकर उन्हें सिद्ध करना केवल क्लिष्ट कल्पना मात्र है। ऐसे शब्द लोक में स्वतः उत्पन्न होते हैं और अर्थों के साथ उनका संबंध स्वतः जुट जाता है, एवं वे लोगों के कंठ में रहकर व्यवहार में आते हैं। उनके लिये लोक ही प्रमाण है। ऐसे ही शब्दों को पाणिनि[१६] ने संज्ञाप्रमाण कहा है। संस्कृत में कुछ ऐसे भी शब्द थे जो बिना व्याकरण के नियम के ही प्रयुक्त होते थे। पाणिनि ने ऐसे शब्दों को यथोपदिष्ट मानकर प्रामाणिक मान लिया था—'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्'। संभवतः इन्हीं सारी बातों को अपने दृष्टिपथ में रखते हुए पिशेल[१७] महोदय ने कहा था कि प्राकृत और संस्कृत के वे सभी शब्द जिनकी सिद्धि व्याकरण के अनुसार प्रकृतिप्रत्यय से नहीं की जाती, देशी हैं।

१९वीं शताब्दी के विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से देशी के बारे में अपनी मान्यता प्रकट की है। बीम्स[८] महोदय का कहना है कि देशज शब्द वे हैं जो किसी संस्कृत शब्द से व्युत्पन्न नहीं हो पाते। वे शब्द देश के मूल वासियों के शब्दों से लिए हुए शब्द हो सकते हैं या आर्यों ने परवर्ती संस्कृत के समय उन शब्दों को गढ़ा था। ए० एफ० आर० हार्नले[९] का कहना है कि प्राकृत वैयाकरणों ने देशी को तत्सम एवं तद्भव के बाद तीसरी श्रेणी में रखा है। देशी का अर्थ है—ग्रामीण, प्रांतीय, क्षेत्रज या आदिवासियों के शब्द। इस प्रकार की व्युत्पत्ति मान लेने पर सभी शब्द इस कठघरे में नहीं आ पाते। कुछ ऐसे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत शब्दों से नहीं की जा सकती। अतः उन शब्दों की

१६. अष्टाध्यायी—'तदषिष्यं संज्ञाप्रमाणात्' १।२।५३।

१७. 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण' §६।

१८. बीम्स–'ए कंपैरेटिव ग्रामर आव् द मॉडर्न आर्यन लैंग्वेजेज आव् इंडिया', खंड १, पृ० १२ – 'देशजज आर दोज वर्ड्स ह्विच कैन्नॉट बी डिराइव्ड फ्रॉम एनी संस्कृत वर्ड ऐंड आर देयरफोर कंसिडर्ड टु हैव बीन बारोड फ्राम द अबौरिजिनीज आव् द कंट्री ऑर इन्वेंटेड बाइ द आर्यंस इन पोस्ट–संस्कृतिक टाइम्स।'

१९. ए कंपैरेटिव ग्रामर आव् द गौडियन लैंग्वेज' (१८८०), भूमिका पृ० ३९ – ४१।

उत्पत्ति ग्रामीण शब्दों से ही संभव हो सकती है। हार्नले महोदय का कहना है कि जिस तरीके से लोगों ने देशी की व्युत्पत्ति का अनुमान किया है वह वस्तुतः अधिक स्पष्ट नहीं है। वास्तव में वे शब्द या तो आदिवासियों से लिए गए हैं या संभवतः परवर्ती संस्कृत के समय में ग्रामीण आर्यों की देन हैं (बीम्स, पृ० १२)। यह भी संभव हो सकता है कि जनसाधारण के द्वारा अज्ञानवश संस्कृत के शब्द इतने अधिक बिगाड़ दिए गए हों कि उनकी व्युत्पत्ति का पता लगाना कठिन ही नहीं अपितु असंभव है। हार्नले साहब ने अंतिम कारण को बहुत संभव माना है। यथार्थतः इस विषय पर विद्वानों की भावना से भी निर्णय किया जा सकता है। आधुनिक अनुसंधान ने बहुत से देशी शब्दों का पता लगा लिया है। देशी नाममाला में प्रयुक्त बहुत से देशी शब्दों की व्युत्पत्ति प्रकृतिप्रत्यय से की जा चुकी है। तब इस विषय पर प्रश्न उठ खड़ा होता है कि वे शब्द आर्यों के हैं कि नहीं? इस समय इस प्रश्न का निर्णय करना बड़ा कठिन है। कारण, कोई भी शब्द संस्कृत या प्राकृत का होते हुए यह आवश्यक नहीं है कि वह आर्यों का ही हो क्योंकि भारतीय आर्यों में आर्येतर शब्द विराजमान रहने पर भी वे शब्द इस प्रकार सँवार सुधार लिए गए कि अब उनका पता लगाना कठिन सा हो गया है। फिर भी संस्कृत में बहुत से ऐसे शब्द हैं जो पैशाची या अपभ्रंश के कहे जा सकते हैं।

सर आर० जी० भंडारकर[२०] ने देशज पर विचार करते हुए बताया है कि जो शब्द संस्कृत से व्युत्पन्न नहीं हो पाता तथा जो दूसरे उपायों द्वारा उदाहरण में दिया जा सकता है वह देशज है। पुनः आगे उन्होंने अपना दृढ़ विश्वास प्रकट करते हुए कहा कि प्राकृत में तथा अपभ्रंश में जो देशी शब्दों का बाहुल्य है वह उन आदिवासियों के यहाँ से आया हुआ है। जिन्हें जीतकर आर्यों ने पराधीन बना लिया था। इसके विपरीत डा० पी० डी० गुणे[२१] का कहना है कि 'पाइय लच्छी नाममाला' और 'देशी नाममाला' में जो देशी शब्द संगृहीत हैं उनमें के कुछ तो संस्कृत के वंशज हैं और कुछ शब्द स्पष्टतः द्रविड़ भाषा के हैं। पाइयलच्छी नाममाला की भूमिका (पृ० १४) में डा० ब्यूलर ने देशी शब्दों के बारे में कहा है सभी या लगभग सभी देशी शब्द संस्कृत शब्दों से व्युत्पन्न हैं। कुछ शब्द संस्कृत शब्दों से

२०. भंडारकर : 'विलसन फाइलोलॉजिकल लेक्चर, १९१४, पृ० १०६।

२१. गुणे : इंट्रोडक्शन टु कंपरेटिव फाइलोलॉजी, पृ० २२।

बहुत अधिक संबंधित हैं। उनपर हेमचंद्र ध्यान देने में क्यों असमर्थ रहे, इसपर आश्चर्य होता है। अगर प्राकृत 'हलुअं' शब्द संस्कृत 'लघुक' (२ - १२२) से व्युत्पन्न माना जा सकता है तो क्यों नहीं प्राकृत 'अइराभा' को संस्कृत अचिराभा से व्युत्पन्न माना जाय। किंतु हेमचंद्र ने हलुअं को तद्भव और अइराभा को देशी माना है। यह तो कहा नहीं जा सकता कि हेमचंद्र परवर्ती शब्दों के (१ – ३४) प्रति सतर्क नहीं थे। यद्यपि यहाँ यह कहा जा सकता है कि इन दोनों शब्दों का कोई नाता नहीं है। कुछ और दूसरे शब्द, जो स्पष्टतया संस्कृत से व्युत्पन्न हो सकते हैं, प्राकृत वैयाकरणों के ध्वनिविषयक नियम से सिद्ध नहीं होते। डा० ब्यूलर ने उसी जगह फिर कहा है: 'वैयाकरणों के व्याकरणों में ध्वन्यात्मक व्याकरणिक नियमों की भिन्नताएँ रहते हुए भी वे शब्द अत्यधिक मात्रा में पाए जाते हैं।' इस प्रकार कल्ला, चूओ, दुल्लं, हेरिंबो, आदि शब्दों का संस्कृत के कल्य, चूचुक, दुकूल और हेरंब से घनिष्ठ संबंध है। दूसरी ओर उसी प्रकार की 'देशी नाममाला' है जिसमें गंडीवं और णंदिणी जैसे शब्दरूप हैं जिनके अर्थ थोड़े बदल जाते हैं — धनुः, धेनुः आदि। अदंसणो, थूलघोणो, धूमद्दारं, मेहच्छीरं, परिहार, इत्थिआ, मुहरो मराई आदि का अर्थ दिए बिना ही देशी शब्दों में उल्लेख किया गया है जैसा धनपाल की 'पाइय लच्छी' में है। हेमचंद्र को अपनी रचना में शब्दों के उचित अर्थ देने में कठिनाई का सामना करना पड़ा है। फिर भी उसने दूसरों की गलतियाँ दिखाई हैं। ८ – १३,१७ में साराहयं और समुच्छणी शब्दों के निर्णय में विस्तृत वादविवाद करने के अनंतर एक निर्णय किया है। इस तरह हेमचंद्र ने प्राकृत साहित्य के विस्तृत ज्ञान के आधार पर बहुत से शब्दों का अर्थ निश्चित किया है यद्यपि उन्हीं शब्दों का पूर्ववर्ती लेखकों ने गलत अर्थ दिया है। १ – ४७ में उनका कहना है कि 'अयतंचिअं' शब्दरूप ही उचित है, 'अवअञ्चिअं' शब्द गलत है। वे बहुतर पुस्तक प्रामाण्यात्' के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। प्रत्येक समय मतभेद उपस्थित होने पर हेमचंद्र दूसरों द्वारा प्रदत्त अर्थों या शब्दरूपों का निर्देश करने में नहीं चूकते।

इसी प्रकार के और भी शब्द हैं जो संस्कृत से लिए गए हैं। वे उनकी विशेषता बताते हैं। वे हैं चोरः, सूकरः गवाक्षः, उदकम्, ऋतुमती और

२२. 'दे आर फाउंड एकार्डिंग टु दि मोर ऑकल्ट फोनेटिक-ग्रामैटिकल लॉज डिफरिंग फ्राम द ऑब्वियस वंस, ह्विच ग्रैमेरियंस एंबौडीड इन देयर व्याकरणाज' — पाइय लच्छी नाममाला, भूमिका।

भ्रू शब्द आदि। देशी नाममाला के बहुत से शब्द इसी प्रकार के हैं किंतु कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो आर्येतर हैं। उनका संस्कृत के अलावा और सभी शब्दों के साथ घनिष्ठ संबंध है। उनमें से बहुत से शब्द द्रविड़ शब्दों से संबंधित हैं, उदाहरणार्थ — उरो - टाउन के अर्थ में, चिक्का - छेरे के अर्थ में, तमिल शब्द छाणी (काउ डंग) गोबर, पुल्ली - दे० टाइगर के लिये, भावो - तेलगु बहनोई के अर्थ में, मम्मी - तमिल चाची के लिये, आदि बहुत से शब्द बताए जा सकते हैं। श्री के० अमृतराव ने सप्रमाण सिद्ध किया है कि 'देशी नाममाला' में बहुत से फारसी और अरबी के शब्द हैं।[23] सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी अरबी शब्दों की ओर संकेत किया है।[24] इस प्रकार हेमचंद्र ने देशी शब्दों के अंतर्गत न केवल संस्कृत शब्दों को ही रखा है अपितु संस्कृत से भिन्न (भारतीय और विदेशी) शब्दों का भी संनिवेश किया है। अगर हेमचंद्र प्रा० लट्ठी और हेट्ठं शब्दों को संस्कृत यष्टिः और अधः से लिया हुआ मानते हैं तो हम यह नहीं समझ पाते कि वे सभी देश्य शब्दों को संस्कृत शब्दों से उत्पन्न क्यों नहीं मानते, किंतु सर्वत्र ऐसी बात नहीं है। अतः अगर हम ऐसे शब्दों को छोड़ भी दें तो भी उनमें से बहुत से शब्द संस्कृत स्रोतों से व्युत्पन्न नहीं दिखाई पड़ते।

देशी शब्दों पर विचार करते हुए डा० ग्रियर्सन[25] ने कहा है कि प्राकृत के लिये स्वीकृत तद्भव शब्द ही 'देशी' शब्द कहलाएगा या भारतीय वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त स्थानीय शब्द भी देशी कहा जायगा। इस तरह वे सभी शब्द देशी के अंतर्गत लिए जायँगे जिनका वैयाकरण लोग संस्कृत से संबंध जोड़ने में प्रायः असमर्थ से रहे हैं। यद्यपि कुछ आधुनिक विद्वानों ने तद्भव शब्दों के समान देशी शब्दों को भी संस्कृत से व्युत्पन्न माना है तथापि यह बात पूर्णतया सत्य नहीं प्रतीत होती। देशी के कुछ शब्द अवश्य ही मुंडा या द्रविड़ भाषा से लिए गए हैं। फिर भी अधिकांश शब्द मूल प्राकृत से ही लिए हुए हैं। यह मूल प्राकृत भाषा बाद में समाप्त हो गई। साहित्यिक पाली या प्राकृत से इनका कोई संबंध नहीं है। अतः इन शब्दों का संबंध संस्कृत से जोड़ना नितांत भ्रम है। वस्तुतः जो शब्द तद्भव हैं, जिन्हें वैयाकरणों ने उस भाव में नहीं लिया है, उन्हें प्राचीन बोलियों का प्रतिनिधि नहीं माना जा सकता। सत्य तो यह है कि देशी शब्द स्थानीय बोलियों के रूप थे, और जैसी संभावना की जाती है, वे

२३. इंडियन ऐंटीक्वेरी, भाग १७, पृ० ९३ तथा आगे।
२४. जे०आर०ए०एस०, १९१४, पृ० २३५।
२५. डा० ग्रियर्सन।

अधिकांश शब्द गुजरात प्रदेश के साधारण साहित्य में प्रयुक्त भी होते थे। ऐसे शब्द मध्यदेश' की परिनिष्ठित संस्कृत की प्रकृति से काफी भिन्न थे। फिर भी उन शब्दों का संबंध तद्भव से जोड़ा जा सकता है।

इस प्रकार ग्रियर्सन महोदय का विश्वास है कि मूल प्राकृत की सुरक्षा कुछ न कुछ प्राकृत साहित्य में अवश्य है। वे शब्द न तो परिनिष्ठित संस्कृत से लिए गए हैं और न वैदिक संस्कृत से। अपितु वे उस मूल प्राकृत से लिए गए हैं जो वैदिक युग के आर्यों की बोली थी। उसी से वैदिक (छांदस) एवं परिनिष्ठित संस्कृत का विकास हुआ है। अतः देशी शब्द 'मध्य देश' के आस पास के प्रांतों की बोलियों से आए हुए शब्द थे। उन शब्दों में वैदिक एवं संस्कृत के प्रांतीय शब्द नहीं मिलते। अगर तत् पद से मूल प्राकृत का या संस्कृत का भाव लिया जाय तो उन देशी शब्दों में से अधिकांश शब्द तद्भव भी कहे जा सकते हैं। फिर भी 'देशी नाममाला' में कुछ शब्द तो द्रविड़ भाषा के भी हैं ही।

यहाँ विचार करने के लिये हमें द्रविड़ भाषाओं के व्याकरणों को भी देखना चाहिए कि कैसे इन शब्दों की व्याख्या उन भाषाओं में की गई है। उनसे पता चलता है कि जैसे प्राकृत व्याकरण में शब्दों को तीन विभागों में बाँटा गया है— तत्सम, तद्भव और देशी—वैसे ही द्रविड़ भाषाओं में भी तत्सम वे शब्द हैं जो बिना किसी परिवर्तन के संस्कृत भाषा में लिए गए हैं। उदाहरणार्थ तेलुगु—रामदु, विद्य, पित को वन, धन और वस्त्र; तमिल–कमलम्, कारणम् आदि अंतिम वर्ण को छोड़ कर यहाँ शब्दों में कोई ध्वन्यात्मक परिवर्तन नहीं दीखता। तद्भव का अर्थ है संस्कृत के वे शब्द जो ध्वन्यात्मक परिवर्तन के साथ द्रविड़ भाषाओं में घुल मिल गए हैं। ऐसे बहुत से परिवर्तन ठीक उसी प्रकार हुए हैं जैसे प्राकृत व्याकरण में पाए जाते हैं। तद्भव शब्दों के उदाहरण — तेलगु आकासमु सं० आकाश, मेगमु सं० मृग, वंकर सं० वक्र, पयाण सं० प्रयाण आदि। किंतु वे शब्द जो इन दोनों में नहीं आते, यानी जिनकी व्युत्पत्ति का पता नहीं चलता किंतु वे जनभाषा में प्रचलित हैं, देशी के अंतर्गत आएँगे। उदाहरण — तेलुगु उरु-शहर, भेद–दुतल्ला मकान, इलु–घर, होल–मैदान, आदि। इस तरह देशी का अर्थ हुआ, वे शब्द जिनका संस्कृत से किसी प्रकार का संबंध नहीं है और जो कहीं से भी लिए गए हैं किंतु संस्कृत के नहीं हैं। वे शब्द देश्य वर्ग के अंतर्गत रखे जाते हैं। यहाँ द्रविड़ वैयाकरणों का कथन ठीक उसी तरह है जिस तरह प्राकृत वैयाकरण अपना विचार रखते हैं। किंतु जहाँ पर इस तरह की समता है वहीं मतभेद भी है। जहाँ प्राकृत वैयाकरण संस्कृतभव प्रधान शब्दों को भी देशी में गिनते हैं और उनके लिये कोई कठोर नियम नहीं बनाते,

वहीं द्रविड़ भाषाओं के वैयाकरण सभी शब्दों का संस्कृत से नहीं के बराबर संबंध जोड़ते हैं। वस्तुतः द्रविड़ वैयाकरण देशी शब्द के विषय में मौन हैं। वे भी प्राकृत वैयाकरणों की तरह कहते हैं कि देशी की व्युत्पत्ति नहीं होती और वे भाषा के व्यवहार में प्रचलित हैं, उन्हें कवि लोग भी व्यवहार करते हैं।

यह सामान्यतया विश्वास किया जाता है कि परिनिष्ठित संस्कृत से जो शब्द साहित्यिक प्राकृत के लिये लिए गए हैं वे थोड़ा क्षेत्रीय (कोलोकियल) भाषा से भिन्न हैं। यही वास्तविक प्राकृत थी। कुछ देशी शब्द संभवतः प्राकृत के अस्तित्व में आने के पूर्व से ही बोलचाल की भाषा में उपलब्ध थे। वे शब्द क्षेत्रीय भाषाओं से लिए गए और क्षेत्रीय (कोलोकियल) भाषाएँ कभी भी साहित्य में मान्य नहीं रहीं। अतः उनसे हमारा लाभ नहीं हो सकता। हम यह भी संभावना कर सकते हैं कि भारत में आर्य लोग सहसा एक ही साथ नहीं आए। दो समूहों में आने के समय के बीच जो मध्यांतर हुआ, उस समय में कुछ शब्दों का व्यवहार उन आर्यों के घरों में समाप्तप्राय हो गया था। पुराकाल में जिस द्वितीय समूह के लोगों ने इस देश में प्रवेश किया, उन लोगों ने उन शब्दों की रक्षा की जिन्हें पूर्ववर्ती प्रथम समूह के लोगों ने छोड़ दिया था। इन दोनों वर्गों के शब्दों के विषय में जे० बीम्स[२६] ने कहा है कि यद्यपि वे शब्द भारतीय साहित्य में प्रयुक्त नहीं होते थे फिर भी जनता उन शब्दों का प्रयोग करती थी; यहाँ तक कि सामान्य कृषकों द्वारा भी कभी कभी उनका प्रयोग होता था। इन सभी कारणों पर विचार करते हुए हम देशी शब्द की प्रकृति के संबंध में संभावित अनुमान करते हैं कि वे सभी आर्य शब्द हैं अथवा मूल में वे भारोपीय थे। परिनिष्ठित संस्कृत की शब्दावली के लिये वे उपयोगी सिद्ध नहीं हो सके। कुछ शब्दों के विषय में दोनों — संस्कृत और प्राकृत—जानकारी नहीं रखते। वे शब्द समय के परिवर्तन के साथ परिवर्तित होते गए और हमारे समक्ष उनके विषय में किसी भी प्रकार की जानकारी नहीं आ पाती। कुछ देशी शब्दों का ज्ञान हमें प्राकृत और संस्कृत के व्याकरणों से होता है। हेमचंद्र ने बहुत से प्राकृत शब्दों को संस्कृत से व्युत्पन्न माना है जिन्हें दूसरे वैयाकरणों ने विशुद्ध देशी कहा है।

२६. 'दो नाट यूज्ड इन इंडियन लिटरेचर, दे मे हैव बीन इन यूस इन दि मोस्ट आव् दि पीपुल ऐंड मे बी करेंट अंडर सम स्लाइट डिस्गाइज इन दि माउथ आव् लिथुआनिअन पेजेंट्स इवेन.येट।'—कंपैरेटिव ग्रामर आव् आर्यन लैंग्वेजेज इन इंडिया, पृ० २४।

अभी विचार किया जा चुका है कि कुछ देशी शब्द प्राकृत से, कुछ भारोपीय वर्नाक्युलर से और कुछ द्रविड़ भाषाओं की बोलियों से लिए गए हैं। द्रविड़ भाषाओं में देशी शब्द उच्चारणध्वनि के विशेष अंग समझे जाते हैं। किंतु देशी शब्द के मूल के विषय में पूर्ववाली दृष्टि भाषाविषयक वंचना ही कही जा सकती है जो उनका मौलिक उत्तराधिकार समझा जाता है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि भारोपीय[२७] वर्नाक्युलर की बोली से देशी शब्द लिए गए हैं और तत्सम तथा तद्भव के बगल में रख दिए गए हैं। परिणामस्वरूप सभी द्रविड़ भाषाओं की ध्वनियाँ भारोपीय भाषाओं से ली गई हैं। इस तरह, दक्षिण भारत के भाषा-वैज्ञानिकों के अनुसार, द्रविड़ और भारोपीय भाषाओं का आंतरिक संबंध घनिष्ठ हो गया। इन सभी दृष्टियों से द्रविड़ लोग हमारे देश में आर्यों से पूर्व आए हुए माने जाते हैं। किंतु द्रविड़ भाषाओं के व्याकरणों का ढाँचा बिल्कुल भिन्न तरीके का है। वाक्यनिर्माण की द्रविड़ पद्धति में पूरक क्रिया सदा अंत में आती है। यह पद्धति पुरानी भारोपीय रचना से भिन्न है। उसमें शब्दों का अनुशासन बहुत कम होता है। किंतु आधुनिक आर्यभाषा और द्रविड़ परिवार की भाषाओं में समता सी दीखती है।

निष्कर्ष यह कि बहुत कुछ संभावना इस बात की है कि बहुत से देशी शब्द आर्य हैं भले ही मूल में वे संस्कृत के शब्द न हों। किंतु उनका कोई स्थान जरूर रहा होगा। वह छोटा हो सकता है। द्रविड़ों के लिये यही मूल साधन है। इस देश में प्रवेश करने पर आर्यों ने यहाँ विभिन्न जातियों द्वारा अधिकृत स्थानों को देखा और बहुत शताब्दियों तक निरंतर संघर्ष करने के बाद, भारत के विस्तृत भूभाग पर अपना अधिकार जमाया। पहले से अधिकार किए हुए लोगों में से कुछ लोग आर्यों में घुल मिल गए और उन लोगों ने अपनी भाषाओं से उनकी भाषाओं को प्रभावित किया। विजित जातियों पर अधिकार करनेवाले आर्य लोग अधिक बुद्धिमान थे। उन लोगों ने अपनी भाषाओं के शब्दों को मरने नहीं दिया, यद्यपि उन लगों ने विजित जातियों के शब्दों को भी ग्रहण कर लिया था। इस विचारधारा के अनुसार और इसमें सच्चाई होने के कारण देशी प्राकृत में दोनों प्रकार के, आर्य और अनार्य, शब्द पाए जाते हैं।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि देशी में बहुत से शब्द मूल संस्कृत के हैं। इन दोषों को स्वीकार करते हुए भी इतना तो कहना ही

२७. पिशेल : 'देशी नाममाला', सन १९३८, भूमिका, अनु० वेंकेट रामानुजम, पृ० १०।

पड़ता है कि शताब्दियों के प्रयोग से वे सबके सब शब्द खो गए हैं। वैयाकरणों द्वारा स्वीकृत ध्वनिशास्त्र के नियमों के अनुकूल वे शब्द नहीं पड़ते। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि उन शब्दों का परिनिष्ठित संस्कृत के साथ संबंध नहीं बैठ पाता। दूसरे प्रकार के शब्द भारोपीय हो सकते हैं, भले ही वे शब्द मूल संस्कृत के न हों। वे शब्द थोड़े से परिवर्तन के साथ भारोपीय की दूसरी जातियों की बोलियों में पाए जाते हैं। उसका थोड़ा सा भाग भारोपीय से इतर जातियों की भाषा में पाया जाता है। वे जातियाँ आर्यों के प्रवेश के पूर्व यहाँ थीं। हेमचंद्र के 'देशी नाममाला' में अरबी और फारसी के भी शब्द पाए जाते हैं जो हेमचंद्र से कुछ पूर्व देश की प्रचलित भाषाओं में घुल मिल गए थे।

उपर्युक्त बातों से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि साहित्यिक भाषाएँ सदा और सर्वत्र जनभाषा से ही विकसित हुई हैं। जनभाषा की तुलना बहती हुई नदी से की जा सकती है जो स्थान स्थान पर बदलती हुई भी सदा एक धारा के समान प्रवाहित होती रहती है। साहित्यिक भाषाओं की तुलना शाखाओं से भी की जा सकती हैं या किसी नहर से भी उसकी तुलना की जा सकती है। नहर की धारा का बहाव सदा सीमित होता है। उसकी धारा अपने ही स्थान पर घूम फिरकर चलती रहती है। इस तरह साहित्यिक भाषाएँ जनभाषारूपी माँ बापवाली नदी से पृथक् होकर धीरे धीरे उनसे अपनी सत्ता पृथक् कर लेती हैं और अंत में उसका जनभाषा से बिलगाव हो जाता है। बिलगाव हो जाने पर जनभाषा इतनी निर्मल हो उठती है कि वह जनसाधारण के लिये बहुत ही उचित तथा बुद्धिमत्तापूर्ण प्रतीत होने लगती है। यथार्थतः भाषा का कार्य है जनता के विचारों को समाज के समक्ष स्पष्टतया प्रकट करना। जब कभी साहित्यिक भाषा जनसाधारण से दूर हो जाती है और कुछ शिक्षितों की भाषा हो जाती है तो वह कुछ काल के बाद समाप्त हो जाती है। इस बात की पुष्टि संस्कृत, प्राकृत एवं आधुनिक आर्यभाषाओं से की जा सकती है। भारतीय आर्यों की मूल भाषा की सफलता का पता बहती हुई नदी की भाँति प्राकृत से किया जा सकता है। उस समय की साहित्यिक भाषा वैदिक, परिनिष्ठित संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि थीं। नाटकों की प्राकृत बोलियाँ, साहित्यिक अपभ्रंश न० भा० आ० भाषा की साहित्य में सफलता तत्कालीन विभिन्न प्रांतीय प्राकृत बोलियों से हुई है और पुरानी साहित्यिक भाषाएँ क्षीण होकर मरती गई हैं।

तद्भव शब्दों की भेदकता तीन रूपों में की जाती है। १ – संस्कृत के कुछ शब्दरूप ऐसे हैं जिनमें मुख्य अक्षरों का लोप हो जाता है। २ – कुछ शब्दरूप ऐसे हैं जिनके स्थान पर दूसरे शब्द प्रयुक्त होकर उसी पूर्ववर्ती शब्द का अर्थ देते हैं। ३ – अन्य रूप वैकल्पिक अक्षरों का है जो संस्कृत

रूपों में नहीं पाया जाता। इसी बात को प्राकृत वैयाकरणों ने क्रमशः वर्णलोप, वर्णादेश तथा वर्णागम कहा है। इस तरह वैयाकरणों के वर्णन करने की अपनी प्रणाली थी। यद्यपि शब्दरूपों के परिवर्तन की यह स्थिति प्राकृत के पूर्व संस्कृत में भी थी, तथापि उसकी प्रक्रिया वहाँ दूसरे ढंग की मानी गई है। अतः तद्भव में भी विभिन्न प्रकार की बोलियों के शब्द पाए जाते हैं। डा० हार्नले[२८] ने तद्भव की प्रथम पद्धति को सिद्ध तद्भव माना है तथा दूसरे प्रकार के तद्भव को साध्यमान तद्भव। प्रथम सिद्ध तद्भव की सिद्धि विनष्ट तद्भव की भाँति है और बाद के तद्भव पुराने तद्भवों की भाँति हैं। यह तद्भव संबंधी निष्कर्ष या तो विभिन्न प्रकार की बोलियों की व्याख्या से सिद्ध हो सकता है अथवा परवर्ती संस्कृत शब्दों के परिचय से। अतः तद्भव के विभिन्न प्रकार के रूपों का अनुमान परवर्ती काल की साहित्यिक प्राकृत की मूल बोली के शब्दों से किया जा सकता है। ये अधिकांश तद्भव शब्द प्राकृत के मूल रूपों से क्षीण होकर बने हुए रूप हैं। विशुद्ध तद्भव शब्दों की अपेक्षा वे शब्द बहुत अधिक क्षीणावस्था के थे और प्रत्यक्षरूपेण संस्कृत से उन शब्दों का परिचय नहीं था, जब कि तत्सम शब्द प्रत्यक्षरूपेण संस्कृत से साहित्यिक प्राकृत में आए थे। तत्सम शब्दों में भी तद्भव की भाँति विभिन्न प्रकार के शब्दों की क्षीणावस्था का पता लगता है। उसका पता हम तत्सम शब्दों के साथ संस्कृत शब्दों की तुलना करके लगा सकते हैं। अस्तु मुरलीधर[२९] बनर्जी का कहना है कि प्राकृत वैयाकरणों ने संस्कृत के आधार पर आगम और आदेश के द्वारा प्राकृत बोलियों में विभिन्न प्रकार के परिवर्तनों की व्याख्या की है जो कृत्रिम है और काल्पनिक भी। ये नियम केवल व्याकरणसंबंधी नियमपालन के लिये किए गए थे। भरत मुनि ने अपने नाट्यशास्त्र के १७ - २४ अध्याय में १८ देशी भाषाओं का वर्णन किया है जो विभिन्न प्रांतों की बोलियों के तद्भव रूप मालूम पड़ते हैं। निश्चय ही वे शब्द संस्कृत से आए हुए प्रतीत नहीं होते।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, कुछ देशी शब्द आर्येतर भाषाओं के हैं। किंतु इससे यह अंतिम निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि देशी शब्द आर्येतर ही हैं। बहुत संभव है कि देशी शब्द, जिनकी व्युत्पत्ति का अनुमान प्रायः संस्कृत शब्दों से नहीं किया जा सकता, विभिन्न देशी भाषाओं से आए हों। यह संभव हो सकता है कि वे शब्द मूल प्रारंभिक आर्यों के प्रांतीय शब्द रहे हों,

२८. कंपैरेटिव ग्रामर आव् दि माडर्न इंडियन् लैंग्वेजेज, भूमिका पृ० ३८।
२९. देशी नाममाला, भूमिका, पृ० ३०।

जो आधुनिक आर्यभाषाओं में इस प्रकार से घुल मिल गए हैं कि उनका पता लगाना असंभव सा प्रतीत होता है। संस्कृत में कोई भी देशी शब्द की चर्चा नहीं करता। क्योंकि संस्कृत तो 'मध्यदेश' की भाषा से अभिवृद्ध हुई थी। वही बाद में शौरसेनी के साहित्यिक रूप में सुरक्षित रही। इसी बात को थोड़ा सा परिष्कृत रूप देकर श्री सेठ हरगोविंददास[30] ने कहा है कि वैदिक और लौकिक संस्कृत भाषा पंजाब और मध्यप्रदेश में प्रचलित वैदिक काल की प्राकृत भाषा से उत्पन्न हुई। पंजाब और मध्यप्रदेश के बाहर के अन्य प्रदेशों में उस समय आर्य लोगों की जो प्रादेशिक प्राकृत भाषाएँ प्रचलित थीं उन्हीं से देशी शब्द गृहीत हुए हैं। यही कारण है कि वैदिक और संस्कृत साहित्य में देशी शब्दों के अनुरूप कोई शब्द (प्रतिशब्द) नहीं पाया जाता है। पिशेल महोदय[31] का भी यही कथन है कि देशी शब्दों में ऐसे शब्द भी आ गए हैं जो स्पष्टतया संस्कृत मूल तक पहुँचते हैं किंतु उनका संस्कृत में कोई ठीक ठीक अनुरूप शब्द नहीं मिलता, वे भी देशी शब्दों में संकलित कर लिए गए हैं।

इस प्रकार अगर किसी देशी शब्द की व्युत्पत्ति का पता आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के प्रारंभिक शब्दों से नहीं चलता और अगर उन्हीं शब्दों का पता आर्येतर भाषाओं के परवर्ती साहित्य में लग जाता है तब भी कोई अंतिम निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता और देशी शब्दों के विषय में अंतिम सैद्धांतिक[32] मत की स्थापना नहीं की जा सकती। 'देशी नाममाला' में कुल ३६७८ देशी शब्द हैं जिनकी निम्नलिखित श्रेणियाँ हैं :

तत्सम	१००
उपेक्षित तद्भव	१८५०
संदेहास्पद तद्भव	५२८
देशी	१५००
कुल योग	३६७८

१५०० देशी शब्द तद्भव नहीं मालूम पड़ते। प्रो० मुरलीधर बनर्जी का कहना है कि इनमें ८०० शब्द आधुनिक भारतीय वर्नाक्युलर भाषा में कुछ परिवर्तन के साथ पाए भी जाते हैं। ये आदिम आर्यों के मूल शब्द हैं, अवशिष्ट ७०० देशी, आर्येतर मूल शब्दों से संबंधित हो सकते हैं।

३०. पाइय सद्दमहण्णवो, कलकत्ता, संवत् १९८९, भूमिका, पृ० ६।
३१. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, भूमिका ४, पृ० १३।
३२. ट्रांसेक्शनल प्रोसीडिंग्ज ऑव दि इंटरनेशनल कांग्रेस ऑव ओरियंटैलिस्ट', जिल्द

क्या देशी ही अपभ्रंश भाषा थी ?

'कुवलयमालाकहा' में जिन १८ देशी भाषाओं का वर्णन आया है उसे एल० बी० गांधी महोदय[33] ने अपभ्रंश के अंतर्गत ही संनिविष्ट किया है। रुद्रट[34] ने 'काव्यालंकार' में देशविशेष के भेद से अपभ्रंश के बहुत से भेद किए हैं। विष्णु धर्मोत्तर[35] में भी कहा गया है कि देशों में विभिन्न प्रकार के जो भेद पाए जाते हैं, उन्हें लक्षण के द्वारा नहीं बताया जा सकता। अतः लोक में जिसे हम अपभ्रष्ट कहते हैं उसी को देशी कहना चाहिए। वाग्भट[36] ने अपभ्रंश को विभिन्न देश की भाषा माना है। यही बात रामचंद्र और गुणचंद्र[37] ने भी कही है। आधुनिक काल में डा० हीरालाल जैन[38] ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वस्तुतः देशी भाषा और अपभ्रंश भाषा एक ही है। अपनी बात की पुष्टि में उन्होंने कीर्तिलता का यह पद उद्धृत किया है :

दसिल वअना सब जन मिट्ठा।
तैं तैसन जम्पओ अवहट्ठा ॥

इसमें वर्णित 'देसिल वअना' और 'अवहट्ठ' को उन्होंने एक ही भाषा से संबंधित माना है। यद्यपि इस मत पर डा० ब्यूल्स ब्लॉख ने शंका प्रकट की थी, फिर भी डा० जैन ने उन चरणों का संस्कृत अनुवाद कर —

'देशी वचनानि सर्वजनमिष्टानि।
तद् तादृशं जल्पे अपभ्रष्टम् ॥

१, १८८३ में रिचर्ड मोरोज एम० ए०, एल० डी० का 'पाली, संस्कृत और प्राकृत के तत्व' नामक शीर्षक।

३३. अपभ्रंश काव्यत्रयी, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज पृ० ६६,।

३४. षष्ठोऽत्रभूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः, २, १२।

३५. देशेषु देशेषु पृथग्विभिन्नं न शक्यते लक्षणतस्तु वक्तुम्।
लोकेषु यत् स्यादपभ्रष्टसंज्ञं ज्ञेयंहि तद्देश विदोऽधिकारम् ॥
—विष्णुधर्मोत्तर, सं०३, अ० ७।

३६. अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्।—काव्यालंकार २, ३।

३७. 'स्वोपज्ञ विवरोपेतनाट्यदर्पण' पृ० १२४—'देशस्य कुरुमागधादेरुद्देशःप्रकृतत्वं तस्मिन् सति स्व स्वदेशसंबंधिनी भाषा निबंधनीयेति। इयंच देशगीश्च प्रायोऽपभ्रंशे नियतीति।

३८. 'पाहुड़ दोहा' की भूमिका, पृ० ३३ – ४६।

यह आग्रह प्रकट किया कि देशी ही अपभ्रष्ट है। उन्होंने तादृशं का अर्थ तदेव के भाव में किया है 'तद्वद्' के अर्थ में नहीं। अतः उनके अनुसार अपभ्रंश और देशी एक वस्तु है।

यह सच है कि पतंजलि ने अपभ्रंश का प्रयोग संस्कृत से इतर सभी भाषाओं के लिये किया है — उसमें अर्धमागधी, शौरसेनी और महाराष्ट्री आदि सभी आ जाती हैं। किंतु यह स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत वैयाकरणों ने 'अपभ्रंश' का प्रयोग सदा भ्रष्ट के अर्थ में किया है, किसी विशिष्ट भाषा के अर्थ में नहीं। इस बात की पुष्टि दंडी के 'काव्यादर्श' से भी होती है —

आभीरादि गिरः काव्येषु अपभ्रंश इति स्मृता।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यत् अपभ्रंश तयोदितम्॥

उपर्युक्त दूसरे चरण से पूर्वोक्त कथन की पुष्टि होती है। यहाँ पर शास्त्र पद से 'व्याकरण' ही समझना चाहिए। परंतु प्रथम चरण से यह स्पष्ट है कि अपभ्रंश एक भाषा है जो काव्य में प्रयुक्त होती थी। मुख्यतया यह आभीरादि लोगों की भाषा थी। अर्थात् अपभ्रंश एक सुनिश्चित रूपवाली भाषा थी जिसका अपना साहित्य तथा व्याकरण था। देशी की व्याख्या में हम देख चुके हैं कि 'देशी' का प्रयोग एक विशेष पारिभाषिक रूप में होता था। भरत मुनि ने 'नाट्यशास्त्र' के १७ वें अध्याय में जो देश भाषा का प्रयोग किया है वह वस्तुतः तत्तद् विशिष्ट देशों की बोलियों के लिये किया है। दूसरे रूप में कहना चाहें तो यह कह सकते हैं कि वे भाषाएँ उस उस प्रदेश की जनभाषा थीं। अपभ्रंश भाषा के भी जैसा कि सभी साहित्यिक भाषाओं में होता है दो रूप थे (१) साहित्यिक भाषा, जो कि शिष्टों की भाषा होती है, (२) ग्राम्य भाषा या बोली जो कि सर्वसाधारण जनता की होती है। इस बात की पुष्टि आचार्य हेमचंद्र के काव्यानुशासन (अ० ८, ३३० - ७) से होती है — 'अपभ्रंशभाषा निबद्ध सन्धि बन्धमब्धि मथनादि, ग्राम्यापभ्रंश भाषानिवन्धावस्कन्ध कचन्वभीमकाव्यादि।' अतः 'देसिलवअन' का प्रयोग जा अवहट्ठ के साथ किया गया है उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि यह भाषा एक समय जनसाधारण की भाषा थी। और उस प्रकार की भाषा में कवि ने काव्य करने में गर्व का अनुभव किया क्योंकि विद्यापति मैथिल कवि थे। उनके गीतों की भाषा तथा कीर्तिलता की भाषा में अंतर पाया जाता है। यद्यपि कीर्तिलता में पूर्वी प्रयोग हैं किंतु वह गीतों की भाषा का प्रतिनिधित्व नहीं करती। अतः पूर्वोक्त उदाहरणों से देश भाषा जनसाधारण की (ग्राम्य) भाषा ही प्रतीत होती है। यह साधारण समाज में तथा-कथित निम्नवर्गवालों की भी एक भाषा कही गई है। भरत मुनि ने (अध्याय १७) भाषा तथा विभाषा दो प्रकार की भाषाओं का प्रयोग किया है।

भाषा के अंतर्गत सात भाषाओं का उल्लेख किया है — मागधी, आवंती, प्राच्या, सूरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दाक्षिणात्या और विभाषा के अंतर्गत शबर, आभीर, चांडाल, सचर, द्रविड़, उद्रज, हीन बनेचरों की भाषाएँ। जिस विभाषा का प्रयोग भरत मुनि ने किया है वह सुसभ्यों की भाषा नहीं थी। वह वस्तुतः अपढ़ असभ्यों की भाषा थी। उस भाषा को बोलनेवालों में आभीर आदि आते हैं। भरत मुनि से परवर्ती दंडी ने आभीर आदि की भाषा को अपभ्रंश कहा है जो कि साहित्य में प्रयुक्त होती थी। इन समस्त विचारों के होते हुए भी देशी भाषा के अंतर्गत समस्त भाषाएँ एवं विभाषाएँ आ जाती थीं। जो कुछ भी हो, देशी और अपभ्रंश एक ही ही वस्तु नहीं थी। यदि होती तो फिर अपभ्रंश व्याकरण में हेमचंद्र के देशी आदेश करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता। दूसरी ओर हम हेमचंद्र के अपभ्रंश सूत्रों में उद्धृत दोहों से पता लगा सकते हैं कि देशी शब्दों की अपेक्षा तत्सम और तद्भव शब्द कहीं अधिक प्रयुक्त हुए हैं।

वस्तुतः भाषा कवियों ने प्रारंभ से ही अपने काव्य को देशी भाषा का काव्य कहा है। कुछ प्राकृत कवियों ने भी अपने काव्य को देशी भाषा का काव्य कहा है। 'तरंगवाई कहा'[1] के लेखक पादलिप्त ने ५०० ई० के आस पास अपनी प्राकृत भाषा को 'देसी वयण' कहा है। ७६६ ई० के उद्योतन[2] ने 'कुवलयमालाकहा' में महाराष्ट्री प्राकृत को ही देशी कहा है। कोऊहल[3] ने भी 'लीलावाई काव्य में उसी महाराष्ट्री प्राकृत को देशी भाषा कहा है। यद्यपि 'लीलावाई में देशी शब्द मिलते हैं फिर भी एक स्थान पर कवि ने 'देशी भाषा' को ही प्राकृत भाषा कह डाला है —

एमेय यद्दजुयई मनोहरं पाययाएं भासाए।
पविरल देसी सुलक्खं कहसु कहं दिव्व माणुसियं॥

लीलावाई गाहा, ४१।

१. पालित्तएण रइया वित्थरओ तहय देसीवयणेहिं।
नामेण तरंगवईकहा विचित्ताय विउलाय॥
२. पायय भासारइया मरहट्ठय देसी वयण णिवद्धौ।
(डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा, लीलावाई की भूमिका से उद्धृत)।
३. भणियं च पियय भाए रइयं मरहट्ठ देसी भासाए।
अंगाइ इमीय कहाएं सज्जणासंग जोड माई॥
(लीलावाई गाहा, १३३०)।

अपभ्रंश कवियों ने भी अपनी भाषा को देशी कहा है। स्वयंभू ने अपने 'पउमचरिउ' में अपनी कथा की भाषा को 'देसी भाषा' कहा है :

दीह - समास - पवाहालंकिय, सक्कय - पायय - पुलिणालंकिय।
देसी भासा - उभय तडुज्जल, कविदुक्कर घणसद्द सिलायल॥

इस पर डा० हीरालाल[1] जैन का कहना है कि यद्यपि यहाँ पर स्पष्ट नहीं कहा गया है कि प्रस्तुत ग्रंथ को कवि ने किस भाषा में रचा है किंतु श्री जैन के मत में 'देशी भाषा' से कवि का अभिप्राय अपने काव्य की भाषा से है। कवि पुष्पदंत[2] (६६५ ई०) ने अपने महापुराण की भाषा के लिये देशी का प्रयोग किया है। १० वीं शताब्दी के पद्मदेव ने 'पासणाह चरिउ'[3] (पार्श्वनाथ चरित) को देसी सद्दत्थगाढ़' (देशी शब्द व अर्थ से गाढ़) कहा है। उसने स्पष्ट रूप से कहा है कि यद्यपि व्याकरण और देशी शब्द तथा अर्थ से गाढ़ आदि लक्षणों से युक्त काव्य दूसरे कवियों ने भी लिखे हैं, तो भी क्या उनकी शंका से दूसरा कोई अपना भाव प्रकट न करे। तात्पर्य यह कि देशी शब्दों में अनेक काव्य उच्चकोटि के बन चुके हैं तथापि मैं भी देशी शब्दों में काव्य बनाने का साहस कर रहा हूँ। संदेश-रासककार अब्दुल रहमान ने काव्य के आरंभ में नम्रता प्रकट करते हुए कहा है कि जो लोग पंडित हैं वे तो मेरे इस कुकाव्य पर कान देंगे ही नहीं और जो मूर्ख हैं – अरसिक हैं – उनका प्रवेश मूर्खता के कारण इस ग्रंथ में हो ही नहीं सकेगा। इसलिये जो न पंडित हैं, न मूर्ख हैं, अपितु मध्यम श्रेणी के हैं, उन्हीं के सामने हमारी कविता सदा पढ़ी जानी चाहिए—

णहु रहइ बुहा कुकवित्तरेसि,
अबुहत्तणि अबुहहणहु पवेसि।
जिण मुक्खण पंडिय मज्झयार,
तिह पुरउ पढ़िव्वउ सव्ववार॥

१. पाहुड़ दोहा, भूमिका, पृ० ४३।

२. णं विणाभिदेसी - महापुराण। १,८,१०।

३. वायुरणु देसि सद्दत्थगाढ, छंदालंकार विसाल पोढ।
ससमय - परसमय - वियारसहिय, अवसद्दवाय दूरेण रहिय॥
जइ एव माइ - बहुलक्खणेहिं, इह विरइय वियक्खणेहिं।
ता इयर कईयण संकिएहिं, पयडिव्वउ किं अप्पउ ण तेहिं॥
पाहुड़ दोहा, भूमिका, पृ० ४४।

इस पर पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी[1] का कहना है कि यह काव्य बहुत पढ़े लिखे लोगों के लिये न होकर ऐसे रसिकों के लिये है जो मूर्ख तो नहीं हैं पर बहुत अधिक अध्ययन भी नहीं कर सके हैं।

इस प्रकार पूर्वोक्त कवियों की बातों पर ध्यान देने से यही प्रतीत होता है कि 'देशी' शब्द का प्रयोग जनभाषा के रूप में प्रयुक्त हुआ है। प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों ने अपने काव्य को देशभाषा यानी जनभाषा के रूप में प्रयुक्त किया है। श्री एल० बी० गांधी तथा डा० जैन का यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता कि देश भाषा और अपभ्रंश भाषा एक ही हैं।[2] यह अवश्य है कि अपभ्रंश भाषा जनभाषा के बहुत समीप है। अपभ्रंश साहित्य में देशी शब्दों की प्रधानता है। किंतु यह शब्द किसी विशिष्ट भाषा के लिये रूढ़ नहीं हुआ था।[3] हिंदी के कवियों ने भी अपने काव्य को देश भाषा यानी जनभाषा कहा है। गो० तुलसीदास ने भी मानस की भाषा को 'भाषा' कह कर पुकारा है। अतः देशी या देशभाषा का प्रयोग समसामयिक भाषा काव्य के लिये प्रयुक्त हुआ है। देशी यानी देशी भाषा का प्रयोग प्राकृत[4] के लिये भी हुआ। देशी या देशी भाषाएँ (प्रादेशिक भाषाएँ) भिन्न भिन्न प्रदेशों के निवासी आर्य लोगों की कथ्य भाषाएँ थीं। पं० हरगोविंद-दास[5] के शब्दों में देशी भाषाओं का पंजाब और मध्यदेश की कथ्य भाषा के साथ अनेक अंशों में जैसे सादृश्य था वैसे किसी किसी अंश में भेद भी था। जिस जिस अंश में इन भाषाओं का पंजाब और मध्यदेश की प्राकृत भाषा के साथ भेद था उसमें से जिन भिन्न भिन्न नामों ने और धातुओं ने प्राकृत साहित्य में स्थान पाया है वे ही हैं प्राकृत के देशी वा देश्य शब्द।

अपभ्रंश के देशी आदेश तथा 'देशी नाममाला' के देशी शब्दों से तुलना

हेमचंद्र के देशी आदेश और देशी का क्या संबंध है, यह भी विचारणीय प्रश्न है। व्याकरण में 'आदेश' और 'आगम' का प्रयोग विशेष पारिभाषिक अर्थ

१. हिंदी साहित्य का आदिकाल पृ० ४२, बिहार राष्ट्रभाषा संस्करण, सन् १९५२ ई०।
२. अपभ्रंश काव्यत्रयी, पृ० १३।
३. पाहुड़दोहा, की भूमिका, पृ० ४६।
४. चंड 'प्राकृतलक्षणम्' पृ० १ – २ – 'सिद्धं प्रसिद्धं प्राकृतं त्रेधात्रिप्रकारंभवति संस्कृतयोनि···, संस्कृत समं··, देशी प्रसिद्धंतच्चेदं हर्षितं=ल्हसिअं।
५. 'पाइय सद्दमहण्णवो भूमिका पृ० ६।

में होता है। साधारणतः संस्कृत के पंडित लोग इन पारिभाषिक शब्दावलियों की व्याख्या करते हुए कहते हैं 'आगम मित्रवद्भवति' और 'आदेशः शत्रुवद्भवति'। आगम से वर्णों में विकार भर होता है किंतु आदेश किसी शब्द के स्थान पर होता है अर्थात किसी 'शब्दप्रयोग के स्थान पर कोई दूसरा शब्दप्रयोग होता है'। परंतु अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता। संस्कृत वैयाकरणों के यहाँ कहा जाता है कि जैसे गुरु[1] के स्थान पर यदि गुरुपुत्र को बिठाया जाय तो उसके साथ भी गुरुवत् व्यवहार होता है उसी प्रकार जिस शब्द के स्थान पर जो आदेश होता है उसमें भी वे ही भाव होते हैं जो कि पहले में थे। हेमचंद्र ने अपने अपभ्रंश व्याकरण में कुछ देशी आदेश किए हैं जो कि तत् तत् संस्कृत शब्दों के अर्थों के द्योतक हैं। इसके साथ ही अपभ्रंश दोहों में कुछ ऐसे भी देशी आदेश पाए जाते हैं जिनका कि सूत्रों द्वारा आदेश नहीं किया गया है पर वे हैं देशी ही।

हेमचंद्र ने देशी नाम माला[2] में लिखा है कि देशी सिद्धार्थ शब्दानुवाद-परक होता है किंतु धात्वादेश साध्यार्थ परक है। प्राकृत व्याकरण के ८वें अध्याय में धात्वादेश किए गए हैं जिन्हें हेमचंद्र ने देशी धात्वादेश माना है। फिर भी उन धात्वादेशों का देशी नाममाला में उल्लेख करना उचित नहीं समझा गया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने कुछ ऐसे शब्दों को भी जो कि क्रिया वाची हैं तथा जिनका प्रयोग तिङंत की भाँति होता है किंतु उन्हें व्याकरण के धात्वादेश में नहीं पढ़ा है और देशी नाम माला में संग्रह कर लिया है। हेमचंद्र का कहना है कि वह देशी शब्दों की धातुओं पर ध्यान नहीं देता परंतु वह उनमें से कुछ शब्दों को ले लेता है। इस कार्य में वह पूर्ववर्ती लेखकों का अनुसरण करता है। १–१३ में अज्झस प्राकृत शब्द को संस्कृत धातु आक्रुश से व्युत्पन्न मानता है। पूर्वाचार्यों की संमति के कारण अज्झस्सं=आक्रुटं को संकलित कर लिया है। दे० ना० मा० ४–११ में डोला को देशी शब्द कहा है। किंतु उसने प्राकृत० व्या० ४, १, २१७

१. देखिए 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' सूत्र पर पतंजलि महाभाष्य की टीका।

२. 'देशी नाममाला वर्ग १, श्लो० ३७ की वृत्ति–'एते धातवः धात्वादेशेषु शब्दानुशासनेऽस्माभिरुक्ता इति नेहोपात्तः। नच धात्वादेशानां देशीषु संग्रहोपयुक्तः। सिद्धार्थ शब्दानुवाद पराहि देशी, साध्यार्थ पराश्च धात्वादेशाः। दे० ना० मा०, वर्ग५, श्लोक २४; 'यद्यप्येते क्रिया वाचिनस्तथापि त्यादिषु प्रयोग दर्शनाद्धात्वादेशेष्वस्माभिर्नपठिता-इत्यत्र निबद्धाः। दे० ना० मा० १, १०–यद्यप्येते त्रयोऽपि क्रियावाचिनस्तथापि त्यादिषुं प्रयोग दर्शनाद्धात्वादेशेष्वस्माभि न पठिता इत्यत्रनिबद्धाः।

में इसे संस्कृत दोला से व्युत्पन्न माना है। दे० ना० मा० ५-२६ में उसने थेरो शब्द को ब्रह्माण अर्थ में देशी माना है किंतु उनके प्रा० व्याकरण १-१६६ में यह संस्कृत स्थविर से व्युत्पन्न है। इन दोषों से अपने को मुक्त करते हुए हेमचंद्र ने कहा है कि हमने ऐसे शब्दों को एकत्र किया है जो कि 'संस्कृतेष्वप्रसिद्धेः' या 'संस्कृतानभिज्ञ प्राकृतज्ञंमन्य दुर्विदग्ध जनावर्जनार्थम्' हैं। हेमचंद्र ने बहुत से देशी शब्दों को देशी नाम माला में संकलित किया है जो कि संस्कृत से व्युत्पंन हैं। इसके अतिरिक्त हेमचंद्र ने आहित्थ, लल्लक्क, विड्डिर आदि ऐसे शब्दों को भी संकलित किया है जिन्हें उसने स्वतः अपने व्याकरण ४-१७-४ में प्रांतीय शब्द गिनाया है-महाराष्ट्र विदर्भादि देश प्रसिद्धा। इस तरह हम देखते हैं कि न तो उसने और न उसके उत्तराधिकारियों ने ही स्वतः स्थापित देशी शब्द की व्याख्या के अनुसार कार्य किया है। प्रतीत होता है कि उन्होंने तथा और लोगों ने देशी शब्द को बहुत विस्तृत पैमाने में लिया है। ऐसा मालूम पड़ता है कि उन लोगों ने प्राकृत बोली के सभी शब्दों को जो उनके समय में प्रचलित थे, देशी के अंतर्गत मान लिया है।

यहाँ पुनः धात्वादेश या क्रियारूप की प्रकृति पर प्रश्न उठ खड़ा होता है। कुछ लेखकों ने स्पष्टतया धात्वादेश को देशी कहा है। किंतु हेमचंद्र ने स्पष्ट रूप से अपने प्राकृत व्याकरण[1] (४-२) और देशी नाममाला[2] (१-३७) में उसे देशी के अंतर्गत मानने से इंकार कर दिया है। उनका कहना है कि देशी शब्दों में (१-४७) प्रकृति प्रत्यय का भेद नहीं हो सकता और न तो देशी शब्दों के लिये (नहि देशी शब्दानामुपसर्गो संबंधो भवति १-६५) उपसर्ग का ही विधान किया जा सकता है। इस प्रकार की बातों को प्रस्तुत करते हुए हेमचंद्र ने दूसरी दृष्टि से संभवतः अन्य लोगों की आलोचना की है। धात्वादेश की दृष्टि से प्रकृति (मूलरूप) के विभिन्न क्रियारूप और अर्थ हो सकते हैं। इस दृष्टि से देशी शब्द की प्रकृति भूल सी जाती है। मतलब यह कि जब धात्वादेश का एक ही रूप हो सकता है दूसरा नहीं, तब तो उसे देशी हरेक दृष्टि से कह सकते हैं। इसीलिये हेमचंद्र ने उन शब्दों को भी 'देशी नाममाला' में संकलित किया है। कप्परिअं, कडंत-

१. एते चान्यैर्देशीषु पठिता अपि अस्माभिर्धात्वादेशीकृता विविधेषुप्रत्ययेषु प्रतिष्ठन्तामिति।८।४।२-

२. एतेधात्वादेशेषु शब्दानुशासनेऽस्माभिरुक्ता इति नेहोपात्ताः। नच धात्वादेशानां देशीषु संग्रहोयुक्तः। सिद्धार्थ शब्दानुवाद पराहि देशी, साध्यार्थपराश्च धात्वादेशाः। ते च त्यादि-तुम्-तव्यादि प्रत्ययैर्बहुरूपाः संग्रहीतुमशक्या इति। १-३७

रिअं, अविअं, अट्टो, अज्झत्थो (१-१०) इत्यादि उद्धरणों को हेमचंद्र ने दे० ना० मा० में उद्धृत कर अपनी समीक्षा दी है कि यद्यपि ये क्रियावाची हैं फिर भी संज्ञा में दिखाई देने से धात्वादेशों में संकलित नहीं किया है और इसी कारण देशी में संकलित कर लिया[1] है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि हेमचंद्र पूर्ववर्ती लोगों से अपना भिन्न मत रखता है।

इस प्रकार प्राकृत वैयाकरणों ने देशी शब्दों के नाम और धातुओं को संस्कृत के नाम (संज्ञा) और धातुओं के स्थान में आदेशों द्वारा सिद्ध करके तद्भव विभाग के अंतर्गत रख दिया है। हेमचंद्र के प्राकृत व्याकरण के द्वितीय पाद तथा चतुर्थ पाद के कुछ सूत्रों से पूर्वोक्त बात की प्रतीति होती है। हेमचंद्र ने दे० ना० मा० में देशी नामों का संग्रह किया है तथा देशी धातुओं का प्राकृत व्याकरण में, संस्कृत धातुओं की जगह आदेश रूप में उल्लेख करते हुए पूर्ववर्ती वैयाकरणों के मत का प्रतिवाद किया है—'एतेचान्यैर्देशीषु पठिता अपि अस्माभिर्धात्वादेशीकृताः (हेम० प्रा० व्या० ४।२)'। अतः धात्वादेश भी देशी ही कहे जायँगे, तद्भव नहीं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि हेम० ने दे० ना० मा० १.१० में लिखा है कि जिनका व्याकरण में धात्वादेश किया गया है उनका संकलन नहीं हुआ है जैसे प्रा० व्या० ४।३८९ क्रिये का कीस आदेश होता है; ४।३९० भू का हुच्च आदेश आदि दे० ना० मा० में नहीं पाए जाते। परंतु इन धात्वादेशों के आगे देशी शब्द का प्रयोग किया भी नहीं गया है। कीसु का द्वितीय रूप क्रिये संस्कृत माना गया है। किंतु ४।३९५ – 'तक्ष्यादीनां छोल्लादयः' सूत्र की वृत्ति में कहा गया है कि 'आदि ग्रहणाद् देशीषु ये क्रिया वचना उपलभ्यंते ते उदाहार्याः'। पी० ए० वैद्य ने तक्ष के स्थान पर छोल्ल आदेश को देशी माना है। दे० ना० मा० में छोल्ल नाम का कोई आदेश नहीं है। परंतु उसी सूत्र का दूसरा उदाहरण 'चूडुल्लउ' देशी अपभ्रंश (दे० ना० मा० वर्ग ३, श्लोक १८) 'चूडोवलयावली' कंकण अर्थ है। यहाँ उल्ल प्रत्यय होकर, स्वार्थिक क = अको उ होकर 'चूडुल्लउ' बना है। 'झलक्किअउ' = झल्ल – झालणों, झल्लक धातु 'तापय' के भाव में प्रयुक्त हुआ है। दे० ना० मा० – ३।५३ में झला – मृगतृष्णा; ३।५६ में झलंकिअं – दग्धम् के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'अब्भडवंचिउ' में गम् के अर्थ में अब्भड है। दे० ना० मा० में अब्भड कोई शब्द नहीं है पर 'अवडओ' १,२०,५३ में तृण पुरुष के लिये, कूप या आराम अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है जिसका

१. यद्यप्येते त्रयोपि क्रियावाचिनस्तथापि त्यादिषु प्रयोग दर्शनाद्धात्वादेशेषु अस्माभिर्न पठिता इत्यत्र निबद्धाः। एवमन्यत्रापि। 'देशी नाममाला' १।१०

'अब्भडवंचिउ' से कोई संबंध नहीं दीखता। खुड्डुक्कइ का 'दे० ना० मा०' २,७४ – खुड्डं – लघु अर्थ में; २।७५ खुड्डियं – सुरतम् के अर्थ में; २।७६ – खुड्डुक्कडी प्रणयकोप के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। खुड शब्द से उक्क प्रत्यय करके भी खुड्डुक्कइ रूप बन सकता है। घुडुक्कइ 'दे० ना० मा०' में ऐसा कोई शब्द नहीं है। चम्पिज्जइ भी देशी शब्द है जा कि दे० ना० मा० में नहीं है। वप्पी ६।८८ सुभट और पिता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। धुट्ठुअइ या धुद्धुअइ ध्वनि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ८।४।४०१ वद्दलि मेघ के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पी० एल० वैद्य वद्दल या बादल को मराठी का शब्द मानते हैं। हिंदी में भी यही प्रचलित है। लुक्कु – लुकना छिपने के अर्थ में दे० ना० मा० ७।२३ में लुको – सुप्त या 'उत ओति लोकोइति च' के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यह शब्द भोजपुरी और मगही बोली में प्रचलित है। ८।४।४२२ – 'शीघ्रादीनां बहिल्लादयः' वाले आदेश को पी० एल० वैद्य ने देशी माना है। शीघ्र का बहिल्ल आदेश होता है। दे० ना० मा० में कोई बहिल्ल शब्द नहीं है। ७।३६ में बहोलो शब्द है जो कि लघु जल प्रवाह के अर्थ में प्रयुक्त होता है। झटक का घंघल आदेश कलह के अर्थ में होता है। दे० ना० मा० में घंघल शब्द नहीं है। घंघो – 'गृहम्' के अर्थ में २।१०५ में मिलता है तथा २।१०७ घग्घरं – जघनस्थल वस्त्रभेद है जिसका कि घंघल से कोई संबंध नहीं प्रतीत होता। वस्तुतः झकट शब्द भी विशुद्ध संस्कृत नहीं है। विट्टाल – अस्पृश्यसंसर्ग के अर्थ में, भयका द्रवक्क, दृष्टि का द्रेट्ठि, गाढ़ का निच्चट्ट आदेश होता है जो दे० ना० मा० में नहीं मिलता। साधारण का सड्ढल आदेश होता है। दे० ना० मा० ८।४६ – सढं - विषमं, सढा - केशाः, सढो - स्तबकः के अर्थ में मिलता है। ढ को द्वित्व के बाद ल प्रत्यय करके 'सड्ढल' की सिद्धि करने पर भी अर्थ साम्य नहीं होता। कौतुक का कोड्ड या कुड्ड आदेश होता है। दे० ना० मा० २।३३ – कुड्डं आश्चर्य के अर्थ में — 'केचित् कोड्डं इत्याहुः' – तच्च उकार ओकार विनिमये सिद्धम्' (कुतुक् – कौतुक इति); क्रीडा का खेड्ड आदेश होता है। दे० ना० मा० – २।७७ – खेयालू – निःसहः। असहन इत्यन्ये। वहीं पर कहा है कि 'रमते' के अर्थ में खेड्डइ का प्रयोग धात्वादेश में किया जा चुका है। इसीलिये दे० ना० मा० में नहीं कहा।[1] २।७६ – में खेल्लियं - हसितं के अर्थ में अवश्य मिलता है। रम्य का रवण्ण, अद्भुत का ढक्करि आदेश होता है। यह दे० ना० मा० में नहीं मिलता। पृथक् पृथक् का जुअंजुअः आदेश होता है – दे० ना० मा० में नहीं मिलता। ३।४७ – जुअ लिअं, द्विगुणित के अर्थ में, जुअलो तरुण के अर्थ में आया है। मूढ़ का नालिम, अवस्कन्द का दडवड आदेश

१. अत्र खेड्डइ रमते धात्वादेशेपूक्त इति नोक्त।

होता है। दे० ना० मा० – ५।३५ दडवड शब्द धाटी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यदि का छुडु, संबंधिन का केर आदेश होता है। प्रा० व्या० ८।४।४२३ – हुहुरु एवं घुग्घ शब्दानुकरण तथा चेष्टानुकरण में प्रयुक्त होते हैं। दे० ना० मा० में ये शब्द नहीं मिलते। २।१०६ में घुग्घुरी मंडूक के अर्थ में, घुघुरुडो उत्कर के अर्थ में आया है। कसरक्क कचर कचर कर खाने की ध्वनि में प्रयुक्त होता है। दे० ना० मा० २।४ – कसरो अधम बैल (बलीवर्द) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

प्रसादोत्तर नाटकों में संगीत

[१९३५ - १९६०]

डा० श्रीमती गिरीश रस्तोगी

अत्यंत प्राचीन काल में भरतमुनि ने नाटक में संगीत की अनिवार्य स्थिति स्वीकार की थी और सर्वप्रथम उन्होंने संगीत के तीनों अंग – नृत्य, गीत, वाद्य – से नाटक का संबंध स्थापित किया था, क्योंकि तत्कालीन जनता स्वयं संगीत में विशेष रुचि रखती थी। भरतमुनि के संगीत संबंधी नियमों का पालन संस्कृत नाटकों में किया गया और फिर 'आनंदरघुनंदन' तथा 'इंदरसभा' से लेकर प्रसादोत्तर काल तक हिंदी नाटकों में संगीत की अबाध धारा प्रवाहित होती रही। भारतेंदु - काल तक हिंदी नाटकों के अंतर्गत संगीत की एक धारा बँधकर चलने लगी थी। यद्यपि उस समय पारसी थियेटर के उर्दू प्रधान नाटकों की भरमार थी जिनमें साधारण फिल्मों की तरह वेश्या नृत्य, गीत, सस्ते मनोरंजन एवं शेरो शायरी की प्रधानता थी। इसी संगीत की प्रतिक्रिया में भारतेंदु हरिश्चंद्र ने नाटकों में संगीत के उच्चकोटि के शास्त्रीय पक्ष एवं जन संगीत की ओर तथा गीतों की साहित्यिकता की ओर जनता का ध्यान आकर्षित किया। भाव क्षेत्र में वे नाट्य गीतों को मानव जीवन के यथार्थ पहलू के अधिक निकट लाए। अनुपम ग्राम गीतों को उन्होंने नाट्य साहित्य की अमूल्य निधि बना दिया। तत्कालीन नाटककारों को इससे एक नई दिशा मिली। किंतु फिर भी वे पारसी नाटकों के संगीत से मुक्ति न पा सके। ऐसी स्थिति में जयशंकर प्रसाद ने अपने कवि, नाटककार और संगीतज्ञ रूप के सामंजस्य द्वारा नाटक संगीत को नई दृष्टि, नया पथ एवं नई मर्यादा देने का प्रयास किया। किंतु आश्चर्य यही है कि उनके संगीत के आदर्श रूप का प्रभाव उन्हीं के युग में व्यापक रूप में न पड़ सका वरन् भारतेंदु और प्रसाद जैसे जागरूक कलाकारों के प्रयत्नों, अनुभवों एवं प्रयोगों के फलस्वरूप भी प्रसाद - युग तक हिंदी नाटक रंगमंचीय नाटकों के हल्के फुलके संगीत से अधिक प्रभावित रहे। यद्यपि यह बात अवश्य उल्लेखनीय है कि इस युग में ही वाह्य प्रभावों तथा आधुनिक परिस्थितियों में विचार परिवर्तन के कारण हिंदी नाटककारों का ध्यान नाट्य संगीत की प्रचलित परंपरा की ओर आकर्षित हो रहा था और उसमें क्रांतिकारी परिवर्तन करने की सचेष्ट जागरूकता उनमें बनी हुई थी। किंतु भारतीय

विचारधारा एवं नाटक में रस सृष्टि की महत्ता के कारण संभवतः ये परिवर्तन सरल नहीं प्रतीत हो रहा थे। यही कारण है कि प्रसादोत्तर नाटकों में भी संगीत के संबंध में विचार विमर्श चलता रहा।

संगीत की दृष्टि से प्रसादोत्तर नाटक अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। साधारणतः इस युग के नाटकों के संबंध में यह सर्वसंमत धारणा बनी हुई है कि इनमें संगीत है ही नहीं, संगीत तो केवल भारतेंदु तथा प्रसाद युग के नाटकों में है। यह अवश्य है कि संगीत की वैसी अबाध धारा यहाँ नहीं है और न अक्षरशः उसी परंपरा पर चलते जाने का आग्रह है वरन् समय के अनुसार नवीनता की ओर प्रयत्नशीलता है जो भ्रम उत्पन्न कर देती है। वस्तुतः इस युग में नाटक के प्रति लेखक और आलोचकों के दृष्टिकोणों तथा मूल्यों में जो परिवर्तन हो रहे थे उनका प्रभाव संगीत पर भी पड़ा। नाट्य संगीत के संबंध में विचारों का संघर्ष चलता रहा। कुछ नाटककार नाटक में संगीत की उपस्थिति आवश्यक मानते थे, कुछ अनावश्यक और अस्वाभाविक। पं० सीताराम चतुर्वेदी ने अपने नाटक 'विश्वास' की भूमिका में लिखा है — "इसमें अभिनय स्वाभाविक है और इसीलिये गीतों का अभाव है।"[1] इससे स्पष्ट होता है कि नाटकीयता तथा अभिनेयता की दृष्टि से संगीत के गीतपक्ष को लेखक अस्वाभाविक मानता है। दूसरी ओर विष्णुप्रभाकर और डा० रांगेय राघव संगीतकला को नाट्यकला का आवश्यक अंग स्वीकार करते हैं। इसी कारण विष्णु प्रभाकर ने 'समाधि' नाटक के गीत देवराज दिनेश से लिखाए हैं। उन्होंने स्वयं लिखा है — "तरुण कवि देवराज दिनेश का लेखक बहुत ही आभारी है। यदि वे अपनी स्वाभाविक सहृदयता के कारण इस नाटक के गीत न लिख देते तो लेखक समझता कि इसका रस सूख न जाता तो खंडित अवश्य हो जाता।"[2] तात्पर्य यह कि लेखक नाटक में रस सृष्टि के लिए संगीत को परम सहायक मानता है। इसी प्रकार डा० रांगेय राघव का कथन है कि "नाटक में गीत होना भारतीय परंपरा में अधिक महत्वपूर्ण है। × × × × अब गीत जहाँ व्यक्ति की अंतःप्रवृत्तियों को प्रकट करते हैं, दूसरी ओर वे उसके सामाजिक संबंधों पर भी प्रकाश डालते हैं।"[3] नाटककार हरिकृष्ण प्रेमी यह मानते हैं कि 'रससृष्टि में संगीत बहुत सहायक होता है। × × × नाटक में दो एक पात्र ऐसे रखे जा सकते हैं जिनका गाना कहानी की स्वाभाविकता को नष्ट न करता हो।"[4] इसी मत का प्रतिपादन करते हुए

१. विश्वास : सीताराम चतुर्वेदी, २००६ वि०, पृ० ५।
२. समाधि : विष्णु प्रभाकर, १९५२ ई०, पृ० ट।
३. रामानुज : दो शब्द, १९५२ ई०, पृ० ५।
४. विषपान : भूमिका, १९५८ ई०, पृ० १२।

सेठ गोविंददास ने भी कहा है कि 'संसार में गाने से कई व्यक्तियों को प्रेम होता है अतः नाटक के भी कुछ पात्र गा सकते हैं।'[५] इस प्रकार नाटकों का यह युग विचारविमर्श का युग है, कोरी भावुकता का नहीं। यही कारण है कि कुछ नाटकों में संगीत का पर्याप्त प्रयोग मिलता है जैसा कि प्रसादयुग में था, कुछ में गीतों की संख्या कम करके संपूर्ण संगीत में नवीनता, गंभीरता तथा सूक्ष्मता लाने का प्रयास किया गया है और कुछ में संगीत का पूर्णतः बहिष्कार मिलता है यद्यपि ऐसे नाटकों की संख्या अपेक्षाकृत कम है।

पूर्व परंपरा के अनुसार इस काल के नाटकों में भी संगीत के गीतपक्ष की प्रधानता रही। गीत सभी नाटकों में समान मात्रा में नहीं हैं। अतएव गीतों की संख्या की दृष्टि से इस काल के नाटकों के पाँच वर्ग किए जा सकते हैं—

१. ० गीत वाले नाटक
२. १–५ ,, ,, ,,
३. ६–१० ,, ,, ,,
४. ११–१५ ,, ,, ,,
५. १६–२० ,, ,, ,,

इस वर्ग विभाजन से यह निष्कर्ष निकलता है कि एक तो पूर्व युग की तुलना में इस युग के नाटकों में गीत संख्या बहुत कम है। क्योंकि गीत प्रयोग के प्रति नाटककारों का दृष्टिकोण बदल चुका था। संगीत का प्रयोग कथा तत्व में तीव्रता लाने तथा नाटकीय सौंदर्य की सृष्टि करने के हेतु किया जारहा था, केवल मनोरंजन के लिये नहीं। संगीत की अनेकरूपता, शास्त्रीयता एवं स्वाभाविक सौंदर्य की प्रतिष्ठा द्वारा तथा साथ ही गीत, वाद्य, नृत्य, शास्त्रीय संगीत और लोक संगीत आदि के समुचित प्रयोग द्वारा इस काल में नाटककारों ने हिंदी नाट्य साहित्य को नई देन दी है।

गीत के प्रकार :

गीत के अनेक प्रकार इस युग के नाटकों में प्रयुक्त हुए हैं जो निम्नलिखित हैं :

बधाई	सावन	होली
लोरी	रसिया	ठुमरी
भजन	कजरी	बिरहा
कीर्तन	चैता	कोरस
प्रभाती	गजल	

५. नाट्य कला - मीमांसा : सेठ गोविंददास; १९९२ वि०, पृ० २२

बधाई गीत तो प्राय: सभी ऐतिहासिक नाटकों में उपलब्ध होते हैं कभी राजा के अभिषेक के समय, कभी पुत्र - जन्म पर तथा कभी अन्य मांगलिक अवसरों पर। अधिकतर बधाई गीत जन्मोत्सव संबंधी हैं। नाटक 'मुक्तिदूत' में राहुल के जन्म पर स्त्रियाँ मंगल गीत गाती हैं —

आओ री मिल मंगल गाएँ
कृष्ण अवतरे हैं जसुदा के
हम भी मोद बढ़ाएँ।[६]

ममता भरी मधुर लोरी का गायन कुछ ही नाटकों में यथावसर कराया गया है। 'ममता' नाटक की लोरी हृदय में हिलोर उत्पन्न कर देती है—

सो जा मेरे राजदुलारे
तुमको निंदिया परी पुकारे।[७]

भजन—कीर्तन की प्राचीन परंपरा नाटकों में यत्र तत्र चलती रही है। प्राय: पात्र आपत्तिकाल में ईश्वर की ही शरण लेते हैं। कहीं मंदिर का दृश्य उपस्थित करने के लिये भी प्रार्थना या स्तुति रखी गई है। कहीं कहीं युद्ध में जाने से पूर्व दुर्गा या शिव स्तुति कराई गई है। दूसरी ओर सावन, कजरी, चैता, रसिया जैसी लोकप्रिय धुनों पर सुंदरतम गीत रचना की गई है। 'राखी की लाज' नाटक में झूले पर लड़कियाँ सावन गाती हैं—

एरी सखी सैंया जोगी हो गए
हो गए मोरे महराज[८]

'आवारा' नाटक में चंद्रसेन नामक पात्र कभी बनारस का चैता गाता है— 'फूल रे फूलत सकुचाएँ हो रामा! झर मुरझाएँ।' और कभी मिर्जापुर की कजरी की मौसमी धुन सुनाता है। नाटक 'चुंबन' में कहीं ग्रामीण समूह होली के अवसर पर 'केसरिया रंग रंगा चोला' गीत गाते हुए झूमते हैं,[१०] तो कहीं एक अहीर 'विरहा' गाता दीखता है।[११] गजल और ठुमरी का प्रयोग भारतेंदु तथा प्रसाद

६. मुक्तिदूत : उदयशंकर भट्ट, १९६०, द्वि० अंक, पृ० ४३।
७. ममता : हरिकृष्ण प्रेमी, १९५८, प्र० अंक, पृ० ४७।
८. राखी की लाज : वृंदावनलाल वर्मा, १९६०, प्र० अंक, पृ० ११।
९. आवारा : बेचन शर्मा उग्र, १९४२, प्र० अंक, पृ० ३३।
१०. चुंबन : बेचन शर्मा उग्र, १९३७, पृ० ९४।
११. वही, प्र० अंक, पृ० ३३।

कालीन नाटकों में अधिक होता था। इस काल के नाटकों में कथानक की अनुरूपता के कारण कहीं-कहीं ही पात्र गजल गाते दीखते हैं। उदाहरणार्थ 'अनारकली' नाटक में वातावरण के अनुरूप ही दो गजलें गवाई गई हैं।[१२] अन्नदाता नाटक में यथावसर गालिब की गजलों का उपयोग किया गया है।[१३] ठुमरी का गायन मुस्लिम वातावरण से युक्त नाटक 'अनारकली' में द्रष्टव्य है। 'निंदिया गई रे पियां मोरी आज' जैसी ठुमरी[१४] अत्यंत संगीतात्मक है।

गीत के इन प्रचलित प्रकारों के अतिरिक्त इस काल के हिंदी नाटकों की सर्वप्रमुख विशेषता एवं नवीनता है उन लोकगीतों की प्रतिष्ठा जो किसी मुख्य स्थान की सभ्यता तथा संस्कृति से संबद्ध हैं और जिनका प्रयोग कथानक की अनुकूलता की दृष्टि से किया गया है। नाटकों में लोकगीतों को प्रोत्साहन देने का सर्वाधिक श्रेय वृंदावनलाल वर्मा को है। उन्होंने 'नीलकंठ' नाटक में अपने विचारों को एक पात्र के माध्यम से अभिव्यक्त करते हुए लिखा है—

"लोकगीतों का उपयोग ऊँचे दर्जे की गायकी में होना इस युग को एक चुनौती सी है। इन गीतों का एक महत्व और है—इनका व्यापक प्रचार होने से प्रांतीयता की दीवारें टूट जायँगी।"[१५] यह कथन लोकसंस्कृति के प्रति नाटककार के अनुराग को स्पष्ट करता है। प्रधानतः निम्नलिखित लोक गीत इस काल के नाटकों में उपलब्ध होते हैं—

१. मालवी लोकगीत
२. बुंदेलखंडी लोकगीत
३. विंध्याचल में प्रचलित लोकगीत
४. भोजपुरी लोकगीत

नाटक 'नीलकंठ' में जनसमूह सुंदर मालवी लोकगीत गाता है—

ऊँचा हो आलीजा तुमारा ओवरा
नीची बँधाव पटसाल।[१६]

इसी नाटक में बुंदेलखंड में प्रचलित मधुर लोकगीत का गायन भी कराया गया है—

१२. अनारकली : सीताराम चतुर्वेदी, २००९ वि०, प्र० अंक, पृ० १७।
१३. अन्नदाता : माधव महाराज महान, बेचन शर्मा उग्र, प्र० अंक, पृ० १३।
१४. अनारकली : सीताराम चतुर्वेदी, द्वि० अंक, पृ० ४८।
१५. नीलकंठ : वृंदावनलाल वर्मा, १९५९, प्र० अंक, पृ० ३०।
१६. वही, पृ० २८–२९।

टूटो रे मड़ैया बूँदै उनके छावनवारे विदेस ।[१७]

विंध्यखंड में प्रचलित कजरी 'राखी की लाज' में ग्रामीण स्त्रियाँ गाती हैं—

सावन महिना नियरे आए बेटा, बहिन तुम्हारी परदेस हो ।
सबकी बहिनें खोटें कजरिया, तुम्हरी बिसूरैं परदेस हो ।
सबकी बहिनें झूलैं हिंडोला, तुम्हरी बिसूरैं पर देस हो ।
कहै माता बहिनिया लिवा ल्याओ बेटा बहिन लिवावन जात हो ।[१८]

इसके संबंध में स्वयं लेखक ने स्वीकार किया है कि "कजरियों इत्यादि के जो गीत विंध्यखंड में प्रचलित हैं, उनको मैंने ज्यों का त्यों रख दिया है । उनमें सजातीयता हमारी ग्रामीण जनता पाती है वह मेरे—मैं छंदकार हूँ भी नहीं—या किसी और के बनाए गीतों में शायद जनता न पाती ।"[१९]

इन लोकगीतों के अतिरिक्त दो सुंदर भोजपुरी लोकगीत नाटक 'अंधा कुआँ' में दर्शनीय हैं । एक गीत भोजपुरी बोली में लड़कियाँ झूला झूलते हुए गाती हैं —

गगरी पे कगवा अरे बोलन लागे ।
छोटे नेबुलवा के पातर डगरिया
तापे सुगनवाँ अरे डोलन लागे ।[२०]

दूसरा गीत एक स्त्री चक्की चलाते हुए गाती है जिसमें एक दुखी स्त्री के जीवन की कथा है ।[२१] इस प्रकार इन सरल स्वाभाविक गीतों द्वारा नाट्य संगीत को लोक संस्कृति के अधिक निकट लाकर सरल आकर्षक तथा लोकप्रिय बानने का प्रयास किया गया है ।

वाद्य संगीतः इस युग के नाटकों में वाद्य-संगीत के प्रति अधिक सचेतता का दर्शन होता है । वाद्य संगीत को गीत के समानांतर लाने का प्रयत्न किया गया है जब कि पूर्व काल में गीत पक्ष ही प्रधानतम रहा । विवेचन की दृष्टि से विविध वाद्य-यंत्रों का उल्लेख नाटकों में समयानुकूल किया गया है; यथा—

१७. वही , पृ० २६ ।
१८. राखी की लाज : वृंदावनलाल वर्मा, प्र० अंक, पृ० २६ ।
१९. राखी की लाज : परिचय, पृ० ५
२०. अंधा कुआँ : लक्ष्मीनारालाल २०१२ वि०, द्वि० अंक, पृ० ६४-६५
२१. वही : तृ० अंक, पृ० ८३-८४

शहनाई,	एकतारा,	वीणा
तंबूरा	जलतरंग	हारमोनियम
सितार	गिटार	तबला
सारंगी	प्यानो	ढोल
बीन	तुम्बुरु	झाँझ
मृदंग	स्वरमंडल	डफ
वाइलिन	बाँसुरी	मंजीर
खंजड़ी	वल्लरी	रण वाद्य

इन वाद्यों के नामकरण द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि वाद्य प्रयोग पर आधुनिकता की छाप है। वायलिन, जलतरंग, गिटार, प्यानो, वल्लरी आदि का प्रयोग नवीनता का सूचक है। विशेषकर गिटार और प्यानो आधुनिक युग की माँग तथा फिल्म के प्रभाव एवं पाश्चात्य प्रभाव को स्पष्ट करते हैं। सभी वाद्यों का प्रयोग कई रूपों में नाटकों में हुआ है, उदाहरणार्थ—

१. गीत के साथ वाद्य वादन
२. रंगमंच पर वाद्यों का स्वतंत्र वादन
३. पृष्ठभूमि से स्वतंत्र वाद्य-वादन

इसमें कोई संदेह नहीं कि गीत के गायन में वाद्यों का साधन रूप में वादन अधिकतर स्थलों पर हुआ है। इसके लिये विविध नाटकों में यथावसर आवश्यक निर्देश दिए गए हैं। भजन प्रायः हारमोनियम तथा तानपूरे पर गवाए गए हैं। दूसरी ओर सामाजिक नाटक का आधुनिक शिक्षित युवक भावावेश की स्थिति में प्यानों का आश्रय लेता है। इसी प्रकार ऐतिहासिक पात्र प्रायः वीणा वादन में ही कुशल हैं और ग्रामीण जन समूह अपने उन्मुक्त स्वभाव एवं उत्साह के अनुरूप ढोल, झाँझ, खंजड़ी आदि बजाकर ही मस्ती से गाता दीखता है। रण गीतों के साथ प्रायः रण वाद्यों का संकेत कर दिया गया है।

वाद्यों का रंगमंच पर स्वतंत्र वादन इस युग की नवीन चेष्टा है। चूँकि इस काल के नाटकों में चारित्रिक अंतर्द्वंद्व तथा अभिनय तत्व को प्रधानता दी गई है अतः कहीं कहीं पात्र विशेष द्वारा वाद्य वादन कराकर उसकी चारित्रिक विशेषता तथा मानसिक स्थिति को अभिव्यक्त किया गया है। 'चक्रव्यूह' नाटक में अभिमन्यु के युद्ध में जाने पर मानसिक संघर्ष से पीड़ित उत्तरा वीणा बजाने लगती है।[२२] 'गौतमनंद' में राजकुमारी सुंदरिका संगीतप्रिय और भावुक

२२. चक्रव्यूह : लक्ष्मीनारायण मिश्र : १९५८ ई०, प्र० अंक, पृ० ४८

होने के कारण प्रायः वीणा के तार छेड़ने लगती है।[२३] वस्तुतः वाद्यों का स्वतंत्र-वादन पात्रों के चरित्रचित्रण से घनिष्ठतः संबंधित है। यह अवश्य है कि अपेक्षाकृत ऐसे प्रयोग कम संख्या में हुए हैं।

इस युग के नाटकों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट योजना है नाटकों में पार्श्वसंगीत के प्रयोग तथा तत्संबंधी निर्देश की। यथावसर कथानक और वातावरण का ध्यान रखते हुए नेपथ्य से वाद्यवादन का संकेत किया गया है जिसके द्वारा. नाटककारों के संगीतज्ञान की परीक्षा सरलतापूर्वक की जा सकती है। 'आजादी के बाद' में करुण दृश्य के लिये करुण संगीत का संकेत है और हर्षमय वातावरण के लिये आनंदसूचक वाद्यसंगीत का।[२४] 'विरूढ़क' में पूर्णिका नर्तकी के नृत्य के समय लेखक का संकेत है कि 'नूपुर नहीं हैं, नेपथ्य में हल्की सी वाद्य ध्वनि होती रहती है।'[२५] इसी प्रकार 'सेनापति पुष्यमित्र' में लेखक ने संकेत किया है कि 'भैरव राग में बजते हुए वाद्य प्रातःकाल की सूचना दे रहे हैं।'[२६] 'नीलकंठ' में जुलूस का दृश्य दिखाने के लिये नेपथ्य से जुलूस की समूह-संगीत-ध्वनि का निर्देश दिया गया है।[२७] डा० लक्ष्मीनारायण लाल ने 'मादा कैक्टस' की भूमिका में ही संकेत कर दिया है कि 'दृश्यों के अंत में, बीच बीच में सितार, वायलिन और गिटार का संगीत कभी तेज, कभी घना, कभी स्थित्यनुसार।'[२८] तात्पर्य यह कि नाटककारों ने रंगमंचीय आकर्षण, नाटकीय प्रभाव तथा वातावरणनिर्माण के लिये वाद्य संगीत के इस प्रकार के जो सुझाव दिए हैं वे नाटक के अभिनय तत्व के लिये अत्यावश्यक एवं प्रभावपूर्ण हैं साथ ही नाटककारों के संगीत ज्ञान के परिचायक हैं।

नृत्य :

नृत्ययोजना की दृष्टि से भी नाटकों का यह युग अधिक प्रयत्नशील, सचेत एवं प्रयोगात्मक है। जहाँ एक ओर इनमें नृत्य की पूर्वनाटकों में प्रचलित परंपरा का अनुसरण किया गया है वहाँ दूसरी ओर नृत्य के नए नए प्रयोग भी किए गए हैं। ऐतिहासिक नाटकों में राजदरबार में नर्तकियों के नृत्य तथा गान

२३. गौतलनंद, जगन्नाथप्रसाद मिलिंद, १९५३ ई० पू० अंक, पृ० २७
२४. आजादी के बाद, विनोद रस्तोगी, १९५६ ई० पृ० ५८
२५. विरूढ़क, डा० रांगेय राघव, १९५५, पृ० ४७
२६. सेनापति पुष्यमित्र, सीताराम चतुर्वेदी, पृ० ७८
२७. नीलकंठ, वृंदावनलाल वर्मा, प्र० अंक, पृ० २४
२८. वही, पृ० १४

की परंपरा इस काल में भी उपलब्ध होती है किंतु इसके अतिरिक्त इनमें नाटक के कथानक और वातावरण के अनुकूल शास्त्रीय विधि तथा लोकसंस्कृति दोनों के प्रवर्तक नृत्यों की सुरुचिपूर्ण योजना की गई है। इस दृष्टि से इस काल के नाटकों में नृत्य के निम्नांकित प्रकार दृष्टिगत होते हैं :

नृत्य

१. शास्त्रीय नृत्य
  (क) कत्थक
  (ख) तांडव

२. समूहनृत्य

३. लोकनृत्य
  (क) शबरी नृत्य
  (ख) भील नृत्य
  (ग) द्वीपवासियों का 'हा हू ही हो' नृत्य
  (घ) बुंदेलखंडी नृत्य

४. एकाकी नृत्य
  (क) अप्सरानृत्य
  (ख) ज्योतिनृत्य तथा अन्य
  (ग) भावनृत्य
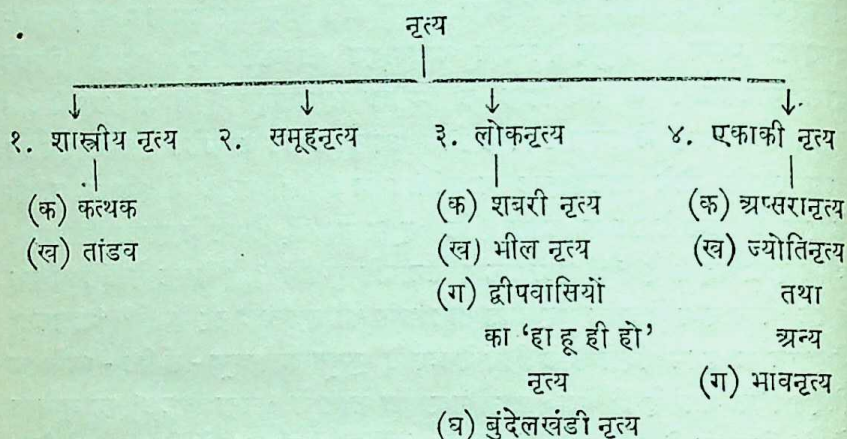
ये संपूर्ण नृत्यप्रकार विविध नाटकों में यथावसर प्रयुक्त हुए हैं। कत्थक नृत्य का ऐतिहासिक दृष्टि से संबंध दरबारों से रहा है। यह शृंगार प्रकृति का नृत्य होता है। तबले के बँधे हुए बोलों पर पैरों की गति के संचालन तथा हाव भाव पर आधारित एवं कृष्ण और राधा की मान अवमानना से संबद्ध यह नृत्य केवल दो नाटकों में द्रष्टव्य है। 'अनारकली' में नादिरा अकबर के संमुख कत्थक नृत्य के हाव भाव दिखाती है।[29] 'शारदीया' में रहीमन नामक नर्तकी कत्थक नृत्य का अभ्यास करती है।[30]

नाटक 'विरूढ़क' महत्वाकांक्षी विरूढ़क के आदेश पर उसकी प्रिय नर्तकी पूर्णिका उन्मादक रणगीत के साथ तांडव नृत्य करती है।[31] युद्धविभीषिका के लिये प्रस्तुत विरूढ़क के संमुख सर्वस्वसमर्पणशीला पूर्णिका का यह उत्तेजनापूर्ण नृत्य इस स्थल पर अत्यंत सटीक है।

समूह नृत्यों का बाहुल्य पूर्वकालीन नाटकों के समान इस काल के नाटकों में भी रहा है। ये समूहनृत्य पूर्वपरंपरा के अनुसार ही नर्तकियों, अप्सराओं,

२९. अनारकली : सीताराम चतुर्वेदी : द्वि० अंक, पृ० ८८
३०. शारदीया : जगदीश चंद्र माथुर : १९५९ पृ० ८७
३१. विरूढ़क : डा० रांगेय रांघव : तृ० अंक, पृ० १२५

सखियों तथा बालिकाओं से संबंधित हैं। ऐतिहासिक नाटकों में दरबार के दृश्यार्थ नर्तकियों के नृत्य गान की निरंतर योजना रही है। पौराणिक नाटकों में इसी तरह अप्सराएँ अवश्य नृत्य करती हैं। 'बंधु भरत'[32] में विरक्त, तपस्वी भरत को आकर्षित करने के लिये एवं 'प्रलय से पहले'[33] नाटक में समाधिस्थ नारद को विचलित करने के लिये अप्सराओं का नृत्य एवं गान इसका प्रमाण है। इसके विपरीत सामाजिक नाटकों में बालक बालिकाएँ अथवा ग्रामीण जन अनन्य उत्साह के साथ सामूहिक नृत्य करते दीखते हैं। वस्तुतः सभी समूह नृत्य कुछ विशेष अवसरों से संबद्ध हैं। ये विशेष अवसर अथवा स्थान राजदरबार, इंद्रसभा, तपस्यास्थल, होलिकोत्सव, जन्मोत्सव, पूजा तथा अन्य मांगलिक अवसर हैं।

नृत्य की इस प्रचलित परंपरा के अतिरिक्त इस काल के नाटकों में कुछ लोकनृत्यों का वह स्वाभाविक, उमंगपूर्ण सरस सौंदर्य दृष्टिगत होता है जिसका प्रादुर्भाव 'गर्बा नृत्य' द्वारा इससे पूर्वयुग में ही हो चुका था। इस युग में इन लोकनृत्यों को नाटकों में स्थान देने का श्रेय मुख्यतः सीताराम चतुर्वेदी और वृन्दावनलाल वर्मा को है। शबर जनों के जीवन और संस्कृति से संबंधित नाटक 'शबरी' का प्रारंभ लेखक ने बड़े चातुर्य से द्विवार्षिक उत्सव पर तीव्र गति से नदीतट पर आम्रवन में नृत्य करते हुए शबरों के उत्साह से किया है।[34] नृत्य के साथ गीत आदिवासियों की भाषा में ही दिया गया है—

सरोन अतंगड़ी अर्राती आई।
आंगल अन्य नाड् अर्राती आई
तोंगताई इयेन तोंगताई।......

'मानव प्रताप' में गाँव के निकट राणा के शिविर में नृत्य की वेश-भूषा में भील कुमार और कुमारियाँ राणा के स्वागतार्थ नृत्य करते एवं गाते हैं।[35] भील नृत्य का संबंध मध्यभारत के ग्रामीण तथा अन्य क्षेत्रों के निवासी भीलों से है। ये नृत्य वीरता के द्योतक एवं सादगी से युक्त होते हैं।[36] तीसरा लोकनृत्य द्वीपवासियों का 'हा हू ही हो' नृत्य है जो नागद्वीप के नाटे

३२. बंधुभरत, तुलसीराम शर्मा 'दिनेश', १६३८, पृ० ५५
३३. प्रलय से पहले, ज्वालाप्रसाद सिंहल, १६३८, प्र० अंक, पृ० १२
३४. शबरी, सीताराम चतुर्वेदी, २००९ वि०, प्र० अंक, पृ० १५
३५. मानव प्रताप, देवराज दिनेश, १६५२, प्र० अंक, पृ० ३७
३६. भारत के लोकनृत्य, लक्ष्मीनारायण गर्ग, १६६१, पृ० ६४

निवासियों के जीवन, परंपराओं और सभ्यता संस्कृति को व्यक्त करता है। 'पूर्व की ओर' में द्वीपवासियों के जीवन का समग्र चित्र उपस्थित करने के लिये स्थान-स्थान पर इस नृत्य का संकेत किया गया है। विशेष रूप से स्वयं लेखक ने यह संकेत भी दिया है कि "नृत्य के पदचारण का संग देने के लिये काष्ठ के टुकड़ों की टक्करों से ताल उत्पन्न किया जा रहा है।"[३७] इससे नृत्य की ताल, ताल देने की रीति तथा उसके साथ पदचारण की क्रिया का ज्ञान होता है एवं 'हा हू ही हो' की शब्दध्वनि से नृत्य की उच्छृंखलता, उछलकूद, उत्साह एवं तीव्र-गति का अनुमान होता है। बुंदेलखंड की भूमि से संबंधित बुंदेलखंडी नृत्य 'झाँसी की रानी' में संध्या के उपरांत हरदी कूं कूं के अवसर पर झलकारी नामक एक स्त्री करती है।[३८] लेखक ने यह संकेत नहीं किया है कि वह किस प्रकार के बुंदेलखंडी नृत्य को चाहता है। वैसे बुंदेले अपनी वीरता के लिये प्रसिद्ध हैं। वहाँ का 'दिवाली' नृत्य इसीलिये प्रसिद्ध है। इस नृत्य के साथ गीत खड़ी बोली का दिया गया है जिससे बुंदेलखंडी नृत्य का समग्र स्वरूप उपस्थित नहीं हो पाता।

एकाकी नृत्यों का प्रयोग अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में हुआ है। ये नृत्य केवल एक पात्र द्वारा संपन्न हुए हैं — चाहे स्त्री पात्र हो अथवा पुरुष पात्र। इन नृत्यों में विशेषतया दो प्रकार ही उल्लेखनीय हैं — १. ज्योतिनृत्य २. अप्सरा-नृत्य। ज्योतिनृत्य का संबंध प्रज्वलित दीपकों को हाथ में लेकर विविध मुद्राओं तथा पदचारण के साथ नृत्य करने से है। 'शपथ' नाटक में नर्तकी कंचनी दशपुर के सूर्यमंदिर में वसंतोत्सव पर दीप जलाकर ज्योतिनृत्य करती है।[३९] वाद्य-वादन और गायन के साथ यह नृत्य युद्ध की काली घटाओं के पीछे छिपे सुनहरे प्रभात का संदेश देनेवाला है। यही उसकी सोद्देश्यता है। अप्सरानृत्य आनंद तथा शुभ कामनाओं का द्योतक है। इस नृत्य में पदचारण एवं हाव भाव के प्रदर्शन में कोमलता तथा सौंदर्य की प्रधानता रहती है। अप्सराओं के समान शृंगारपूर्ण हाव-भाव-प्रधान यह नृत्य 'हंसमयूर' में अप्सरावेश में नर्तकी तन्वी इंद्रसेन के संमुख करती है।[४०] इस योजना से विजयप्राप्ति के शुभावसर पर अप्सराओं के नृत्य की प्राचीन परंपरा से भी लेखक बच गया है और नए ढंग से अप्सरानृत्यी के प्रस्तुतीकरण द्वारा दो चीजों की मानसिक स्थिति तथा आकर्षण का एक साथ अंकन हो गया है।

३७. पूर्व की ओर, वृंदावनलाल वर्मा, १९५०, द्वि० अंक, पृ० ४८
३८. झाँसी की रानी, वृंदावनलाल वर्मा, १९६० प्र० अंक, पृ० ३२
३९. शपथ, हरिकृष्ण प्रेमी, १९५४, पृ० ३।
४०. हंसमयूर, वृंदावनलाल वर्मा, १९६०, च० अंक, पृ० १३६।

एक पात्र द्वारा किए गए भावनृत्य किसी भावविशेष पर आधारित हैं। इस दृष्टि से तीन प्रकार के भावनृत्य इस काल के नाटकों में प्रयुक्त हुए हैं :

१. आनंदनृत्य २. वीभत्स नृत्य ३. हास्यनृत्य

आनंद, उल्लास उमंग से पूर्ण, शुभसूचक आनंदनृत्य 'स्वर्गभूमि का यात्री' नाटक में पांडवों के स्वर्ग की ओर जाने पर एक पुरुष रंगमंच पर आकर करता है।[४१] वह अपने पदचारण, मुद्राओं एवं हाव भावों द्वारा उस आनंदमय दृश्य का संकेत दर्शकों के संमुख करता है। दूसरी ओर वीभत्सता के प्रदर्शन द्वारा सिद्धार्थ की तपस्या भंग करने तथा उसे भयभीत करने के लिये 'सिद्धार्थ बुद्ध' नाटक में कामसेना ढोल और झाँझ बजाकर करती है।[४२] हास्य उत्पन्न करने में समर्थ हास्य-नृत्य ज्योतिषी गोनर्दीय 'सेनापति पुष्यमित्र' नाटक में करते हैं।[४३] अन्य एक-पात्रीय नृत्य अत्यंत साधारण कोटि के हैं जो प्रायः नाटकों में दृष्टिगत होते हैं।

विशेष बात यह है कि इन नाटकों में नृत्य में पारंगत, कलाप्रेमी कुछ पात्र हमारे सामने आते हैं, जैसे 'हंसमयूर' की तन्वी, 'शपथ' की कंचनी, 'अनारकली' की नादिरा, 'विरूढ़क' की पूर्णिका, तथा 'पूर्व की ओर' की धारा। इन पात्रों को नृत्यकला का ज्ञान है। नृत्य इनका जीवन है। ऐसे कलाकार पात्र हमें पूर्व नाटकों में प्राप्त नहीं होते। पहले के नाटकों में ऐसा लगता था कि नाटककार के संकेत पर पात्र रंगमंच पर आते हैं और नाचकर चले जाते हैं। किंतु उपर्युक्त पात्रों का चरित्रचित्रण ही नृत्य के बिना अधूरा है। वे अपनी चारित्रिक विशेषताएँ, प्रणय, संघर्ष आदि नृत्य के माध्यम से ही अभिव्यक्त करते हैं।

राग रागिनियों का प्रयोग :

गीतों के साथ शास्त्रीय रागरागिनियों एवं तालों के उल्लेख की पुरानी परंपरा हिंदी नाटकों में चली आ रही है। फिर भी पूर्वकाल की अपेक्षा इस काल में नाटकगीतों के साथ रागरानियों का उल्लेख अधिक नहीं किया गया है। नाटकों में शास्त्रीय रागों की मर्यादा प्रतिष्ठित करने का श्रेय सीताराम चतुर्वेदी तथा वृंदावनलाल वर्मा को ही है। इनके अधिकतर नाटकगीत राग, ताल की शास्त्रीयता से बद्ध हैं। मुख्यतः जिन रागों का उल्लेख मिलता है वे इस प्रकार हैं — भीमपलासी, देश, बागेश्वरी, यमनकल्याण, विहाग, प्रभाती, केदारा,

४१. स्वर्गभूमि का यात्री, डा० रांगेय राघव, १९५१, सं० अंक, पृ० १४८।
४२. सिद्धार्थ बुद्ध, बनारसीदास करुणाकर, १९५५, द्वि० अंक, पृ० १००।
४३. सेनापति पुष्यमित्र : सीताराम चतुर्वेदी : द्वि० अंक, पृ० १९।

तिलककामोद, प्रातःश्री, खंमाच, छायानट, भैरवी, सोहनी, दरबारी कान्हड़ा, पूर्वी, मालकंस, वसंत, आसावरी, धनाश्री, काफी, जोगिया, श्यामकल्याण, रामकली, भैरव, धानी, हम्मीर, सारंग, मांड, शंकरा। भारतीय संगीताचार्यों ने राग एवं रस के पारस्परिक संबंध को अत्यंत महत्व दिया है। कुछ राग गंभीर प्रकृति के होते हैं और कुछ शृंगारी प्रकृति के। अतएव यदि किसी विशेष प्रवृत्ति अथवा रस के उद्बोधक राग के लिये गीतरचना उसी भाव तथा प्रकृति की होगी, तभी वह गीत प्रभावशाली हो सकता है। इस युग के हिंदी नाटककारों ने गीत के भाव एवं प्रकृति के अनुरूप रागों का प्रयोग करने का प्रयास तो किया है किंतु सर्वत्र वे इसमें सफल हुए हों, ऐसा नहीं कहा जा सकता। फिर भी अधिकतर गीतों में राग तथा रस का संबंध सुरक्षित है। प्रातःकाल गाई जानेवाली एवं जागरण का संदेश प्रदान करनेवाली प्रभाती को प्रभाती राग में ही बाँधा गया है।[४४] वस्तुतः प्रभाती रागिनी उच्चादर्श की ओर ले जानेवाली ही मानी गई है।[४५] निम्नलिखित गीत में जीवन के उल्लास, उमंग को वसंत ऋतु के रूपक द्वारा प्रस्तुत किया गया है — 'जीवन में आया नव वसंत।'[४६] इसके साथ रागवसंत का प्रयोग लेखक के संगीतज्ञान को स्पष्ट करता है क्योंकि वसंत ऋतु में गाया जानेवाला यह राग हर्ष और आनंद का सूचक माना जाता है।[४७] राग आसावरी करुण-रस-प्रधान माना गया है।[४८] तदनुरूप व्यथित हृदय की भावना से संबद्ध गीत 'मेरे गीत कहाँ से आते' आसावरी राग में ही बद्ध हैं।[४९] इसी प्रकार 'ये अँखियाँ प्यारे जुलम करें' शृंगारमय गीत को राग छायानट[५०] में बाँधकर लेखक ने अपनी कुशलता का परिचय दिया है क्योंकि राग छायानट का संबंध शृंगाररस से माना जाता है।[५१] इस प्रकार प्रायः गीतों के रूप की दृष्टि से रागों का चुनाव किया गया है। यह अवश्य है कि पूर्वकालीन नाटकों में रागों की जितनी विविधता थी उतनी उस काल में नहीं है क्योंकि अधिकतर नाटककारों ने शास्त्रीय रागों से

४४. मंगलसूत्र, वृंदावनलाल वर्मा, १९६०, तृ० अंक, दृश्य ७।
४५. संगीत ऑव इंडिया, अतिया बेगम, पृ० ७४।
४६. वसंत, सीताराम चतुर्वेदी, २०१० वि०, तृ० अंक, पृ० ४८।
४७. संगीतदर्पण, पं० दामोदर, १९५०, पृ० ३७।
४८. भारतीय श्रुति-स्वर-राग-शास्त्र : प० फीरोज फ्रामजी, १९३५ ई०, पृ० १९४।
४९. सेनापति पुष्यमित्र, सीताराम चतुर्वेदी, तृ० अंक, पृ० ९०।
५०. अमरसिंह, चतुरसेन शास्त्री, पृ० ४१।
५१. भारतीय श्रुति-स्वर-राग-शास्त्र, पृ० १९४

गीतों को संबद्ध नहीं किया है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि उनके गीत शास्त्रीय रागों में गाए ही नहीं जा सकते। उनके गीतों में भी लय, ताल, मात्राओं का बंधन है।

तालों का उल्लेख—पूर्व युगों की अपेक्षा इस काल के नाटकों में तालों की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया है। गीत के साथ तालों का उल्लेख केवल वृंदावनलाल वर्मा, सीताराम चतुर्वेदी, श्री गोविंदवल्लभ पंत ने कुछ नाटकों में किया है। इस प्रकार प्रमुखतः निम्नलिखित तालों का उपयोग किया गया है :

तीनताल कहरवा
एकताल दीपचंदी

इसमें से सर्वाधिक प्रयोग तीनताल का किया गया है। संगीत की दृष्टि से परीक्षा करने पर यह ज्ञात होता है कि नाटककारों ने जिन गीतों के साथ जिन रागों तथा तालों का उल्लेख किया है वे गीत उन्हीं रागों और तालों में सरलता-पूर्वक सुगेय हैं। यही उनकी सफलता है। कुछ गीतों की स्वरलिपि तैयार करके यह परीक्षा की गई है।

उपर्युक्त संपूर्ण विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि इस काल के नाटककारों ने नाटकों में प्रचलित संगीत की पुरानी परंपरा में यथासंभव नवीनता लाने का सफल प्रयास किया है किंतु प्राचीन प्रभावों से वे पूर्णतः मुक्त नहीं हो सके हैं। एक ओर उनपर रंगमंचीय नाट्यसंगीत का प्रभाव है; दूसरी ओर संस्कृत नाट्यसंगीत का प्रभाव है और तीसरी ओर आधुनिक फिल्मसंगीत ने भी उन्हें प्रभावित किया है। रंगमंचीय नाटकों के समान सस्ते, चलते हुए गीत, अस्वाभाविक और असाहित्यिक गीत, गजल, मद्यपगीत, वेश्यागीत एवं नृत्य, शृंगारिक गीत, उर्दू-अंग्रेजी-मिश्रित गीत, गीतों का अत्यधिक बाहुल्य एवं अनावश्यक स्थलों पर अस्वाभाविक प्रयोग तथा दर्शकों को चमत्कृत करनेवाला कोरा मनोरंजनप्रधान संगीत भी कुछ नाटकों में मिलता है। 'अंगूर की बेटी' (गोविंदवल्लभ पंत), 'आवारा', 'चुंबन', 'गंगा का बेटा' और 'डिक्टेटर' (बेचन शर्मा 'उग्र') नाटक इस कथन का प्रमाण है। कुछ अन्य नाटकों में संस्कृत नाटकों की प्राचीन परंपरा का अनुसरण किया गया है। नाटक के आरंभ में मंगलाचरण या स्तुति, नाटकांत में भरतवाक्य अथवा शुभकामना गीत नाटक 'जय सोमनाथ' और 'सेनापति पुष्यमित्र' (सीताराम चतुर्वेदी) तथा 'अंतःपुर का छिद्र' (गोविंदवल्लभ पंत) नाटकों में द्रष्टव्य हैं; तीसरा प्रभाव फिल्मसंगीत का है। इस काल के कुछ नाटकों में आधुनिक फिल्मसंगीत जैसे प्रयोग दृष्टिगत होते हैं क्योंकि उनमें उसी प्रकार

के स्थलों पर उसी रूप में संगीत दिया गया है। यद्यपि फिल्मसंगीत का मूल पारसी नाटकसंगीत में ही है क्योंकि फिल्म में भी उसी प्रकार के चलते हुए मनोरंजनप्रधान, अनावश्यक गीतों की भरमार रहती है किंतु इतना अवश्य है कि तुलना में फिल्म-संगीत अधिक लयपूर्ण, मधुर और गेय है। अतएव फिल्मसंगीत को हम पारसी-नाट्य संगीत का परिष्कृत स्वरूप स्वीकार कर सकते हैं। फिल्म टेकनीक का प्रभाव 'शतरंज के खिलाड़ी', 'स्वप्नभंग' और 'आजादी के बाद' नाटकों में दर्शनीय है। गीत के साथ साथ लेखक यह निर्देश देता है कि अमुक पात्र घूम घूमकर या नाच नाचकर गाता है।"[२] हमारी फिल्मों में गीत के साथ इस प्रकार का अभिनय अत्यंत प्रचलित है। 'आजादी के बाद' में सुरेश नामक पात्र हृदय के उल्लास को समेटने में असमर्थ होने पर कुछ देर कमरे में टहलकर प्यानो बजाकर गाने लगता है।'[३] हर्ष शोक की स्थिति में पात्रविशेष का प्यानो छेड़कर गाने लगना आधुनिक फिल्मसंगीत का आवश्यक अंग है। सुदर्शन के 'सिकंदर' और 'भाग्यचक्र' नाटक फिल्म टेकनीक के सर्वोत्कृष्ट प्रमाण हैं। ये फिल्मों के लिये ही लिखे गए थे। उनके संगीत की लोकप्रियता प्रसिद्ध है।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में प्रसादोत्तर नाटकों का संगीत अधिक स्वाभाविक, सरस, मधुर, विविधतापूर्ण, मौलिक तथा उपयुक्त है। गीत के प्रकार, वाद्ययंत्रों की विविधता, पार्श्वसंगीत का प्रयोग, शास्त्रीय तथा लोकनृत्यों के कलात्मक एवं सहज सौंदर्य, आदि सभी दृष्टियों से यह युग नाटकसंगीत में परिवर्तन तथा सुधार का इच्छुक है। नाटककार संगीत को अधिक से अधिक सुगम, स्वाभाविक, अभिनयात्मक और जन संस्कृति के निकट लाने के लिये सचेत रहे हैं, भले ही शास्त्रीय रागों और तालों के उल्लेख को उतनी प्राथमिकता न दी गई हो। सर्वप्रमुख तथ्य तो यही है कि विभिन्न आलोचनाओं, विरोधों एवं प्रभावों के होते हुए भी हिंदी नाटकों में इस काल के अंत तक संगीत की धारा उज्वल होती हुई प्रवाहित हो रही है। १९६० ई० तक हिंदी नाटकों में उसका स्रोत पूर्णतः सूखा नहीं है। यद्यपि निश्चय ही नाटकों से संगीत की स्थिति उठती जा रही है। कितने ही नाटकों में संगीत का नाम भी नहीं है। वस्तुतः एक ओर तो नाटक के विविध रूप हो गए हैं—गीतिनाट्य, नृत्यनाट्य एकांकी, रेडियो नाटक आदि में गीत, नृत्य और वाद्य संगीत ने अपना स्थान बना लिया है, दूसरी ओर फिल्मों के अधिक प्रचार के कारण जनता की अभिरुचि में परिवर्तन आता जा रहा है।

५२. शतरंज के खिलाड़ी, हरिकृष्ण प्रेमी, १९५५, पृ० ९२
५३. आजादी के बाद, विनोद रस्तोगी, पृ० ६२

आज का प्रेक्षक नाटकों में संगीत की पूर्वपरंपरा को अस्वाभाविक एवं हास्यप्रद समझता है। अतएव संभावना यही है कि धीरे धीरे नाटक संगीत का कोई महत्व नहीं रहेगा, विशेषतः रंगमंच पर गीत गाने की प्रथा को कोई स्थान नहीं दिया जायगा, वाद्य संगीत अथवा नेपथ्य गीत को भले ही कभी कभी अपना लिया जाय, जैसा आज भी कुछ नाटकों में उपलब्ध होता है।

*

अलीगढ़ विश्वविद्यालय के आजाद पुस्तकालय में संरक्षित कतिपय हिंदी पांडुलिपियाँ

शैलेश जैदी

मुस्लिम विश्वविद्यालय के प्रति सामान्य रूप से अनेक भ्रांतियाँ बनी हुई हैं। साधारणतः लोग इसे इस्लामी शिक्षा का ही केंद्र समझते हैं, और कुछ लोगों की दृष्टि में तो यह केवल मुसलमानों की एक संस्था है जिसमें विद्यार्थी और शिक्षक दोनों शत प्रतिशत मुसलमान ही होते हैं। इस प्रकार की बहुत सी भ्रांतियों का निराकरण श्रद्धेय प्रोफेसर डा० हरवंशलाल 'शर्मा' ने भारतीय हिंदी परिषद् के २०वें अधिवेशन में किया था। उसी की एक कड़ी के रूप में यहाँ मुस्लिम विश्वविद्यालय के हिंदी के कुछ हस्तलिखित ग्रंथों का विवरण प्रस्तुत कर रहा हूँ। मेरा विश्वास है कि अब भी भारत के इस्लामी पुस्तकालयों में हिंदी और संस्कृत का अच्छा साहित्य सुरक्षित है। रजा लाइब्रेरी, रामपुर, कुतुबखान ए सालारजंग, हैदराबाद, कुतुबखानए आसिफिया, हैदराबाद और खुदाबख्श लाइब्रेरी, पटना में हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों का अच्छा संग्रह है। इन सभी पुस्तकालयों के हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथ फारसी लिपि में ही हैं। मुस्लिम यूनिवर्सिटी की भी हिंदी-पांडुलिपियाँ नागरी लिपि में नहीं हैं। इनके लिये हम विशेष रूप से सर सुलेमान, अब्दुस्सलाम, अहसन मारहरवी और हबीबगंज संग्रहालय के आभारी हैं। प्रस्तुत लेख में 'जवाहर संग्रहालय' की किसी भी पांडुलिपि का विवरण नहीं है। जवाहर संग्रहालय के हस्तलिखित ग्रंथों पर अलग से एक लेख प्रस्तुत करूँगा। अन्य संग्रहालयों के भी हस्तलिखित ग्रंथों का यह पूर्ण विवरण नहीं है; यहाँ केवल ५० पांडुलिपियों का परिचय प्रस्तुत किया गया है।

(१) **अनुवाद भागवत गीता**—अनुवादक राजा बीरबल। आकार ११″×७″। कागज को विभिन्न रंगों में रँगकर सुनहरे, सफेद, पीले, लाल इत्यादि अनेक रंगों से लिखा गया है। कुल १६० पृष्ठ हैं। मुस्लिम यूनिवर्सिटी के लिटन् पुस्तकालय ने इसे १९५८ ई० में २५०) में क्रय किया था। किसी भी खोजरिपोर्ट में इसका विवरण नहीं मिलता। हिंदी गद्य के भाषावैज्ञानिक अध्ययन की दृष्टि से यह ग्रंथ बहुत अधिक महत्वपूर्ण है।

आदि—जब पांडवन के पुत्र और धृतराष्ट्र के पुत्र महाभारथ के युद्ध को कुरुक्षेत्र को चले तब धृतराष्ट्र कहा कि युद्ध का रंग देखन हौं भी चलौं हौं तब बासुदेव जी गोविंद जी...चौबीसौं अवतार जिनमें पुरान महाभारथ और बहुतै ग्रंथ संसार के कल्याण के निमित जिन पररवत किये हैं ऐसे जो बने श्री बासुदेव जी तो राजा धृतराष्ट्र कों कहा कि हे राजा तेरे तो नेत्र नाहीं, नेत्रौं बिना जुद्ध का कौसल कैसे देखि है तब राजा कहा कि प्रभुजी देखौं नाहीं तो स्रवन द्वारे सुनूँगा।"

मध्य—अर्जुन के बचन सुनकर श्री कृष्ण भगवान बोलत भये। श्री कृष्ण भगवान उवाचा हे अर्जुन मैं सभों तें परे हूँ और अबिनाशी हूँ इस कारण ते मेरा नाम ब्रह्म है, अदिव्यात्म जो मेरा नाम है तिसका अर्थ सुन मुझकों अपने ही प्रताप कर प्रताप है और अपने ही ज्ञानकर ज्ञान और अपने प्रकाश कर प्रकाश और जितने बहुत प्राणी हैं ब्रह्मा तें आदि लेकर जेते प्रजंत तिन्हूँ सभों आत्मों तें परे अधिक तिस कारण ते मेरा नाम अध्यात्म कहिए। अब जो मुझको कर्म कहते हैं सो सुन। सभी का उत्पत्तिकर्ता मैं ही हूँ और जैसे जैसे किसी के मस्तक कर्म की रेख लिखता हूँ तैसा ही तिसकों होता है। इस कारण तें मेरा नाम कर्म है। अब जो मेरा अद्भुत नाम है तिसका अर्थ सुन। भूत नाम है भूमि तें आदि लेकर जो है पाँचो तत्त तिन्हूँ भूतों का जो है अधिकारी ठाकुर अबिनासी तिस कारण तें मेरा नाम आदिहि देव है और एक मेरा नाम आदिहि जुग है तिसका अर्थ सुन, जेते जुग हैं जो देवता के निमित कीजिये और किसी के निमित कीजिये तिन्हूँ सभों जुग जगों का अधिकारी मैं हूँ।"

अंत—

...अब राजा मेरी और बात सुन जिस ओर जोगेसरों के ईसर श्री भगवान हैं और जिस ओर पारथी जू है अर्जुन काँद्यो धनुक का धारनहारा जिस ओर है और भगत भगवंत हैं तिसे ओर लछमी जिस ओर जे मेरे मित पहुँची करे तेरे पुत्र अधर्मी हारेंगे। परमेसर के भक्त पुनआत्मा पांडौ जे थ के परम ईसर की कृपा तें।

लिपिकाल—११३५ हिजरी, मुताबिक संवत् १७८०, लिपिकार दौलतराम।

(२) श्रीभागवत महापुराण (दशम स्कंध)—रचयिता कवि भूपति। आकार ७¾ × ४½"। लिखावट साधारण। कुल ५६० पृष्ठ। प्रत्येक पृष्ठ पर १७ पंक्तियाँ। पृष्ठसंख्या न होने के कारण जिल्दसाज ने जुज आगे पीछे कर दिए हैं। सूची बीच में पड़ गई है। कुल ९० अध्याय हैं। प्रथम पाँच अध्याय नहीं हैं। रचनाकाल संवत् १७४४ है। लिपिकाल संवत् १७६१ है। लिपिकार शिवराम हैं।

प्रारंभ

इति श्री भागवती महापुरानी दशम स्कंध व्रजभाखा भूपति बरनन

सुमिरौं आदि निरंजन देवा जेहिको देव न जानत भेवा
जोत रूप भगवान विधाता पुरुष पुरान प्रान को दाता
कमल नाभि नारायन स्वामी सब जीवन के अंतर्जामी

अंत

संबत तेरह सै भये चार अधिक चालीस
मृगसर की एकादसी सुद्धवार रजनीस
दच्छिन देस पुनीत में पूरन भयो पुरान
जो हित यों गावे सुने पावे पद परमान
साधुन सों बिनती करत धरत चरन पर सीस
पढ़त सुनत मो दीन कों मन सच देहु असीस
बिनती दूजी करत हौं सुनियो हो सब कोय
पढ़ियो परम पवित्र ह्वै जातें पाप न होय ॥

(३) श्रीभागवत महापुराण (दशम स्कंध)—रचयिता श्री भूपति, आकर ७¾×४½″, लिखावट साधारण। लिपिकाल संभवतः १२५२ हिजरी। रचनाकाल संवत् १७४४। कुल ४८० पृष्ठ, प्रत्येक पृष्ठ पर १६ पंक्तियाँ।

प्रारंभ

श्री गनेशायनमः

प्रथमैं लिखिये राम का नाम जातें सुधरत हैं सब काम
सुमिरौं आदि निरंजन देवा जेह कों देव न जानत भेवा
जोत रूप भगवान विधाता पुरुख पुरान प्रायन के दाता

अंत--

सम्मत सत्रह सै भये चार और चालीस
मगसर की एकादसी सुद्धबार रजनीस
दच्छिन देस पुनीत में पूरन भयो पुरान
जो हित सों गावे सुने पावे पद निरबान
साधुनु सों बिनती करी धरत चरन पर सीस
पढ़त सुनत मों दीन कों मन सच देहु असीस
बिनती दूजी जोर कर करत सुनो सब कोय
पढ़ियो परम पवित्र ह्वै जातैं, पाप न होय।

इति श्री महापुरान दसम स्कन्ध भूपति कृत सम्पूर्णम् समाप्तम्

(४) श्रीभागवत महापुराण । रचयिता—भूपति । आकार ६×६"। प्रारंभ का एक पृष्ठ नहीं है । लिखावट साधारण । कागद पुराना, दीमक खाया हुआ । कुल ५१२ पृष्ठ । प्रत्येक पृष्ठ पर १५ पंक्तियाँ । लिपिकाल संवत् १८५८ ।

प्रारंभ

तिन सौं सुनी हुती सुखदेवा जिन नित चित लायो हरि सेवा ।
जवै परीच्छत कीनीं सेवा तवै प्रशन्न भये सुखदेवा ।

अंत.

सम्मत सत्रह सै भये चार अधिक चालीस
मृगसर की एकादसी सुद्धवार रजनीस
सादुन सों बिनती करत धरत चरन पर सीस
पढ़त सुनत मों दीन कों निज कर देव असीस
दच्छिन जुवस पुनीत में पूरन भयो पुरान
जो हित सां गावे सुनै............पद निरमान

(५) रामायण गोस्वामी तुलसीदासकृत : — आकार ११½×६"। कागद मोटा, देशी कहीं कहीं से दीमक खाया हुआ । लिखावट सुंदर । बालकांड में २०० पृष्ठ, अयोध्या कांड १४४ पृष्ठ, अरण्य कांड ३४ पृष्ठ, किष्किंधा कांड १८ पृष्ठ, सुंदरकांड ३१ पृष्ठ, लंकाकांड ६४ पृष्ठ और उत्तरकांड ७२ पृष्ठ। प्रत्येक पृष्ठ पर २०,२१, या २२ पंक्तियाँ । लिपिकाल संवत् १८६३ विक्रमी । लिपिकार वंशीधर अग्रवाल ।

प्रारंभ

जेहि सुमिरत सुधि होय गननायक करिबर बदन
करहु अनुग्रह सोय बुद्धिरास सुभ गुन सदन
मूक होंहिं बाचाल पंगु चढ़ैं गिरिवर गहन
जासु कृपा सो दयाल दरेहु सकल कलिमल दहन
नील सरोरुहु स्याम तरुन अरुन बारिज नयन
करहु सो मम उर धाम सदाँ छप्र सागर सयन

अंत

दोहरा

मो सम दीन न दीन हित तुम समान रघुबीर
अस बिचारि रघुबंस मनि हरहु बिखम भितभीर
कामिहि नारि पियारि जिम लोभी प्रिय जिम दाम
तिम रघुनाथ निरंतर प्रिय लागेहु मोहि राम
इति श्री श्रीरामायन तुलसीदास तमाम शुद

अंत में पाँच पृष्ठों में कोंस कांड का वर्णन इस प्रकार है :

प्रारंभ

इथ कोंस काण्ड लिखते श्री कवित नेम:
सुन भुसंड के बचन सुभ देख राम पद नेह
बोलेऊ प्रेमसहित गुरुवर ग्राहित रँदेह

अंत

चले राव मनि गन सहित पील बजाय निशान
प्रात पत्र ले फिर कवन्ह अवध नगर तैरान

(६) रामायन गोस्वामी तुलसीदास कृत—आकार ११$\frac{3}{4}$×६$\frac{1}{2}$"। कागद मोटा, देशी, दीमक खाया हुआ। लिखावट सुंदर। किसी अन्य प्रति से मिलान करके विभिन्न स्थानों पर नोट लगाए गए हैं। कुछ शब्दों के अर्थ भी दिए गए हैं। लिपिकार का नाम नहीं है।

प्रारंभ

ओ३म् श्री गणेशाय नम:
श्री बालकांड

जिह सुमिरत बिधि होय गननायक करिबर बदन
करहु अनुग्रह सोय बुद्धिरास सुभ गुन सदन
मूकह हों बाचाल पंगव छड़इ गिरिवर गहन
बमानी गूँगा पाय लंग
जासु कृपा सो दयाल द्रवहु सकल कलिमल दहन
कुंद इंदु सम देह उमा रमन करुना अयन
बमानी फूल चंद्रमा
जोसु दोन पर नेह करहु कृपा मर्दन मयन

अंत

दोहा

मों सम दीन न दीन हित तुम समान रघुबीर
अस बिचार रघुबंस मनि हरहु बिखम भौ भीर

५५ दोहा

कामिहीं नारि पियारि जिम लोभिहीं प्रिया जिम दाम
तिमि रघुनाथ निरअंतर हैं प्रिया लागो मम राम

(७) श्री रामगीतावली, गोस्वामी तुलसीदासकृत। आकार ८½×५½" कागद मोटा, देशी, दीमक खाया हुआ। कुल २३७ पृष्ठ। प्रत्येक पृष्ठ पर ११ पंक्तियाँ, लिखावट साधारण। प्रारंभ के ४ पृष्ठ नहीं हैं। लिपिकाल संवत् १९१४। बुद्धवार स्थान राजभूमि अलवर। लिपिकार मोतीलाल पुत्र बहादुरसिंह कायस्थ, वासी सोथान गढ़।

प्रारंभ

'मुस्कान रामकली जाचीये गिरिजापति कासी, जासु भुवन उन्मादक दासी।
उडखानी द्रवित पुन थोरे, सकत न देख दीनकर जोरे।
सुख संपति मति सुगति सुहाई, सकल सुलभ शंकर सेवकाई।

अंत

किरपा गरीब नेवाज के देखत गरीब को साहस बाँह गही है
मोहेस राम कहेउ सत्त है सुद्ध मीन होति लही है
मुदित माथ नाथ नावत वेनी तुलसी अनाथ के परे रघुनाथ सही है।

(८) पोथी सूरसागर आकार ९½×६'। प्रारंभ के १६ पृष्ठों में विभिन्न फुटकल पद्य दिए गए हैं और फिर ४४ पृष्ठों में अबजद हउवज के नियमानुसार सूरसागर के रागों की सूची दी गई हैं। सूची इस प्रकार है :

प्रारंभ

हर्फे अलिफ

राग कोजरी अँधियारी भादों की रात
कोजरी आज बन कोऊ जिन जाए

अंत

राग मलार यह ऋतु ओस रहन की नाहीं

तत्पश्चात् सूरसागर प्रारंभ होता है। कुल १४५ पत्र हैं। पृष्ठसंख्या २९० है। प्रत्येक पृष्ठ पर १६ पंक्तियाँ हैं। लिखावट स्वच्छ सुंदर एवं चित्ताकर्षक है।

लिपिकार ने अपना नाम नहीं दिया है किंतु वह जहाँगीरनगर (ढाका) का निवासी था और उसने देवनागरी में लिखी हुई पोथी से नस्तालीक में ६ रबीउल अव्वल सन् ४६ हिजरी शुक्रवार एकादशी सुदी सावन को नकल किया है।

प्रारंभ

श्री गनेशायनमः श्री कृष्नायनमः श्री सरस्तो नमः

आगाज पोथी सूरसागर

दोहरा

जाय प्रलच्छत कुंज में जहाँ ही मुनि धरैं ध्यान
प्यासें नीर न पाइयो जगत कियो अपमान

एक भुवंगम कंठ धर राजा गये रसाय
सुन के ऋषि तहाँ पहुँचियो दियो सराब अकुलाय

समाप्त

लछमन जन हूँ भई सुपुत्री रामकाज जो आवै
कौसिल्या सों कहत सुमित्रा कत स्वामिनि दुख पावै
सूरदास प्रभु जेब सुनैया कुसल छेम घर आवै

(९) सूरसागर, रचयिता सूरदास। आकार ८½×५½"। कागद मोटा। लिखावट साधारण, लिपिकाल सन् ११६८ फसली। पृष्ठ संख्या ८१४। कुल १३२६ पद्य हैं।

प्रारंभ

चरन कमल बन्दौं हरिराइ
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे कों सब कुछ दरसाइ
बहिरा सुनैं गुँग पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराइ
सूरदास स्वामी करुनामय बार बार बन्दौं तिन पाइ

अंत

काहे कों झकझोरत..............बनाई
सूरदास प्रभु की लीला को जानैं........भाई

(१०) श्रीभागवत महापुरान रचयिता सूरदास। आकार ८½×५½", पृष्ठ-संख्या २८८। कुल ११ स्कंध। ६१ अध्याय। लिखावट सुंदर। लिपिकाल अज्ञात। पुस्तक के अंतिम पृष्ठ की इबारत से ज्ञात होता है कि १२६२ हिजरी में दो रुपए में क्रय की गई।

प्रारंभ

श्री गणेशायनमः

बलावल

चरन कमल बन्दौ हरि राइ
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघौ, अंधे को सब कुछ दरसाइ
बहिरा सुनै गुंग पुनि बोलै रंक चलै सिर छत्र धराइ
सूरदास स्वामी करुनामय बार बार बन्दौं सिर नाइ

अंत

तुमहीं सँभालो हे सुरनाथ
अन्धौं को कछु दूखन नाहीं

ताज महल तोर मंसब वाहीं
ओसुद याँसरा विचारिये।

तमत तमाम शुद, कारेमन निजाम शुद पुस्तक श्री राधा कृष्णजी मुसन्निफ सूरदास।

(११) सूरमंजरी—रचयिता सूरदास-आकार ७×४½" कागद बारीक। कुल २६६ पृष्ठ। प्रत्येक पृष्ठ पर १५ पंक्तियाँ। लिपिकार अजायबराय। लिपिकाल २ शाबान, सन् ८ जूलूस मुहम्मद शाह बादशाह। इंद्रजीत सक्सेना की पोथी से नकलकर के मिलान भी किया गया है। लिखावट सुंदर है।

प्रारंभ

राधा श्री कृष्णाय नमः लाल सहाय
राग भैरौं

कहा गुन कहौं सोच बिचार--जे गुन परम रूप अपार
जिह की गति शिव संग सुर मुनि ऋषि न पावत पार
ब्रंभादिक जाकी धान अंतर धरत बारमबार
नाँह वाको अंत पावत वे हैं अगम अपार

अंत

हम तो सत्त न छाड़ैं परम गुर मायो पंथ हमारी
सूरदास हँस सरबस दीन्हो बाबूराज पितारी

(१२) पदमावत—मलिक मुहम्मद जायसी कृत—आकार ८×४½"। कागद मोटा देसी। स्थान स्थान पर दीमक खाया हुआ। कुल २४४ पत्र। प्रत्येक पृष्ठ पर १६ पंक्तियाँ। लिपिकार मुहम्मद पुत्र मनका, निवासी बस्ती, परगना खिजराबाद। लिपिकाल २ रजब, ११६७ हिजरी। लिखावट साधारण। प्रारंभ में ४४ दोहे लिखे गए हैं जिनमें से कुछ उद्धृत किए जाते हैं :

पेमकहानी

चौवालीस दोहरा पेम कहानी के सुनियो देके कान
पेमकहानो कहत हौं सुनौ सखे तुम्ह आय
पिउ ढूँढन को हौं गये आये आप गँवाय
पेमकहानी बिसभरी मत कोइ सुनियो आय
बातों बातों बिसु चढ़ै देखत हीं घिर जाय
पेम गली अति साँकरी पिउ बिन कछु न सुहाय
तन मन छोड़ जो आसके तो पी आया जाय

तत्पश्चात् कबीर का अलिफनामा नकल किया गया है। कुछ पृष्ठ बीच में सादे छोड़कर पत्रसंख्या १६ के दूसरे पृष्ठ से पदमावत प्रारंभ होता है।

प्रारंभ

रब्बे यस्सिर बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम वतमम बिल खैर

सँवरौं आदि एक करतारू जिन्ह जिउ दीन्हकीन्ह संसारू
कीन्हेस प्रथम जोत परगासू कीन्हेस फुर परवत कैलासू.
कीन्हेस अगिन पवन जल खेहा कीन्हेस बहुतै रंग उरेहा
कीन्हेस धरती सरग पतारू कीन्हेस बरन बरन अवतारू

अंत

यह जो मोहै कछु कँरव नाँवा मैं कहा जो तोहै युह पावा
कदह की मुहमद होहि कबूलू जौ लहि जगत तो कह कबूलू
कलमाँ कहिते तजौं परानू मुख राता के चलौं समानू
महमद मुहम्मद सरन गहो डिगे नमन ते सोइ
बिधि किरपा कौनेहु जुगुति मोइ असमान नहिंहोइ

तमत तमाम शुद

(१३) पदमावत--मलिक मुहम्मद जायसी कृत। कागद मोटा प्राचीन। आकार ८"×५½"। कुल ४५४ पृष्ठ, प्रत्येक पृष्ठ पर १४ पंक्तियाँ। लिखावट सुंदर।

प्रारंभ

सँवरौं आदि एक करतारू। जिन जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू।
कीनेस प्रथम जोत परगासू। कीनेस बहु परबत कैलासू।
कीनेस पवन अगिन जल खेहा। कीनेस बहुतै रंग उरेहा।
कीनेस धरतो सुरग पतारू। कीनेस बरन बरन अवतारू।

अंत

कहाँ सुवा अलाउद्दीन सुलतानू। राघौ चेतन कीन्ह बखानू।
कहाँ सुरुप पदुमावति रानी। कोइ न रहा जग रही कहानी।
धनि सो रहे जिन्ह कीरति जासू। फूल मरै पै मरै न बासू।
केइँ न जगत सब छाड़ा केइँ न लीन्ह तन्ह मोल
जो यह पढ़ै कहानी हम, सँवरै दुइ बोल॥

लिपिकार ने तिथि और अपना नाम भी संभवतः दिया था किंतु दुर्भाग्य से इसके बाद का पृष्ठ नहीं मिलता। लिपिकार की अंतिम पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

होती हुई "चक्षुः, श्रोत्र......" आदि इंद्रियों से ज्ञात होती है। इसी वस्तु को अन्य प्रमाणों से स्पष्ट करते हैं, उनके मत में भी पूर्वोक्त वाक् तीन प्रकार का है—पश्यंती, मध्यमा, वैखरी।

शैवदर्शनानुयायियों ने यद्यपि 'परा' को चतुर्थ भेद माना है, तथापि उसको 'पश्यंती' वाक्रूप ही प्रतिपादित किया है, भिन्न नहीं। यथा—

इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाक्षयम्।
तदक्षरं शब्दरूपं स पश्यन्ती परा हि वाक् ॥१॥
स एवात्मा सर्वदेह व्यापकत्वेन वर्तते।
अन्तःपश्यदवस्थैव चिद्रूपत्वमरूपकम् ॥२॥
तावद्यावत्पराकाष्ठा यावत्पश्यन्त्यनन्तकम्।
अक्षादिवृत्तिभिर्हीनं देशकालादिशून्यकम् ॥३॥
सर्वतः क्रमसंहारमात्रमाकारवर्जितम्।
ब्रह्मतत्वं पराकाष्ठा परमार्थस्तदेव सः ॥४॥
आस्ते विज्ञानरूपत्वे स शब्दोऽर्थविवक्षया।
मध्यमा कथ्यते सैव बिन्दुनादमरुत्क्रमात् ॥५॥
संप्राप्ता वक्त्रकुहरं कंठादिस्थानभागशः।
वैखरी कथ्यते सैव बहिर्वासनया क्रमात् ॥६॥
घटादिरूपैर्व्यावृत्ता गृह्यते चक्षुरादिना।
शिवदृष्टि – सोमानन्दनाथ, आह्निक २ ॥

अक्षर, शब्दरूप, परावाक् से अभिन्न पश्यंतीवाक् क्षयरहित अतएव अनादि, नित्य ब्रह्मरूप है।

चैतन्यरूप और नीलादि रूपरहित, मूलचक्र तथा नाभिचक्र में प्रकाशमान् अवस्थावाली, समग्र शरीर में व्यापक पश्यंतीरूप वाक् ही 'आत्मा' है। नियत देश तथा नियत काल से रहित चक्षु आदि इंद्रियों के व्यापार से रहित अनंत को देखनेवाली, सर्वोपरि अवस्था की सत्तासंपन्न पश्यंती वाक् है। पूर्वभाव अपर भाव क्रम से वर्जित, निराकार, परमार्थरूप ब्रह्मतत्व है। वही शब्दरूप शब्द के अर्थ के कथन की इच्छा से विज्ञानरूप में विद्यमान होने पर बिंदु, नाद और पवन इस क्रम के अनुसार मध्यमा वाक् कहा जाता है। अर्थात् प्रथम प्रधान रूप शून्य है, द्वितीय नादरूप और तृतीय मरुत्रूप है। फिर वह मुखकुहर में प्राप्त होकर बहिर्गत पदार्थों की वासना से यथाक्रम कंठादि स्थानों से संबंधित होने पर वैखरी

संज्ञा से प्रसिद्ध है, जो 'पात्र, पुस्तक, घट······' आदि के रूपों में संपन्न, चक्षु आदि इंद्रियों से ग्रहण का विषय होती है।

शैव दर्शन के अनुसार समस्त वाङ्मयजगत् शब्दरूप है और परामर्श का विषय तथा विश्वरूप है। यह शब्दरूप विश्व यथाक्रम परा में अविकसित, पश्यंती में विकासोन्मुख एवं मध्यमा में विकसित होता है और वैखरी में पृथक् पृथक् परामर्श के रूप में विकास को प्राप्त होता है। परा वाक् का रूप रहस्यात्मक, चैतन्यस्वरूप तथा नित्य है, जिसे 'महासत्ता' भी कहते हैं।

शब्द के समस्त वाच्य अर्थ और वाचक रूप, परा के अंतर्गत क्रमरहित होकर विद्यमान हैं और अनभिव्यक्त हैं; पश्चात् अभिव्यक्त होते हैं वैखरी द्वारा, जैसे मयूर के अंडे में नील पीत आदि वर्ण और रस पहले अभिव्यक्ति रहित होते हुए पश्चात् अभिव्यक्त अथवा स्फुटित होते हैं उसी प्रकार समग्र वर्णावली परा के अंदर निविष्ट है। इस प्रकार वाक् तत्व और चैतन्य तत्व दोनों एक ही हैं। शक्ति और शक्तिमान् में अभेद दिखाई देने से वाक् और शिव अभिन्न हैं, एकरूप हैं। 'शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन' में इसका स्पष्टता से निरूपण किया गया है :

चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ॥१॥
या स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥२॥

विश्वव्यापी शब्दव्यापार का बोधक अनाहत शब्दरूप भी परा वाक् है।

भर्तृहरि ने इन तीनों वाणियों के पारस्परिक भिन्न रूप को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया है :

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रयो वाचः परं पदम् ॥

तीनों में स्थानों के भेद से भेद है। वैखरी का स्थान प्राण, मध्यमा का स्थान बुद्धि, पश्यंती का स्थान हृदय है। वक्ता से भिन्न श्रोता के श्रोत्र का विषय श्लिष्ट और व्यक्त वर्णवाली तथा संपन्न साधुभाव वैखरी है। और जिसका उपादान कारण केवल वह बुद्धि है जो सूक्ष्म प्राण के व्यापार का अनुगमन करती है, वह मध्यमा वाक् है। विशुद्ध और संनिविष्ट ज्ञेय आकार से संपन्न, बाह्य आकार से रहित, समस्त स्पष्ट, संसृष्ट और प्रशांत पदार्थों का प्रत्यवभास रखनेवाली पश्यंती वाक् है। इन तीनों का सर्वोत्कृष्ट बोध्य स्थान अथवा ज्ञान का हेतु

'व्याकरण' है। व्याकरण के द्वारा ही इनका समीचीनता से बोध हो सकता है अन्यथा नहीं।

इन तीन वाचाओं के विषय में अन्य विद्वानों का भी ऐसा ही कथन है। यथा—

स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा।
वैखरी वाक् प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धना ॥१॥
केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ॥२॥
अविभागा तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा ॥

कंठ, तालु आदि स्थानों में स्थिति होने से और उनमें अभिघात के लिये निरुद्ध होने पर 'क, ख, ग......' आदि वर्णों के स्वरूप का परिग्रहण वैखरी वाक् द्वारा होता है।

वैखरी शब्द की व्याख्या इस प्रकार की जाती है —

'विशिष्टायां खरायां खरावस्थायां स्पष्टरूपायां भवा' इति वैखरी — जयंत भट्ट। अथवा —

'विखरेषु कण्ठताल्वादिषु स्थानेषु भवा वैखरी' अथवा 'विखरे इन्द्रिय-संघाते भवा' इति वैखरी।—अभिनवगुप्तपाद।

इन तीन प्रकार की व्याख्याओं से स्पष्ट है कि 'क, ख, ग,......' आदि वर्णों का उच्चारण और ग्रहण वैखरी वाक् से ही साध्य है। ऋग्वेद में वाक्सूक्त की ऋचा से भी यह वस्तु सिद्ध है :—

'वृक्षे वृक्षे नियता मिमीते गौः' यहाँ वृक्ष शब्द शरीर अर्थ का वाचक है, जैसे "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते", इस श्रुति में वृक्ष शब्द शरीर अर्थ का बोधक है। 'गौ' शब्द वाणी अर्थ का बोधक है, जैसे 'विना गोरसं को रसः पण्डितानाम्' में गो शब्द वाणी अर्थ का प्रतिपादक है। 'गोदोहमास्ते' में 'गो' शब्द 'नारायण हरि' का बोधक है, किसी विशिष्ट भिक्षुक के भिक्षाकाल के लिये।

वृक्षे वृक्षे — प्रत्येक जीवित शरीर में पश्यंती और मध्यमा नाम की वाणी यथाक्रम नाभि और हृदय में नियम से निरंतर रहनेवाली, कंठ, तालु आदि स्थानों द्वारा आविर्भूत होकर ओम् और ओम् आदि शब्दमात्र की वाचक वैखरी वाणी है। मनुष्यमात्र वैखरी वाणी बोलते हैं। प्राणवायु में निबद्ध होने से प्राणवायु का व्यापार ही जिसका कारण है वह स्वरूप वैखरी वाक का है। यह वाक्

प्राणमय है। निम्नलिखित उद्धरण भी वैखरी वाणी को प्राणमय प्रतिपादित करता है :

अथाध्यात्मं वागेवर्कप्राणः साम तदेतदस्यामृच्यध्यूढं साम तस्मादृच्यध्यूढं साम गीयते, वागेव सा प्राणोमस्तत्साम ॥ छां० अ० १ खं० ७ ॥ अर्थात् आत्मा में संबंधित वाणी ही ऋचा है। पहले ऋचा का ही आविर्भाव हुआ, वह प्राण है, साम का, जो इस ऋचा में अधिष्ठित साम गाने का विषय है। इसलिये वैखरी वाणी प्राणमय है। प्राण का व्यापार ही इसका कारण है। हृदय में जिसका संकल्प होता है और कर्ण इंद्रिय से गृह्यमाण वर्णों की अभिव्यंजना से जो रहित है, वह मध्यमा वाक् कही जाती है। उसका उपादान कारण केवल बुद्धि है। और यह वैखरी वाक् के समान प्राणव्यापार की हेतुरूप से अपेक्षा नहीं रखती। प्राणों में स्थित होने से वर्णों के क्रम की धारणा इसमें अवश्य है और इसका आधार-स्थान मन ही है। पश्यंती और वैखरी के मध्य में रहने से इसकी मध्यमा संज्ञा है।

पश्यंती वाक् का स्वरूप स्वयंप्रकाशमान और ज्ञानस्वरूप है, जिसमें अर्थ और शब्द के विभाग का अवभास नहीं होता और जिसमें अर्थ और शब्द के देशकृत और कालक्रम का अभाव है। यह ज्ञेय और ज्ञाता के भेद से रहित अतएव सूक्ष्म एवं दुर्लक्ष्य और अपायरहित होने से नित्य है।

महर्षि पाणिनि ने भी अपनी शिक्षा में वैखरी वाक् का स्पष्ट रूप परम सरलता और सुगमता से प्रदर्शित किया है। यथा—

आत्मा बुध्या समेत्यार्थान्, मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम् ॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो, वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते ॥ पा० शि० ॥

आत्मा बुद्धि से संबंधित होकर शब्दों के अर्थकथन की इच्छा से मन का योग करता है और मन शरीर की अग्नि को प्रेरित करता है। वह अग्नि प्राण-वायु को प्रेरित करती है। वायु ऊर्ध्वगामी होकर मूर्धा में टकराकर फिर मुख में कंठ, तालु आदि स्थानों के संयोग से "क, ख, च, त, प" आदि वर्णों को उत्पन्न करता है।

इन तीनों वाणियों के विषय में सारांश यह है : इनमें प्रत्येक वाक् तीन प्रकार की है—स्थूल, सूक्ष्म, परा। इस भाँति वाक् के नौ प्रकार होते हैं। स्थूल पश्यंती वाक् वह है जिसमें वर्णों का विभाग नहीं होता और उदात्त, प्लुत आदि स्वरों की प्रधानता होती है तथा जिसका रूप संगीत है। गाने की

इच्छा होना सूक्ष्मा पश्यंती का रूप है। जो गाने की इच्छा से रहित और ज्ञानरूप है वह परा पश्यंती है। जो चर्म से मढ़े हुए मृदंग आदि बाजों में हाथ की चोट से पैदा होनेवाली ध्वनि जैसा है वह स्थूल मध्यमा वाक् है। बाजा बजाने की इच्छा ही सूक्ष्म मध्यमा वाक् है। बजाने की इच्छा से रहित और उपाधि से शून्य ज्ञानरूप परा मध्यमा है। वर्णों में परस्पर विलक्षणता अथवा भेद उत्पन्न करने से स्फुट और क, ख आदि वर्ण वाक्रूपी स्थूला वैखरी वाक् है। वर्णों का उच्चारण करने की इच्छा सूक्ष्मा वैखरी और वर्णों के उच्चारण की इच्छा से भिन्न और ज्ञानस्वरूप परा वैखरी है।

"स्वरूपज्योतिरेवान्तः परा वागनपायिनी" अंतर्गत ज्योति के स्वरूपवाली अथवा कभी नष्ट न होनेवाला प्रकाश ही परा वाक् है। इस चौथी परा वाक् को माननेवाले भी कुछ आचार्य हैं। तथापि अति सूक्ष्मरूपवाली पश्यती ही परा है, अन्य नहीं। पश्यंती का उल्लंघन करके इससे भिन्न परा वाक् है, यह विवाद अथवा विचार व्यर्थ है। जैसे सगुण और निर्गुण अथवा पर और अपर भेद से दो प्रकारों में वर्णित ब्रह्म एक ही है, उसमें विरोध नहीं है ; उसी प्रकार इस प्रकरण में भी गुणसंबंध को छोड़कर विचारास्पद वाक् कभी पश्यंती संज्ञा से और कभी परा संज्ञा से वर्णित की जाती है। प्राचीन वैयाकरण विद्वानों ने पश्यंती और परा का एक ही रूप माना है। तथा हि—

इत्याहुस्ते परं ब्रह्म, यदनादि तथाक्षयम्।
तदक्षरं शब्दरूपं, सा पश्यन्ती परा हि वाक्॥
(शिवदृष्टि–सोमानन्द नाथ, आ० २)

वाक् के तीन भेद होने से बीचवाला मध्यमा वाक् कहा जाता है। पश्यंती और वैखरी के मध्य में स्थित होने से यदि चार भेद होते हैं तो मध्यमा नाम संगत नहीं होगा।

भावार्थ—एक ही वाक् पूर्वोक्त नौ भेदों में नौ अवस्थाएँ होने से नौ प्रकार की होती है—(१) परपश्यंती, (२) सूक्ष्मपश्यंती, (३) स्थूलपश्यंती, (४) परमध्यमा, (५) सूक्ष्ममध्यमा, (६) स्थूलमध्यमा, (७) परवैखरी, (८) सूक्ष्मवैखरी, (९) स्थूलवैखरी। इन नौ अवस्थाओं के अतिरिक्त इनका कारणभूत दसवाँ परा वाक् भी सत्तासंपन्न है। इसके तीन भेद हैं। नौ पूर्वोक्त भेद और तीन ये, कुल बारह भेद होते हैं। ये बारह किरण हैं। वाक्रूप शब्द सूर्य है। तथा हि...

सर्वभूतान्तरचरः शब्दब्रह्मात्मको रविः।
भित्वा यं बोधखड्गेन निर्गच्छन्त्यविशङ्किताः॥

समस्त प्राणियों के अंतर्गत गतिशील (चलायमान) शब्दब्रह्मरूप सूर्य-विद्यमान है, ज्ञानरूपी शस्त्र से उसका भेदन करके बहिर्गत तत्वों का निःशंक ज्ञान प्राप्त होता है। तथावा 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' यजुर्वेद ।। अ० ४ । मं० ७ ।। सूर्य ही आत्मा है । ज्ञान की किरणें ही आत्मा की शक्ति है, जो सूर्य की किरणें हैं। समस्त पदार्थों का प्रकाशक होने से सूर्य ही शब्दब्रह्मरूप और वेदरूप है। सोलह कलाओं से संपन्न पुरुष में (वेदपुरुष में) पंद्रह कलाएँ परिणत होने पर भी सोलहवीं ज्ञानरूप एक कला परिणाम की साक्षीभूत है। अमृतस्वरूप नित्य है। यह दैवी — देव संबंधी—वाक्, योगियों और ज्ञानियों के ज्ञान का विषय कहा गया है। यद्यपि अमृतस्वरूप इस वाक् का न तो निरोध संभव है और न विनाश तथापि वक्ता के कथन की इच्छा से निरोध का केवल व्यपदेश होता है। निष्कल अर्थात् अवयवरहित परमतत्व के समान रसभाव को प्राप्त होता हुआ अनादि जो वाक् शब्द और अर्थ का जोड़ा है, निरंजन रागरहित परब्रह्म है।

वैयाकरणसिद्धांतमंजूषा में नागेश भट्ट का कथन है :

परा वाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता ।
हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कण्ठदेशगा ।

मूल आधार में ठहरनेवाले पवन से संस्कार की हुई, मूल आधार में रहनेवाली शब्दब्रह्मस्वरूप तथा स्पंदन क्रिया से रहित बिंदुस्वरूप परावाक् है। नाभि तक आनेवाली उस वायु से अभिव्यंजित, मनरूपी भूमि में रहनेवाली पश्यंती वाक् है। उसके पश्चात् हृदय तक आने वाली, उस वायु से अभिव्यक्त भिन्न भिन्न अर्थों के वाचक भिन्न भिन्न शब्दोंवाली स्फोटरूपा, कर्ण–इंद्रियों से ग्रहण होने के योग्य न होने से सूक्ष्म, जप अथवा ध्यान में केवल बुद्धि द्वारा ही ग्रहण का विषय मध्यमा वाक् है। उसके पश्चात् मुँह तक आनेवाली और ऊपर को जानेवाली उस वायु से मूर्धा ताड़ित होती है, फिर वह वायु लौट कर कंठ तालु आदि स्थानों में अभिव्यंजित होकर वाणी श्रोता के सुनने योग्य होती है। वही वैखरी वाक् है। इस प्रकार वाक् चार प्रकार की है। यह नागेश भट्ट का कथन अन्य वैयाकरणों के अनुसार नहीं है। श्री भर्तृहरि ने भी वाक् तीन ही प्रकार की मानी है, जिसका पहले कथन हो चुका है। यदि कहा जाय कि ऋग्वेद के निम्नलिखित मंत्र का महर्षि पतंजलि ने व्याकरण महाभाष्य पस्पशा आह्निक में उदाहरण दिया है और उसकी व्याख्या में परा, पश्यंती, मध्यमा और वैखरी— ये चार प्रकार कहे गए हैं तथा यह निर्धारित किया गया है कि साधारण मनुष्य वैखरी (चतुर्थ) वाक् का ही प्रयोग करते हैं। तथा हि—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥
ऋग्वेद ॥ १ । १६४ । ४५ ॥

वाणी के परिमापक चार भेद हैं — परा आदि—यह व्याख्या सिद्धांत संमत नहीं है । प्रदीपकार कैयट ने उस मंत्र की इस प्रकार व्याख्या की है — पद चार प्रकार के हैं; (१) सुबंत, (२) तिङन्त, (३) उपसर्ग, (४) निपात। इनमें प्रत्येक के परा आदि चार चार भेद हैं, उन्हें विद्वान् ब्राह्मण जो—प्रकृष्ट वैयाकरण हैं—पूर्णतया जानते हैं । वे अज्ञानरूप अंधकार को व्याकरणरूप प्रदीप से विदीर्ण करके उन चारों का ज्ञानरूप प्रकाश प्राप्त कर लेते हैं । व्याकरण के बोधरूप प्रकाश से शून्य साधारण मनुष्य उन चारों के केवल चतुर्थ भाग का ही बोलने में प्रयोग करते हैं और अन्य तीन भागों के अज्ञान से उनकी चेष्टा ही नहीं करते ।

वैखरी वाक् के स्वरूपप्रदर्शन के अवसर पर पहले कहा गया है कि तीसरा मध्यमा वाक् मरुत्रूप हृदयस्थ है वह मरुत् मुख में पहुँचकर बाह्य 'घट, पट···' आदि पदार्थों की वासना से यथाक्रम कंठ आदि स्थानों से संबंधित होकर 'अ, क··' आदि वर्णों के उच्चारण का साधन वैखरी वाक् है। यही शब्द है । बहिर्गत लौकिक किन्हीं पदार्थों का देखना, किन्हीं का स्पर्श, किन्हीं का सूँघना, किन्हीं का चखना, किन्हीं का सुनना — इस अविद्यारूप वासना के द्वारा पुस्तक, पुष्प, फल इत्यादि आकारों में अपने रूप से रूपांतर में प्रदर्शित अथवा परिणत वही वैखरी वाक्—चक्षुः त्वचा, नासिका, जिह्वा, कर्ण—इन इंद्रियों से ग्रहण की जाती है ।

वैशेषिक शास्त्र और न्यायशास्त्र के प्रणेताओं ने कार्यों में कारणधर्म का समन्वय प्रतिपादित किया है, इसीलिये पार्थिव द्रव्यजन्य घट, पट आदि पदार्थों को पृथ्वीरूप कहा है और जिसप्रकार सांख्यशास्त्रानुयायियों ने प्रधान प्रकृति का परिणाम विकाररूप सुख, दुःख आदि में इनके कारण प्रकृतिरूप का समन्वय प्रदर्शित किया है. उसीप्रकार पुस्तक, पुष्प, फल, घट, पट आदि पदार्थों में शब्द-रूप का अनुगम अवश्य होने से इनका कारण भी शब्द-(वैखरी वाक्) रूप है । पदार्थों में शब्दरूप का अनुगम इस प्रकार जानना चाहिए । महर्षि पतंजलि ने 'ऋलृक्' सूत्र के भाष्य में कहा है : चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति—जातिशब्दाः, गुणशब्दाः, क्रियाशब्दाः, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः । यथा — गौः, शुक्लः, चलः, डित्थः । इनमें जातिवाचक शब्द है गौ, गुणवाचक शुक्ल, क्रियावाचक चल और संज्ञावाचक (यदृच्छावाचक) डित्थ है । पहले तीन शब्द विशेषण हैं, चौथा विशेष्य

है—डित्थ नाम की गौ (श्वेतवर्णवाली) चलती है। इस रूप में विशेष्य-विशेषण-भाव का अवगाहन करानेवाला इन शब्दों के अर्थों का बोध—इन चारों प्रकार के शब्दों से ही होता है। इसलिये अर्थ शब्द के साथ अनुबद्ध है। सब प्रकार के शब्दों के अर्थ सर्वदा सब प्रकार से और सर्वत्र अपने अपने शब्दों के साथ समन्वित हैं। कोई भी अर्थ; किसी भी प्रकार से, कहीं भी और कभी भी शब्द से पृथक् अथवा वियुक्त नहीं होता। अतः शब्द और अर्थ का अभेद मानना आवश्यक है। शब्दों से प्रतीयमान अर्थ - समानाधिकरणता (एकरूपता) से अभिन्न प्रतीत होता है। यथा — गौ यह अर्थ, अश्व यह अर्थ — ऐसा बोधहोने से शब्द और अर्थ की समानाधिकरणता (एकरूपता) से शब्द और अर्थ का अभेद स्पष्ट है।

इस सिद्धांत में यह शंका नहीं हो सकती कि चक्षु आदि इंद्रियों के समान शब्द अर्थज्ञान का उपाय अर्थात् साधन है। कारण — चक्षु, घ्राण, रसन, त्वक्, कर्ण—ये इंद्रियाँ अपने अपने रूप, गंध, रस, स्पर्श, शब्द इन गुणों के यथाक्रम ज्ञान में उपायभूत हैं। किंतु चक्षु आदि इंद्रियों की रूपादि से समानाधिकरणता नहीं है। पर शब्द अर्थ के ज्ञान में उपायभूत नहीं है, किंतु शब्द के साथ अर्थ की एक रूपता (समानाधिकरणता) अनुभव से ही प्रतीत होती है। और अर्थ के साथ शब्द की एकरूपता से भी अनुभव द्वारा ही प्रतीति का विषय स्पष्ट है। यह रूप है, यह रस है — यह प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विवाद है। षड्ज, ऋषभ, गंधार, मध्यम, पंचम, धैवत, निषाद—इन स्वरों में शब्द के उत्कर्ष से अर्थ के उत्कर्ष और शब्दों केअपकर्ष से अर्थ के अपकर्ष द्वारा शब्द और अर्थ की तदात्मता प्रत्यक्ष होती है। जब बालक को अर्थ के ज्ञान के लिये बड़ों के द्वारा यह व्यवहारज्ञान होता है कि यह पत्र है, यह पुष्प है, यह फल है, यह पात्र है — तब बालक को भी शब्द के प्रयोग से ही अर्थ का बोध होता है, शब्द के लिखने से नहीं। इससे भी यह स्पष्ट है कि शब्द और अर्थ की एकरूपता होती है दोनों में परस्पर भेद नहीं।

यह कुछ है — यह निर्विकल्पक (अनिश्चयात्मक) ज्ञान और यह गौ है, यह अश्व है — यह सविकल्पक (निश्चयात्मक) ज्ञान शब्द के साथ ही अर्थ का बोधक है। 'गौ' शब्द के चतुष्पाद् व्यक्तिरूप अर्थ के अथवा 'अश्व' शब्द के चतुष्पाद व्यक्तिरूप अर्थ के अथवा घट, पट आदि किसी भी शब्द के अर्थ के विषय में जब प्रश्न किया जाय कि यह क्या है तब गौ आदि शब्द से ही उत्तर दिया जायगा। इसमें शब्द विशेषण और अर्थ विशेष्य होगा। शब्द की महिमा से प्रकाश होने वाले अनुभव से ही अर्थ विशेष्य है और शब्द विशेषण है — यह निर्धारित होता है। शब्द ही अर्थ पर आरूढ़ होकर प्रकाशित होता है और जिसपर आरूढ़ होकर शब्द का प्रकाश होता है उसका पृथक् प्रदर्शन और अनुभव असंभव है।

शब्द का ही यह प्रकाश है कि शब्द विशिष्ट अर्थ है अथवा शब्द पर आरूढ़ अर्थ है — इससे यह निश्चय हुआ कि अर्थ शब्द का विवर्त्त है, कोई अन्य वस्तु नहीं है। जैसा पहले कहा गया है —

विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।

शब्द के विवर्त्त अर्थ को श्रुति भी प्रमाणित करती है—

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे नामैवेदं,
रूपत्वेन वध्रुते। वाचा वा इदं सर्वं प्रभवति ॥

शतपथ ब्राह्मण, प्रथम कांड अ० ३ ब्रा० २ ॥

वाणी ही समस्त जगत् की उत्पत्ति का हेतु है। शब्द ने समस्त लोकों को उत्पन्न किया, शब्द का ही अर्थ के रूप में विवर्त है, विवर्त का अर्थ परिणाम है— जैसे जल में आवर्त (भ्रमि), बुद्बुद (बुलबुला), तरंग (लहर)…यह जल के विकार जलरूप ही हैं, जल से भिन्न नहीं। ये भ्रमि आदि वायु आदि की विशेषता-रूप निमित्त से संपन्न होते हैं, इसीलिये 'विवर्तते अर्थभावेन' इसमें विवर्त का अर्थ शांत रक्षित ने परिणाम किया है। यथा—

नाशोत्पादा समालीढं ब्रह्मशब्दमयं च यत्।
यस्तस्य परिणामो ऽयंभावग्रामः प्रतीयते ॥

उत्पत्ति और नाश से रहित शब्दरूप ब्रह्म है। सत्तावान् समस्त जगत् उसका परिणाम है। यदि शब्दरूप ब्रह्म एक है तो इससे विजातीय, विभिन्न और विचित्र पदार्थों का उद्भव असंभव है। किसी एक वस्तु से सजातीय भिन्न भिन्न तत्वों की निष्पत्ति होती है यथा सुवर्ण से सुवर्ण संबंधी, रजत से रजत संबंधी, पृथ्वी से पृथ्वी संबंधी ही वस्तुओं की उत्पत्ति होती है - यह शंका हो सकती है। तथापि ब्रह्म एक ही है, परंतु उसकी शक्तियाँ विचित्र और विभिन्न हैं जो विचित्र पदार्थों अथवा कार्यों की जनक हैं। उन शक्तियों का भेद आरोपित करके विभिन्न कार्यों का उत्पादक ब्रह्म एक ही है। इसको अनेक श्रुतियाँ प्रमाणित करती हैं—'एकमेवाद्वितीयम्' छा० अ० ६ खं० २, ब्रह्म ही एक है। 'अद्वैत एक एवाभवत्' बृ० अ० ४ ब्रा० ५ समस्त ब्रह्मांड अथवा जगत् एक ब्रह्मरूप है। 'सलिल एवैको द्रष्टा' प्र० उ० प्र० ४, सलिल अर्थात् ब्रह्म ही एक समस्त का द्रष्टा है।। 'प्रणव एवैकस्त्रेधा व्यभज्यत' मां० उ०, विवर्तरहित प्रणव एक ब्रह्म है; जो ऋक्, यजुः और साम इन तीनों में विभक्त है। एक होने पर भी अपनी शक्तियों के भेद से पृथक् अथवा भिन्न के समान प्रतीत होता है, वस्तुतः भिन्न नहीं है। एक ही है। लौकिक विभिन्न पदार्थों में पारस्परिक भेद प्रतीत होने पर भी उन सबोंका ज्ञान तो एक

ब्रह्म संबंधी ब्रह्मरूप ही है। यथा -तरंग, ऊर्मि आदि एक जल के विकार जलरूप ही हैं। एवं पुष्प, वस्त्र, घट आदि एक पृथ्वी के विकार पृथ्वीरूप ही हैं, भिन्न नहीं। नाना प्रकार के वर्थों को उत्पन्न करनेवाली और अनंत शक्तियों से संपन्न ब्रह्म की स्वतंत्र शक्ति है, काल (समय) उसके क्रम रूप से यथाक्रम कार्यों का जो निष्पादन है वह ब्रह्म की शक्ति करती है। कारण की समस्त शक्तियाँ समयानुसार ही कार्यों का विधान करती हैं। जैसे शरीर के संबंध में देखिये जन्म, सत्ता, परिणाम, वृद्धि, ह्रास और नाश ये छः विकार काल की शक्ति से संपन्न होते हैं, वैसे ही समस्त जगत् का कारण शब्दब्रह्म है, उसकी शक्ति काल है, उसी के प्रतिबध से सांसारिक पदार्थों में उत्पत्ति सत्ता, विपरिणाम, वृद्धि, ह्रास और ध्वंस—इन विकारों का व्यवहार होता है। इसी हेतु से सदा अथवा एक काल में अनेक अथवा समस्त पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती काल की अनुगति से यथाकाल ही होती है। इससे यह सिद्ध हो गया कि वस्तुमात्र से अभिन्न ब्रह्म सांसारिक समस्त कार्यों का जनक है। वह ब्रह्म ही भोक्ता आदि सकल लौकिक व्यवहारों का हेतु है। सबकी बीजभूत ब्रह्म की सत्तारूप शक्ति अनेक भेदवाली है, जो लौकिक व्यवहारों की प्रवर्तक है···जैसे भोक्ता - भोगने वाला—भोक्तव्य,--भोग के योग्य वस्तु—और भोग—इन प्रकारों में स्पष्ट है कि भोक्ता पुरुष, भोक्तव्य, इंद्रियों के विषय और भोग, विषयों के भोग से उत्पन्न सुख, दुःख आदि का अनुभव। इसी का भर्तृहरि भी समर्थन करते हैं :

सर्वशक्त्यात्मभूतत्वमेकस्यैवेति निर्णयः।
भावानामात्मभेदस्य कल्पना स्यादनर्थिका॥

सर्वशक्तिमान ब्रह्म ही एक है। पदार्थों में भेद तो अज्ञान से कल्पित किया हुआ मिथ्या है और पारमार्थिक नहीं है। अनेक कार्यों की उद्भूति से एक ब्रह्म की ही एक शक्ति का भेद है। विभिन्न पदार्थों में स्वरूप से यथार्थ भेद नहीं।

शब्दब्रह्म की प्राप्ति का साधन क्या है और उसका आकार कैसा है, इसका निर्देश किया जाता है। उसके प्राप्त होने का उपाय (साधन) और उसकी मूर्ति (आकार) वेद हैं।

नीचे लिखे उद्धरण में वाणी के आकार और महत्व का वर्णन स्पष्टता से किया गया है :—

वाग्वाव नाम्नो भूयसी वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति।

यजुर्वेदं सामवेदमथर्वाणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षात्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्वदेवजनविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवांश्च

मनुष्यांश्च पशूंश्च वयांसि च तृणवनस्पतीन् श्वापदान्याकीटपतङ्गपिपीलिकं धर्मं चाधर्मं च सत्यं चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं च यद् वै वाङ्नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्व । स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद् वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ॥ छा० अ० ७, खं० २ ॥

अर्थात् प्रचुरतम विस्तारसंपन्न वाणी ही ऋग्वेद आदि चारों वेदों का बोध कराती है। इतिहास, पुराण, पितृसंबंधी राशि, देवसंबंधी निधि, वार्ताप्रकरणगत, देवविद्या, ब्रह्मविद्या आदि समग्र विद्याएँ, पृथिवी आदि पाँचों तत्व, देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, वनस्पति आदि वृक्ष, सिंह आदि वनजंतु, कीड़े मकोड़े, चींटी इन सबों का और धर्म, अधर्म, सत्य, मिथ्या, अच्छा, बुरा, प्रिय, अप्रिय का बोध वाणी के अधीन है, जो वाणी का विषय नहीं है — वह कोई वस्तु नहीं है। वाणी ही समस्त ज्ञान का कारण है, वाणी ब्रह्म है, वाग्ब्रह्म की उपासना से वाणी में विद्यमान् समग्र कामना सिद्ध होती है।

यद्यपि प्रथम वेद एक ही था, तथापि विभिन्न ऋषियों द्वारा पृथक् पृथक् प्रकार से अभ्यास करने के कारण ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद इन चार भेदों में संपन्न होने से चार संज्ञाएँ हो गईं। मैं देखता हूँ, मैं सुखी हूँ, यह वस्तु मेरी है, यह कार्य मैंने किया है — इस प्रकार की जो अहंकार की ग्रंथि है, उसका उल्लंघन अथवा वर्जन अथवा निवृत्ति ही ब्रह्म की प्राप्ति का स्वरूप है, जिसका 'पंचदशी' में इस रूप में प्रतिपादन किया गया है :

अप्रवेश्य चिदात्मानं पृथक् पश्यन्नहंकृतिम् ।
इच्छंस्तु कोटिवस्तूनि न बाधो ग्रन्थिभेदतः॥

चित्तस्वरूप आत्मा को अहंकार से संबद्ध न करके अहंकार को उससे पृथक् देखने पर अहंकार की ग्रंथिनिवृत्ति हो जाती है। फिर वस्तुओं की इच्छा भी बाधक नहीं होती। अभियुक्त का वाक्य भी है —

वाचः संस्कारमाधाय वाचं ज्ञाने निवेश्य च ।
विभज्य बन्धनान्यस्याः कृत्वा तां छिन्नबन्धनाम् ॥
ज्योतिरान्तरमासाद्य छिन्नग्रन्थिपरिग्रहः ।
परेण ज्योतिषैकत्वं छित्वा ग्रन्थीन् प्रपद्यते ॥

व्याकरण से वाणी का संस्कार करके और अर्थज्ञान में संस्कारसमन्वित शब्द को नियुक्त करके वाणी के अविद्या और अहंकार आदि बंधनों को दूर करके अहंकार की ग्रंथि से निवृत्त हुआ, अंतर्गत ज्ञानरूप ज्योति को प्राप्त कर परमज्योति के साथ एकत्वभाव को प्राप्त हो जाता है। महर्षि पतंजलि ने भी पस्पशा

आह्निक में व्याकरण के प्रयोजनों के प्रदर्शन में निम्नलिखित श्रुति की व्याख्या में शब्द को ब्रह्मरूप प्रतिपादित किया है :

चत्वारि शृङ्गाः त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥ — ऋग्वेद — ४।५८।३ ।

ऋग्वेद के इस मंत्र में शब्द का पशुविशेष वृषभ के आकर में और मेघ के अर्थ में निरूपण करके शब्द की परब्रह्म के साथ समता का प्रतिपादन किया गया है, जो निम्नलिखित व्याख्या से स्पष्ट है :

चत्वारि शृङ्गाः वृषभ के शृंगों के स्थानापन्न शब्द के चार रूप हैं — १ — नाम, २– आख्यात, ३ — उपसर्ग, ४ — निपात । १— नाम — अर्थात् सुबंत सातों कारकों में रूढ़, योगरूढ़ और यौगिक शब्दों का प्रयोग। २ — आख्यात क्रिया (तिङन्त) 'भवति, गच्छति —' आदि । ३ — उपसर्ग — क्रिया के साथ जिसका पूर्वयोग होने से धातु का अर्थ बदल जाता है, जैसे — गमन अर्थवाले गम धातु के 'गच्छति' के पूर्व 'आ' उपसर्ग के योग से 'आगच्छति' का अर्थ हो जाता है — आता है, 'अव' उपसर्ग का पूर्वयोग होने से 'अवगच्छति' अर्थात् जानता है, अर्थ हो जाता है । ४— निपात च, वा इत्यादि । 'च' यह दूसरे शब्द का संबंध बतलाता है, जैसे रामः कृष्णश्च गच्छति – राम और कृष्ण जाते हैं अथवा राम जाता है और कृष्ण । यहाँ 'जाता है' इस क्रिया के साथ 'च' शब्द के प्रयोग से 'कृष्ण' का संबंध हो जाता है । त्रयोऽस्य पादाः भूत, भविष्यत् वर्तमान, ये तीन काल शब्द के तीन पैर हैं; क्योंकि उत्थान पैरों से ही होता है और इन तीनों कालों में ही क्रिया का प्रयोग होता है । द्वे शीर्षे शब्द की दो आत्म (स्वरूप) हैं, एक नित्य जो अंतरीय अर्थात् परा अथवा पश्यंती रूप है और दूसरा कार्य जो वैखरी रूप अनित्य है ।

सप्त हस्तासः—शब्द के सात हाथ हैं, जो सात विभक्तियाँ हैं; जैसे— हाथों से ही समस्त कार्यों का संपादन होता है वैसे ही प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी और सप्तमी इनमें से अर्थ के अनुसार किसी न किसी का शब्द के साथ प्रयोग अवश्य होता है, विभक्तिरहित शब्द का प्रयोग व्याकरण शास्त्र के अनुसार नहीं हो सकता ।

त्रिधा बद्धः—(१) उरःस्थल, (२) कंठ, (३) मूर्धा इन तीनों स्थानों से ही शब्द का उच्चारण होता है, कंठ से यहाँ मुख के अंतर्गत दंत आदि स्थानों का भी बोध होता है ।

वृषभो रोरवीति—कामनाओं के वर्षण से अर्थात् जलद मेघ के समान उनके दान से शब्द उच्चरित होता है ।

महो देवो मर्त्या आविवेश — 'महान् परब्रह्मस्वरूप देव अंतर्यामी स्वरूप शब्द मनुष्यों में आविष्ट हुआ अर्थात् मनुष्यों में अपने अभेद (एकता) को प्रकट किया, इसलिये परब्रह्म के सायुज्य (सहयोग) के लिये व्याकरण का अध्ययन आवश्यक है। इस रूप में व्याकरण के अध्ययन का एक यह भी प्रयोजन महर्षि ने पूर्वोक्त ऋचा द्वारा व्यक्त किया है। शब्दब्रह्म की प्राप्ति का साधन अथवा उसकी प्रतिमा वेद है, यह निष्कर्ष निकलता है। इसी अर्थ का भर्तृहरि भी प्रतिपादन करते हैं :

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।
प्राहुर्महान्तं वृषभं येन सायुज्यमिष्यते ॥ का० १३१ ॥

यथार्थ ज्ञानपूर्वक साधु शब्द का प्रयोग करनेवाले वाग्वेत्ता के अंतर्गत शब्द आत्मा है, जो महावृषभ ब्रह्मरूप है; अतः प्रयोक्ता का उसके साथ सहयोग हो जाता है। अर्थात् शब्द की दो आत्मा हैं, नित्य और कार्य। नित्य तो सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परा अथवा पश्यंतीरूप शब्दवृषभ है। व्याकरण शास्त्र के ज्ञान द्वारा यथार्थ शब्द के प्रयोग से पुरुष निष्पाप होता हुआ अहंकार की ग्रंथियों का विच्छेद करके ब्रह्म के साथ अत्यंत सायुज्य को प्राप्त हो जाता है। और कार्यात्मक शब्द वैखरी रूप है।

निष्कर्ष यह है : ब्रह्म के द्वारा पहले एक ही वेद का आविर्भाव हुआ। उसके परम महान् होने से अध्ययन का सामर्थ्य अध्येताओं को दुर्लभ हो जाता, अतः चार भागों (वेदों) में उसको इस रूप से विभक्त किया गया — ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। जैसा श्री मद्भागवत् में उल्लिखित है :

चातुर्होत्रं कर्मशुद्धं प्रजानां वीक्ष्य वैदिकम्।
व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम् ॥ १ ॥
ऋग्यजुःसामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्धृताः।
तत्रर्ग्वेदधरः पैलः सामगो जैमिनिः कविः ॥२॥
वैशम्पायन एवैको निष्णातो यजुषामुत।
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः ॥३॥
॥ भा० स्कं० १, अ० ४, श्लो० १६, २०, २१ ॥

वायुपुराण में भी कथन है :

वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजन् प्रभुः।
ब्रह्मणो वचनात्तात लोकानां हितकाम्यया ॥१॥
चातुर्होत्रमभूत्तस्मिंस्तेन यज्ञमकल्पयत्।
आध्वर्यवं यजुर्भिस्तु ऋग्भिर्होत्रं तथैवच ॥२॥
उद्गात्रं सामभिश्चक्रे ब्रह्मत्वं चाप्यथर्वभिः।

सनत्सुजातीय में भी कहा है :

एकस्य वेदस्याज्ञानाद् वेदास्ते बहवः कृताः ।

समस्त वेद का अध्ययन तथा ज्ञान दुष्कर होने से उसके चार भेद किए गए हैं।

विशिष्ट विद्वानों की उक्ति है :

सर्वार्थवेदको वेदश्चतुर्धा भिद्यते क्रमात् ।
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्वणः ॥१॥

कुछ व्यक्तियों का कथन है :

ब्रह्म से तो एक ही वेद का आविर्भाव हुआ; भिन्न भिन्न ऋषियों के अध्ययन तथा अभ्यास के कारण उन उन ऋषियों के नाम से विभिन्न शाखाओं के भेद प्रसिद्ध हैं। यथा—

ऋचां समूह ऋग्वेदस्तमभ्यस्य प्रयत्नतः ।
पठितः शाकलेनादौ चतुर्भिस्तदनन्तरम् ॥१॥
सांख्यायनश्चाश्वलायनौ माण्डूको बाष्कलस्तथा ।
बहवृचा ऋषयः सर्वे पंचैते एकवेदिनः ॥२॥
—शौनकीय प्रातिशाख्य ।

शाकल शाखा, वाष्कल शाखा इत्यादि नाम से वेद की शाखाएँ प्रसिद्ध हैं।

स्मृतियों के मूल आधार वेद हैं, इसी से उनकी प्रामाणिकता मानी गई है। इससे भी वेदों की महत्ता है। स्मृतियाँ पाँच प्रकार की हैं—

(१) दृष्टार्थ, (२) अदृष्टार्थ, (३) दृष्टादृष्टार्थ, (४) न्यायमूल, (५) अनुवादस्मृति। यथा—

दृष्टार्था तु स्मृतिः काचिददृष्टार्था तथापरा ।
दृष्टादृष्टार्थरूपान्या न्यायमूला तथा परा ॥१॥
अनुवादस्मृतिस्त्वन्या शिष्टैर्दृष्टा तु पंचमी ।
—भविष्य पुराण ।

इन पाँचों के यथाक्रम उदाहरण इस प्रकार हैं :

षड्गुणस्य प्रयोज्यस्य प्रयोगः कार्यगौरवात् ।
सामादीनामुपायानां योगो व्याससमासतः ॥१॥
अध्यक्षाणां च निःक्षेपः कण्टकानां निरूपणम् ।
दृष्टार्थेयं स्मृतिः प्रोक्ता ऋषिभिर्गरुडात्मज ॥२॥

सन्ध्योपास्या सदा कार्या श्रुतौ मांसं न भक्षयेत् ।
अदृष्टार्था स्मृतिः प्रोक्ता ऋषिभिर्ज्ञानकोविदैः ॥३।
पलाशं धारयेद्दण्डमुभयार्था विदुर्बुधाः ।
न्यायमूला विकल्पः स्याज्जपहोमश्रुतौ यथा ॥४॥
श्रुतौ दृष्टं यथाकार्यं स्मृतौ तत्तादृशं यदि ।
अनूक्तवादिनी सा तु पारिव्रज्यं यथागृहात् ॥५॥

(१) दृष्टार्थ स्मृति लौकिक प्रत्यक्ष फल का प्रतिपादन करती है, जैसे युद्ध में विजय प्राप्ति के लिये यथावसर संधि अर्थात् शत्रु से एकता की व्यवस्था करना, विग्रह अर्थात् समयानुसार विरोध करना एवं यान अर्थात् विजिगीषु शत्रु के प्रति यात्रा करना , आसन - दोनों पक्षों की समान संतुलित शक्ति होने पर उचित समय की प्रतीक्षा के लिये मौन होकर बैठना । द्वैधीभाव - दुर्बल और प्रबल दोनों में वाणी द्वारा आत्मसमर्पण करना । समाश्रय - प्रबल शत्रु से पीड्यमान होने पर बलवान का आश्रयण करना और कार्य का गौरव होने पर साम - दाम - दंड - भेद इनका प्रयोग करना । साम - सांत्वना, दाम - दमन करना, दंड - पीड़ित करना, भेद - पृथक् करना अथवा पृथक् कराना; इन चार उपायों का प्रयोग बताना यह भी दृष्टार्थ स्मृति से ही होता है ।

(२) अदृष्टार्थ स्मृति — जो अप्रत्यक्ष लौकिक अथवा अलौलिक फल को बताती है, जैसे — संध्योपासन, जप, यज्ञ, आदि ।

(३) दृष्टादृष्टार्थ स्मृति — दर्शन का विषय और अदर्शन का विषय इन दोनों फलों को बतलाती है, जैसे — ब्रह्मचर्यावस्था में ब्रह्मचारी पलाश के दंड को धारण करे - इससे शुद्धि, आचार और नैष्ठिकता, ऐहलौकिक कर्तव्यता और उसके द्वारा पारलौकिक फल इन दोनों का प्रतिपादन होता है ।

(४) न्यायमूला स्मृति — जप और हवन के समय की यथार्थ और विशेष कल्पना बताती है, जैसे — सूर्योदय से पूर्व जप और हवन का विधान तभी सफल हो सकता है, जब सूर्योदय के पश्चात् न किया जाय ।

(५) अनूक्तवादिनी स्मृति — श्रुतियों से प्रतिपादित विषय की जो अनुवादक है, जैसे, ब्रह्मचर्यावस्था में अथवा गृहस्थ होने के पश्चात् घर को त्याग कर संयास के लिये चला जाय, यह श्रुतियों से विहित विषय मनु आदि ने भी निरूपित किया है ।

वेदांत दर्शन :— छहों दर्शनों के विषयों के मूल वेद ही हैं। पहले वेदांत दर्शन को ही लीजिए — इसका प्रथम सूत्र है 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इसमें ब्रह्म की जिज्ञासा का प्रश्न करके दूसरा सूत्र उत्तर रूप में कहा है 'जन्माद्यस्य यतः'

इस जगत् की रचना (सृष्टि), स्थिति (रक्षा), नाश (प्रलय) का हेतु ब्रह्म है। इस अर्थ का निर्वाह इस श्रुति से होता है :

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति ॥ तै० उ० ३, २॥

इस दर्शन के पाँच भाष्य हैं जो अपने अपने सिद्धांत के अनुसार आचार्यों ने वैदिक श्रुतियों के आधार पर लिखे हैं — शंकराचार्य का शारीरक भाष्य, वल्लभाचार्य का अणुभाष्य, मध्वाचार्य का गोविंदभाष्य, निंबार्क आचार्य का वेदांतपारिजातसौरभ और वेदांतकौस्तुभ भाष्य तथा रामानुज आचार्य का श्रीभाष्य। शारीरक भाष्य में ब्रह्म और जीव की एकता (अद्वैत) का और जगत् को ब्रह्मरूप का प्रतिपादित किया है, जिसकी निम्नलिखित श्रुतियाँ आधारभूमि हैं :

एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म (छां० ६।१४)। आत्मैवेदं सर्वम् (छां० ७।२५)॥ ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् (छां० ६।१)। तत्वमसि (छां० ३।१४)। नेह नानास्ति किंचन सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छां० ३।१४)। तत्र को मोहः कः शोकः। एकत्वमनुपश्यतः (ई० उ०)। वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिका इत्येव सत्यम् (छां० ६।१)- इन श्रुतियों से सिद्ध किया गया है कि ब्रह्म के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है, ब्रह्म से भिन्न जगत् नहीं है; यह सिद्धांत किया। यद्यपि 'तत्वमसि' इस महावाक्य से जीव और ब्रह्म की एकता का निर्वाह असंभव सा प्रतीत होता है — "ब्रह्म" सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् है और "जीव" अल्पज्ञ, एकदेशीय और अल्पशक्तिसहित है। तथापि तत् शब्द से ब्रह्म और त्वं पद से जीव का बोध होता है। दोनों के केवल चैतन्यमात्र अंश की विवक्षा अपेक्षित है। तत् पद में "जहदजहल्लक्षणा (भागत्याग लक्षणा)" के बल से ब्रह्म के सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्व और सर्वव्यापकत्व अंशों को त्याग कर केवल चैतन्य अंश का ग्रहण करना, इस लक्षणा की शक्ति से लक्ष्य में एक प्रधान अंश का ग्रहण और दूसरे गौण अंश का त्याग हो जाता है; जैसे — "सोऽयं देवदत्तः, यः काश्यां दृष्टः" यह वही देवदत्त है जिसे काशी में देखा था। यहाँ देश काशी और वहाँ का काल (समय) — इन दोनों भागों का परित्याग करने से देवदत्त व्यक्ति का ही ग्रहण होता है — विरुद्ध अंश यहाँ का यह देश और वह वहाँ काशी का देश तथा यहाँ का यह वर्तमान काल और काशी में देखने का भूतकाल, देशिक और कालिक इन दोनों गौण अंशों के त्यागने से उसी व्यक्ति का बोध सिद्ध हो जाता है। इसी विधि से "तत्वमसि" इस महाकाव्य का वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ स्पष्टता से निष्पन्न हो जाता है।

अणुभाष्य के निर्माता श्री वल्लभ आचार्य का सिद्धांत है कि शुद्धाद्वैत ब्रह्म और जीव दोनों शुद्धों का अद्वैत (एकत्व) है। जब उपासक परिपक्व, दृढ़ भगवद्भक्ति के बल से हृदय में आश्रित समस्त कामों और संकल्पों से निर्मुक्त होने पर दुर्वासनाओं से रहित हो जाता है तब शुद्ध भावनाओं से संपन्न शुद्ध जीव (उपासक) का उपास्य (परमात्मा) के साथ अभेद भाव हो जाता है और मरण – धर्म-सहित होते हुए भी अमृत अर्थात् पूर्वभाव और उत्तरभाव से रहित होकर ब्रह्म विषय की निरंतर अनुभूति में आस्थित हो जाने से शुद्ध अद्वैत रूप विकसित हो जाता है। इस पक्ष में अधोलिखित श्रुति प्रमाण है :

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्यो मृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ क० उ० ॥

इस श्रुति का सहकारी — समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वंचानुपोष्य ॥ ब्र० सू० १।२।७ ॥ भी है। अर्थात् देहेंद्रियादि के संबंध को अनुपोष्य – नहीं जलाकर (नष्ट कर) अनुभव से उपासना काल में देहादि संबंध रहने पर भी ब्रह्मरूप की संप्राप्ति हो जाती है, इस पक्ष का 'तत्वमसि' श्रुति से भी निर्वाह होता है। त्वं पद से उपस्थित जीव में जहल्लक्षणा के सामर्थ्य से शुद्ध जीवार्थ में लक्षण करने से शुद्ध ब्रह्म से शुद्ध जीव का अद्वैत सिद्ध होता है। दुर्वासनाओं से निर्मुक्त जीव शुद्ध है, अतः शुद्ध ब्रह्म के साथ अभेद निर्बाध है; जैसे — 'मंचाः क्रोशंति' यहाँ मंच पर स्थित पुरुषों का बोध होता है, क्योंकि मंच तो आह्वान अथवा रोदन कर नहीं सकते, वे जड़ हैं। 'क्रोशंति' क्रिया 'क्रुश आह्वाने रोदने च' धातु से निष्पन्न होती है। इसी लिये श्री वल्लभ आचार्य का सिद्धांत है : 'लीलावस्तु कैवल्यम्' अर्थात् जब भक्त भक्ति की पराकाष्ठा से संपन्न होता है और अपना पराया इत्यादि कुछ भी वासना नहीं रहती तब भगवान् की लीला में लीन तन्मय हो जाता है, यह ही मोक्ष अर्थात् विषयों में विरसतारूप कैवल्य है। वल्लभ आचार्य संप्रदाय के सिद्धांतग्रंथ में उल्लेख है :

मुक्तिदा गुरुवागेका विद्याः सर्वाः विडम्बनाः।
काष्ठभारसहस्त्रेषु एकं सञ्जीवनं परम् ॥

कैवल्य (मुक्ति) का दायक केवल गुरु का एक उपदेश वाक्य ही है। भक्त सद्भावना से उसे ग्रहण करके भगवद्भक्ति में विभोर होता हुआ लीला में लीन तन्मय हो जाता है। उसके लिये और समस्त ज्ञान विज्ञान वैसे ही व्यर्थ हैं, जैसे जीवन अवस्था में लाने के लिये केवल एक संजीवन औषधि ही समर्थ है और सहस्रों काष्ठों का भार निष्फल है।

द्वैतवादी श्री मध्व आचार्य ने वेदांत दर्शन के अपने ब्रह्मसूत्र बृहद्भाष्य (गोविंद भाष्य) में यह सिद्धांत स्थिर किया है कि ब्रह्म और जीव दोनों पृथक् पृथक् हैं, अतः दोनों का द्वैत है, अद्वैत नहीं। यद्यपि मध्व आचार्य ने निम्नलिखित तीन भाष्यों की रचना की —

१ — ब्रह्मसूत्र, २ — अनुभाष्य, ३ — अणुभाष्य

तथापि संप्रदायभाष्य गोविंदभाष्य अथवा ब्रह्मसूत्र बृहद्भाष्य ही है। इस द्वैत पक्ष को निम्नांकित दो श्रुतियाँ प्रमाणित करती हैं :

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।
(मु० उ०)

इस श्रुति में परमात्मा और जीवात्मा का द्वैतरूप से वर्णन किया गया है। देह के अंतर्गत अनुप्रविष्ट दोनों ही पक्षी के समान ज्ञान, इच्छा आदि गुणों के सहित हैं। नित्य परस्पर संबंध रखनेवाले हैं। चैतन्यसंपन्न होने से दोनों समानतासंपन्न हैं। वृक्ष के सदृश छेदन योग्य एक शरीर के साथ संबंधित हैं। उन दोनों में से एक जीव तो शरीर के संबंध से किए हुए कर्म के फल को भोगता है और दूसरा, जो परमात्मा है, वह नियंतारूप से शरीर में वर्तमान और आसक्ति-रहित है, अतः कर्मफल के भोग से पृथक् रहते हुए प्रकाशमान है। यथा वा —

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्ध्ये।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥
(क० उ०)

इस मंत्र में उपास्य ब्रह्म और उपासक जीव दोनों का हृदयगुहा में प्रविष्ट होकर रहने का उल्लेख किया गया है।

कर्मफल भोगने के स्थान शरीर में, गुहारूप हृदय में और उसमें भी उत्कृष्ट हृदयाकाश में प्रविष्ट दो चेतन हैं, जिनमें एक परब्रह्म और दूसरा जीव है। जीव कर्मफल का भोक्ता है और परब्रह्म प्रेरक है। परब्रह्म स्वतंत्र है, छाया के समान है और जीव परतंत्र आतप के समान है। छाया धूप से हटाई जा सकती है और आतप (धूप) छाया से नहीं हटाया जा सकता। ब्रह्मवेत्ता विद्वानों और पंचाग्नि तप करनेवाले महापुरुषों का यह कथन है। इसी अर्थ का प्रतिपादक 'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात्' यह ब्रह्मसूत्र ॥ १।२।११ ॥ भी है। 'तत्वमसि' यह महावाक्य भी इस पक्ष में उपकारक है — तस्यत्वम्। इस रूप से षष्ठीतत्पुरुष समास करने से यह अर्थ स्पष्ट होता है कि उस ब्रह्म का उपासक सेवक तू जीव है। सेव्यसेवकभाव संबंधी षष्ठी का अर्थ है।

द्वैतवादी का कथन है : प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होने से अद्वैतपरक श्रुतियाँ जगत् में भक्ति संबंधी आस्था को दूर करने के लिये और वैराग्य में प्रवृत्ति के लिये हैं।

निंबार्क आचार्य का सिद्धांत है — द्वैताद्वैत, साध्यावस्था में जीव और ब्रह्म का द्वैत और सिद्धावस्था में अद्वैत। जैसे — पुष्प की कली साध्यावस्था में है उसमें गंध तिरोहित है। भास्कर भगवान् की प्रभा के प्रभाव से उसका विकास होने पर 'पुष्प' संज्ञा हो जाती है। वह सिद्धावस्था है। तभी उसके गंध का प्रकाश होता है। नीचे लिखी श्रुति द्वैत अद्वैत दोनों पक्षों का प्रतिपादन करती है। चेतन अचेतन समस्त जगत् ब्रह्म से भिन्न भी है और अभिन्न भी है, अर्थात् द्वैतभावना से भिन्न और अद्वैत भाव से अभिन्न। इस प्रकार प्रज्ञासंपन्न मुमुक्षु का स्वरूप और उसको प्राप्तव्य परमात्मा का स्वरूप निम्नलिखित श्रुति द्वारा प्रतिपादित है :

> सपर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
> कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छा -
> श्वतीभ्यः समाभ्यः॥
>
> —ई० उ०

सम्यग् ज्ञानसंपन्न प्राज्ञ ने परमात्मा को प्राप्त किया। परमात्मा कर्म के अधीन प्राकृत शरीर से रहित, स्वयं-प्रकाश-स्वरूप प्राकृत शरीर से रहित होने के कारण क्षत (घाव) से रहित, स्नायु (नाड़ियों) से रहित, अज्ञान आदि दोषों से रहित, पुण्य पाप आदि के लेश से विमुक्त ब्रह्म है। उपास्य के स्वरूप का निरूपण करके अब उपासक का स्वरूप प्रदर्शित किया जाता है :

सर्वेश्वर परमात्मा के स्वरूप और गुणों के बोधक काव्य के निर्माण में दक्ष, सौंदर्य, माधुर्य, लावण्य, मार्दव आदि भगवान् के गुणों के निरंतर स्मरण से चित्त का निग्रह करनेवाला, काम - क्रोध - लोभ आदि शत्रुओं का तिरस्कार करनेवाला, भगवान् से भिन्न में उपेक्षा रखनेवाला, अनंत वर्षों पर्यंत यथार्थता से उपास्य परमात्मा के स्वरूप आदि को हृदय में धारण करनेवाला विज्ञ मुमुक्षु द्वैतभावना से परिपूत अंतःकरणयुक्त होता है।

इस द्वैताद्वैत पक्ष का "तत्वमसि" महावाक्य भी समर्थन करता है। द्वैतपक्ष में "तत्वम्"। इसमें षष्ठी तत्पुरुष करना "तस्यत्वम्" उस ब्रह्म का उपासक तू जीव है। षष्ठी का उपास्य - उपासक - भाव संबंध अर्थ है। अद्वैत पक्ष में तत् और त्वम् ये दोनों पद पृथक् - पृथक् हैं। तत् पद से ब्रह्मरूप चैतन्य और त्वम् पद से

जीवरूप चैतन्य का बोध करने से दोनों का अद्वैत पक्ष सिद्धावस्था में विकसित पुष्प के समान सिद्ध होता है। श्री रामानुजाचार्य का सिद्धांत है :

विशिष्टाद्वैत। विशिष्टं च विशिष्टश्च विशिष्टे, तयोरद्वैतम्, विशिष्टाद्वैतम्।

अर्थात् ब्रह्म और जीव दोनों मायाविशिष्ट हैं। माया से शवलित ब्रह्म जगत् का निर्माण करनेवाला है, ब्रह्म की माया से ही सृष्टि का सर्जन होता है। इसी वस्तु का निम्नलिखित श्रुति निरूपण करती है :

अनादिमायासुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥ मा० उ०॥

अनादि परमात्मा की अनादि माया (इच्छा) जो उसके अधीन है उसकी प्रेरणा से अज्ञानावस्था में लीन हुआ जीव जब सद्गुरु के उपदेश द्वारा प्रबोध-संपन्न अर्थात् श्रवण - मनन - निदिध्यासन - युक्त होता है तब जन्मरहित, अज्ञान-रहित और जाग्रदवस्थातीत अद्वैत - अज्ञान - शून्य परमात्मा को प्रत्यक्ष से जान लेता है। अज्ञान की महिमा से यह समस्त जगत् मायारूप द्वैत है और यथार्थ ज्ञान से अद्वैत है। गीता में भी भगवान् का वाक्य है :

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

माया भगवान् के अधीन है, जीव माया के अधीन है। परमात्मा की आराधना उपासना से ही जीव माया से निर्मुक्त हो सकता है।

इस प्रकार ब्रह्म चैतन्य और जीव चैतन्य दोनों में माया का संबंध सिद्ध होने से विशिष्टाद्वैत पक्ष निर्बाध है। इस पक्ष में अजहल्लक्षणा के सामर्थ्य से "तत्वमसि" महावाक्य भी सहायक है। तत् पद से मायाविशिष्ट ब्रह्म और त्वम् पद से मायाविशिष्ट जीव का बोध सुगमता से होता है — जैसे "शोणो धावति" इसका "लाल रंग दौड़ता है" यह अर्थ होता है। और वह बाधित है, क्योंकि रंग तो जड़ वस्तु है; दौड़ना चेतन की क्रिया है; इसलिये लाल रंगवाला अश्व—यह अर्थ अजहल्लक्षणा से होता है। लाल रंग—अंश को न त्यागते हुए उसका संबंधित अश्व अर्थ लक्षित करके धावति क्रिया का समन्वय सिद्ध होता है, ऐसे ही प्रकृत में भी विशिष्ट अंश - लक्ष्यार्थ के बोध से विशिष्टाद्वैत पक्ष संपन्न होता है। वेदांत दर्शन और उसके पाँचों भाष्यों की आधारभूमि वेद ही है, इसका सिद्धांत रूप से कथन हो चुका है।

*

उत्तरक्षेत्रीय कालीपालिशवाले भांड

(नॉर्दर्न ब्लैक पालिश्ड वेयर)

शैलनाथ चतुर्वेदी

पिछली शताब्दी के अंतिम दो दशकों तक पुरातन स्थलों के अन्वेषण एवं उत्खनन का लक्ष्य केवल मूल्यवान् एवं कलात्मक सामग्री की खोज था। मृद्भांडों की गणना व्यर्थ समझी जानेवाली वस्तुओं में की जाती थी। सर्वप्रथम पिलंडर्स पेट्री ने मिस्र में उत्खनन कार्य करते हुए यह अनुभव किया कि प्रत्येक काल में विशेष प्रकार के मृद्भांडों का चलन रहता है। परंपरानुराग के कारण उनके प्रकारों में शीघ्र आमूल परिवर्तन नहीं होता। चर्म, काष्ठ आदि के विपरीत वे सहस्रों वर्ष तक नष्ट नहीं होते। अतः पुरातत्व के अध्ययन में उनका बड़ा उपयोग हो सकता है। पेट्री की इस दृष्टि ने पुरातन सभ्यताओं के अध्ययन में क्रांति ला दी। तब से मृद्भांडों का अध्ययन पुरातत्वशास्त्र का महत्वपूर्ण अंग माना जाने लगा। आज वे पुरातत्व की वर्णमाला समझे जाते हैं।

यद्यपि भारत में पुरावशेषों की खोज और उत्खनन का कार्य गत शताब्दी से ही हो रहा है, तथापि मृद्भांडों के व्यवस्थित अध्ययन को आरंभ हुए अभी कुछ दशक ही बीते हैं। पिछले दो दशकों में भारत में पुरातात्विक अन्वेषण के क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रगति हुई है। इसके परिणामस्वरूप अनेक मृद्भांड वर्ग प्रकाश में आए हैं। उत्तर भारत में जो कार्य हुआ है उससे अनेक प्रकार की सामग्री प्रकाश में आई है जिनमें कई मृद्भांड वर्ग भी हैं। हम यहाँ जिस वर्ग पर विचार करेंगे वह नॉर्दर्न ब्लैक पालिश्ड वेयर[1] के नाम से प्रसिद्ध है।

इस वर्ग के भांडों का रंग साधारणतः चमकदार गहरा काला होता है। गहरे काले के अलावा वे स्लेटी, भूरे, जोगिया, तथा इस्पाती रंग के भी होते हैं।

१. कुछ विद्वान् इस नाम को भ्रामक समझते हैं। डी० एच० गोर्डन ने अपनी पुस्तक 'दि प्रीहिस्टॅरिक बैकग्राउंड आव इंडियन कल्चर', पृ० १६९ में लिखा है "दिस इज नॉट इन फैक्ट ए पालिश्ड वेयर ऐट ऑल, इट इज ए ग्लौस वेयर दैट इज नाइदर पालिश्ड नौर बर्निश्ड।"

अच्छी कोटि के भांडों पर प्रायः रुपहली या सुनहली झलक देखने में आती है। कभी कभी उनपर लाल चित्तियाँ भी होती हैं। यह चाक पर बने और अधिकांश बहुत पतले हैं। इन्हें बनाने के लिये अत्यंत महीन मिट्टी का प्रयोग किया जाता था। इनके निर्माण की संपूर्ण विधि अभी निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है। परंतु ऐसा अनुमान किया जाता है कि चाक पर बना लेने के बाद भांड रगड़कर चमकाए जाते थे। तदुपरांत उनपर लौहयुक्त महीन मिट्टी के घोल का लेप करके फिर से रगड़कर चमकाया जाता था (श्री सनाउल्लाह के अनुसार पात्रों के काले लेप में फेरस आक्साइड की मात्रा लगभग १३ प्रतिशत है)। उनका कालापन इसी के कारण है[1]। इस प्रक्रिया के उपरांत भांड बंद आँवें में इतने तापमान तक पकाए जाते थे कि ऊपर का लेप पात्र से एकरस हो जाए। इसी के कारण उनमें असाधारण चमक और मजबूती आ जाती थी। हाल ही में ब्रिटिश म्यूजियम की प्रयोगशाला ने रगड़कर चमकाने की प्रक्रिया पर संदेह तो प्रकट किया है, परंतु उसका कोई विकल्प प्रस्तुत नहीं किया है।[2] उसके अनुसार पकाने से पूर्व भांड किसी फेरसयुक्त अकार्बनिक पदार्थ के घोल में डुबा लिए जाते थे। तत्पश्चात् उन्हें आँवें में रखकर ८००° सेंटीग्रेड तक पकाया जाता था और फिर आँवाँ बंद कर दिया जाता था जिससे भांड धीरे धीरे ठंढे हों। यह घोल किस प्रकार का होता था, यह अभी ज्ञात नहीं हुआ है।

जहाँ तक इस भांड वर्ग के प्रकारों का संबंध है, ये मुख्य रूप से दो हैं—कटोरी के आकार के तथा ऊँची कोर की तश्तरी के समान पात्र। इनके अलावा इस वर्ग में अन्य प्रकार भी मिलते हैं।

मानचित्र

साधारणतः मिट्टी के पात्रों का विस्तार अधिक नहीं होता। परंतु इस वर्ग के भांड उत्तर में पेशावर के पास चारसदा (यहाँ सन् १९५८ में लगभग एक दर्जन ठीकरे प्राप्त हुए थे), उदयग्राम (प्रोफेसर टुची को यहाँ एक ठीकरा प्राप्त हुआ था) तथा तक्षशिला से लेकर दक्षिण में अमरावती तक, पूर्व में बानगढ़ तथा शिशुपालगढ़ से पश्चिम में नासिक तक अनेक स्थानों से प्राप्त हुए हैं। इतने विस्तृत भूभाग में इस भांड का विस्तार एक समस्या है।

१. सनाउल्लाह : एंशेंट इंडिया, सं० १, पृ ५८.
२. मार्टिमर ह्वीलर : अर्ली इंडिया एंड पाकिस्तान, पृ ३०

मानचित्र

एन० बी० पी० भांड की सबसे महत्वपूर्ण समस्या उसका काल निर्धारित करने की है। सर्वप्रथम तक्षशिला से प्राप्त इस भांड के २० ठीकरों की ओर पुरातत्वशास्त्रियों का ध्यान गया और उनसे इसकी प्राचीनता का अनुमान लगाया गया।[1] २० में से १८ ठीकरे तक्षशिला की प्राचीनतम बस्ती भीर टीले से प्राप्त हुए थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि इस बस्ती का निर्माण छठी शताब्दी ई० पू० के अंत अथवा पाँचवीं शताब्दी के आरंभ में हुआ था। १६ ठीकरे ७ फुट से लेकर १६ फुट तक की गहराई में मिले हैं। यद्यपि तक्षशिला का उत्खनन वैज्ञानिक विधि से नहीं हुआ था, अर्थात् प्राप्त वस्तुओं का संबंध स्तरों से न देखकर उनकी गहराई मात्र ही नापी गई है, तथापि यह समझा जाता है कि सिकंदर के आक्रमण के समय (३२६ ई० पू०) भीर टीले की ऊँचाई अब से ६-७ फुट नीचे थी। दो ठीकरे ७ फुट से ऊपर (४ फु० १० इंच और ६ फुट २ इंच पर पाए गए हैं)। दो अन्य ठीकरों में से एक तक्षशिला की दूसरी बस्ती सिरकप में (जिसका आरंभ दूसरी शताब्दी ई० पू० का पूर्वार्ध माना जाता है) १८ फुट की गहराई में मिला जाता है। ऊपर इस बात का उल्लेख किया गया है कि तक्षशिला का उत्खनन स्तरक्रम से नहीं किया गया था, अतः गहराई मात्र से किसी वस्तु की प्राचीनता का अनुमान लगाना उत्खनन शास्त्र के विरुद्ध होगा। परंतु भीर टीले से १६ ठीकरों का सात फुट के नीचे मिलना और सिरकप से एक ठीकरे का १८ फुट की गहराई पर मिलना एन० बी० पी० भांड के काल का निर्देश अवश्य कराता है। इस आधार पर ह्वीलर इस भांड का समय पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से दूसरी शताब्दी ई० पू० तक मानते हैं[2]। आगे चलकर उसी अनुच्छेद में उनका अनुमान है कि चारसदा, उदयग्राम और यहाँ तक कि तक्षशिला में भी इस भांड का प्रवेश मौर्य साम्राज्य के विस्तार के साथ हुआ। उनका यह भी कथन है कि "इन दि अदर वर्ड्स आई वुड प्रोवीजनली ऐस्क्राइब दि एन० बी० पी० वेयर आव दि नॉर्थ-ईस्टरली रीजंस आव दि सब-कौंटिनेंट इन दि पीरियड ३२०-१५० बी० सी०, विदाउट

१. ए० घोष तथा के० सी० पाणिग्राही : 'पाटरी आव अहिच्छत्र', एंशेंट इंडिया सं० १ में कृष्णदेव तथा ह्वीलर की टिप्पणी, पृ० ५५

२. अर्ली इंडिया ऐंड पाकिस्तान, पृ० ३१

प्रिज्यूडिस टु दि पासिबिलिटी आव ऐन एप्रीशिएब्ली अर्लियर बिगिनिंग इन दि गैंजेज बेसिन इटसेल्फ।"[1] आश्चर्य होता है कि ह्वीलर महोदय ने एक ही साँस में दो बातें कैसे कह दीं। वे यह मानते हैं कि सिकंदर के आक्रमण के समय भीर टीले की ऊँचाई अब से सात फुट कम थी। यह भी सत्य है कि १६ ठीकरे सात फुट से अधिक गहराई में मिले। फिर यह उन्हें कैसे सूझा कि उत्तर पश्चिमी प्रदेश में एन० बी० पी० भांड का विस्तार मौर्य साम्राज्य के साथ हुआ। श्री बी० बी० लाल ने उनके इस दोष का कारण उनकी 'तुक बैठाने की प्रवृत्ति' को ठहराया है[2]। इस प्रसंग में यह ध्यातव्य है कि उपनिषद् एवं बौद्ध साहित्य में तक्षशिला का उल्लेख प्रसिद्ध शिक्षाकेंद्र के रूप में हुआ है जहाँ मध्यदेश, मगध आदि सुदूर प्रदेशों से शिक्षार्थी आया करते थे।[3] पाणिनि गंधार के रहनेवाले थे। कौटिल्य संभवतः तक्षशिला के निवासी थे। इसमें कोई संदेह नहीं कि मौर्य साम्राज्य की स्थापना से पूर्व ही मध्यदेश, मगध आदि प्रदेशों तथा गंधार में आवागमन होता था। अतः यह बात स्वीकार करने का कोई कारण नहीं है कि इस वर्ग के भांड मौर्य साम्राज्य के विस्तार के साथ इस क्षेत्र में आए।

तक्षशिला के साक्ष्य की आलोचना करते हुए गौर्डन ने कहा है कि भीर टीले के काल का निर्धारण जिन आधारों पर किया गया है वे विश्वसनीय नहीं हैं।[4] उनका कथन है कि भीर टीले की बस्ती का अंत ग्रीक आक्रमण से नहीं वरन् शकों के आक्रमण से हुआ था। भीर टीले का समय निर्धारित करने के लिये वहाँ प्राप्त सिक्कों के तीन ढेरों का साक्ष्य उन्हें मान्य नहीं है। यद्यपि भीर टीले के १९४५ में हुए उत्खनन का पूर्ण विवरण प्रकाशित नहीं हुआ है, तथापि

१. वही, पृष्ठ ३१

२. बी० बी० लाल : 'अर्ली इंडिया ऐंड पाकिस्तान' की समालोचना एंटीक्विटी-सं० ३४, सितंबर, सन् १९६०, पृ० २२५ : "हैज आल दिस नौट रिजल्टेड फ्रौम ए डिजायर टु 'फिट इन' दि आरकेयोलाजिकल डेटा इंटू ए प्रीकंसीव्ड सेटिंग।"

३. हेमचंद्र रायचौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री आव एंशेंट इंडिया, पाँचवाँ संस्करण, पृ० ६१–६२

४. डी० एच० गोर्डन : दि प्रीहिस्टरिक बैकग्राउंड आव इंडियन कल्चर, पृ० १६५।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६९
संवत् २०२१
अंक १-२

वार्षिक मू० १०·००
इस अंक का ५·००

काशी नागरी प्रचारिणी सभा

विषयसूची

स्व० आचार्य महावीरप्रसाद जी द्विवेदी की कांस्यप्रतिमा
जिसका अनावरण १ ज्येष्ठ, सं० २०२१ को
पद्मभूषण श्री पं० सुमित्रानंदन जी पंत द्वारा
संपन्न हुआ।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका

वर्ष ६६] वैशाख, संवत् २०२१ [अंक १

भारतीय और इस्लामी तत्वचिंतन की मूलभूत एकता

डा० रामप्रसाद त्रिपाठी

हमारे देश में अनेक धार्मिक, सांप्रदायिक और सामाजिक संस्थाएँ हैं। यद्यपि राजनीतिक और आर्थिक अनुबंधन एकता की भावना के पोषण में अपना महत्व रखते हैं, तथापि जब तक भावनाओं और मानसिक तथा बौद्धिक सहानुभूति का यथेष्ट संवर्धन एवं संयोजन न होगा तब तक सच्चा बंधुत्व और सच्ची एकता न आ सकेगी। यह तभी संभव हो सकेगा जब एक दूसरे के विचारों, विश्वासों, अनुभूतियों आदि का न्यायानुकूल गंभीर एवं सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन किया जायगा। भारत के आर्यों और द्रविड़ों के धर्मों, संप्रदायों तथा सामाजिक संस्थाओं का तो थोड़ा बहुत दर्शन हिंदी साहित्य में मिल जाता है मगर सेमेटिक धर्मों और संस्थाओं के विषय में हमारे साहित्य में एक प्रकार से अत्यंताभाव है। खंडन मंडनवाले साहित्य से तथ्यातथ्य का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना असंभव है। उससे तो प्रायः भ्रम और विभ्रम ही पैदा होते हैं जिससे हानि होने की ही अधिक आशंका है। हमारे देश में इस्लाम धर्म के अनुयायियों की बड़ी भारी संख्या है। यदि हम इस्लाम और ईसाई मत तथा उनकी संस्थाओं का पक्षपात-रहित और सहानुभूति सहित अध्ययन करके प्रामाणिक साहित्य प्रस्तुत कर सकें तो हमें उससे अमूल्य वास्तविक एवं व्यावहारिक लाभ हो सकेगा। सत्य की खोज और उसका शिष्ट एवं संयत निरूपण हर प्रकार से लाभदायक है। मेरी यह धारणा केवल भावनात्मक अथवा काल्पनिक नहीं है। यद्यपि मैं पूरी तैयारी और मनोयोग से उस क्षेत्र में काम नहीं कर सका, तथापि ऐतिहासिक अध्ययन के संबंध में मुझे उस ओर कुछ ध्यान देने का अवसर मिल गया है। विषय बहुत

गंभीर, दुरूह और लंबा चौड़ा है जिससे भूल चूक होने का डर है। यदि अज्ञानवश मेरी समझ में कमी रह गई हो तो मैं क्षमा के लिये आपकी उदारता की शरण का प्रार्थी रहूँगा।

हिंदुओं और मुसलमानों की धार्मिक चेतना, विश्वासों और दार्शनिक दृष्टिकोणों में आश्चर्यजनक और कुतूहलवर्धक मूलगत समता है। दोनों में द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, ज्ञानमार्ग, उपासना मार्ग तथा भक्तिमार्ग पर न्यूनाधिक एक सा ही ऊहापोह हुआ है। यही नहीं, वहाँ भी सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा की धाराएँ प्रवाहित हैं। धर्मशास्त्र और हदीस फिक़: के मूलगत विचारों में भी विषमता के मुक़ाबले में सैद्धांतिक समता अधिक है। आचार देशकाल तथा परंपराओं की विभिन्नताओं के कारण हमेशा ही कुछ भिन्न होते हैं किंतु पाप पुण्य की परिभाषाओं, उनके सिद्धांतों और दृष्टिकोणों में इतनी समीपता है, मानों वे एक ही ढंग के विचारों और सिद्धांतों से अनुप्राणित हैं।

उपर्युक्त कथन को कुछ स्पष्ट करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। यह तो स्पष्ट है कि हिंदू और मुसलमान दोनों धर्म और ज्ञान का उद्भव ईश्वरीय प्रेरणा मानते हैं। हिंदू श्रुति अर्थात् वेदों को और मुसलमान क़ुरान को ईश्वरप्रेरित ज्ञान का असीम और अक्षय भांडार मानते हैं। तत्कथित जो ज्ञान या विज्ञान उनके अनुकूल न हो वह कदापि मान्य नहीं हो सकता। इस संबंध में यह प्रश्न उठा कि उन ग्रंथों के भाव और उनका आशय ही अनादि है अथवा जिस भाषा में वे हैं वह भी ईश्वर की अनादि भाषा है। कुछ मनीषियों के विचार में दोनों अनादि हैं, क्योंकि शब्द और अर्थ के संबंध का विभाजन नहीं हो सकता। अर्थहीन शब्द केवल नाद या स्वर मात्र रह जाते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि शब्द और भाषा विभिन्न होते हुए भी वे एक ही ज्ञान, तात्पर्य अथवा आशय रख सकते हैं। इन मतों पर मुसलमान तथा हिंदू विद्वान् साधारणतः अपने अपने ग्रंथों को नित्य और अपौरुषेय मानते हैं।

वेद और कुरान में भी एकता जान पड़ती है। प्रत्येक में चार मुख्य विषय हैं : ज्ञानकांड, उपासनाकांड, कर्मकांड, और व्यवहार। ईश्वर संबंधी विचार और परिभाषा भी एक सी है। दोनों ईश्वर को सर्वशक्तिमान्, अनादि, अनंत, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, अशरीरी, सृष्टिकर्ता, भर्ता और संवरणकर्ता, दयासागर, न्यायसिंधु आदि विशेषणों से संबोधित करते हैं :

एकोदेवो सर्वभूतेषुगूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेताकवलो निर्गुणश्च॥

ईश्वर संबंधी धारणा, विश्वास तथा श्रद्धा से ही फिर विचारों की सहस्र-धारा भारत तथा इस्लामी संसार में, स्पेन से बिहार और केरल तक, बहने लगी। उसी से उपनिषत्, दर्शन, धर्मशास्त्र, पुरुषार्थ शास्त्र भारत में, और हदीस, फिक़:, इल्मुल्कलाम, तसौवफ एवं दर्शन विज्ञान आदि इस्लामी जगत् में जाग्रत और विकसित हुए।

दार्शनिक विचार, जिनका स्रोत वेद में था, उपनिषदों में निरूपित हैं। उन्हीं से सब परा और अपरा विद्या के संकेत लेकर दार्शनिक अपने अपने विचारों का समर्थन करने लगे। हिंदुओं में छह दर्शन मुख्य माने जाते हैं। प्रत्येक दर्शन सूत्रों के रूप में ग्रथित कर दिया गया है। स्वतंत्र सूत्रों में रचना की परिपाटी मुसलमान दार्शनिकों में प्रचलित नहीं हुई। सूत्रों के स्थान पर वे क़ुरान के वाक्यों का ही प्रयोग करते हैं और उन्हीं के स्पष्टीकरण में अपने दार्शनिक विचारों को प्रस्तुत एवं प्रमाणित करते हैं। परिपाटी अथवा शैली की भिन्नता रहने पर भी निरूपित विषयों और सिद्धांतों में तत्वप्रवाह कमोबेश एक सा है।

सेश्वर मीमांसा के क्षेत्र में मुसलमानों ने जो काम किया है उससे हिंदी-संसार शायद परिचित नहीं है। यद्यपि उनका विषय क़ुरान और हदीस तथा कर्ममीमांसा था, तथापि बड़ी कुशाग्रता से उन्होंने उसकी जाँच पड़ताल की है। संभवतः उन्हीं के प्रयास से भाषाविज्ञान एक विशेष विषय बन गया। इब्नेहम्ज़ा ने व्याकरण और इब्नतिमुरत ने ताबील (तत्वानुसंधान) का विशेष प्रयोग किया। क़ुरान नित्य है कि रचित, उसके सिद्धांत और भाव अनादि और नित्य हैं अथवा भाषा और वाक्य भी? मनुष्यादि स्वतंत्र अथवा परतंत्र नियोजित या नियंत्रित हैं, इस प्रश्न पर अत्यंत सारगर्भित विवेचन किया गया। इल्मुलकलाम का सबसे प्रकांड दार्शनिक मसोपोटेमिया में बगदाद का अबुलहसन अल अशरी, मिस्र में तहावी (मृ० ३३१ हि०, और समरकंद में अबुलमंसूर अल मातुरीदी (मृ० ३३३) हुए हैं। वे सब विद्वान् हिजरी की चतुर्थशती अर्थात् ईसा की दशम शती में हुए। उन सबमें अल अशरी सबसे प्रतिभावान् था। मोअतजला नैयायिकों के अस्त्रों से ही उसने उनको निरस्त-सा कर दिया। उन्होंने क़ुरान (श्रुति), हदीस (स्मृति) तथा सदाचार को वैसा ही स्थान दिया जैसा मीमांसकों ने वेद और धर्म को।

मुसलमान विद्वानों ने प्रकृति के विषय में पर्याप्त ऊहापोह की है। कुछ तो प्रकृति को भी ईश्वर की तरह अनादि मानते हैं और अब्दुल करीम जीली के अनुसार स्वयं ईश्वर में सत्ता तत्व है। ईश्वर से पृथक् विश्व की कोई सत्ता नहीं है। ईश्वर और प्रकृति दो जुदा जुदा सत्ताएँ नहीं हैं। खुदा के अव्यक्त से व्यक्त होने के प्रकार हैं। उनमें जल और बरफ का सा संबंध है, जैसा तुलसीदास ने भी माना है। प्रकृति से ही उन तत्वों का विकास होता है जिनसे परमाणु, अणु, जीव, चेतना

आदि उत्पन्न होते हैं। (अबुल अली हुसैन) इब्ने सिना (ज० ६८० ई०) प्रकृति को ईश्वरांश से प्रसूत नहीं मानते। बुध्यात्मक चेतना अवश्य ईश्वर से उत्पन्न हुई, जिससे परिवर्तन होते होते जीव की उत्पत्ति हुई। सूक्ष्म प्रकृति तो संभवतः जड़ है और अपनी सत्ता स्वयं रखती है। मोअतजला अबू हाशिम ने परमाणुवाद तथा गुणवाद का दार्शनिक विवेचन किया। अलअशरी के मतानुयायी विद्वानों ने उसे कुछ परिवर्तन के साथ अपना लिया। कुछ दार्शनिकों, जैसे इब्ने अशरस तथा अमीर जहीज के अनुसार सूक्ष्म प्रकृति अनादि है। दहरिया विचारक तो खुल्लमखुल्ला प्रकृति को अनादि मानते थे, किंतु मोअतजला विचारकों के अनुसार ईश्वर से प्रकृति उत्पन्न होती और उसी में लीन हो जाती है। ईश्वरीवादियों ने परमाणुओं का उद्भव, स्थिति और लय ईश्वराधीन निर्धारित किया। इस विचार की समानता इस उद्धरण में है : "विश्वस्य उद्भव लय स्थिति हेतुरायो योगेश्वरैरपि दुरत्यय योगमायाः।"

वैशेषिक विचारधारा ने मुसलमानों में अबूबक्र अल बाकिलानी नामक एक सुविख्यात विद्वान् उत्पन्न किया (मृत्यु ४०८ हि०)। उसने ऐसी गंभीर विवेचना की जिसकी गणना योरपवाले लाइबनिज और कांट के साथ करते हैं। उसके सिद्धांत का यह निष्कर्ष है कि प्रकृति में दो विशेषताएँ हैं। एक है कणतत्व (जौहरे कद) और दूसरा गुण (कैफियत)। यावत् सृष्टि इन्हीं के संयोग और वियोग से बनती बिगड़ती है। किंतु, इन तत्वों का निर्माण और विनाश परमेश्वर करता है। उनका तारतम्य ईश्वरप्रेरित है, स्वतंत्र नहीं। नैसर्गिक नियमों की कल्पना भ्रम मात्र है। उनकी कोई अपनी सत्ता नहीं। जिस प्रकार ईश्वर चाहता है, उसी प्रकार वे व्यवहार करते हैं।

तप की महिमा का वर्णन वैदिक काल से हमारे देश में निरंतर चला आ रहा है। तप ही से सृष्टि की रचना होती है, मृत्यु पर विजय और वशित्व, ईशत्व आदि प्राप्त हो जाते हैं जिसके उदाहरण पुराणों में भरे पड़े हैं। इस्लाम में भी तितिक्षा और तप (जुहद) का, विशेष रूप से प्राचीन सूफी मतवालों ने, वर्णन किया है और अद्भुत अलौकिक शक्तियों से प्राप्त सिद्धि के चमत्कारों का वर्णन तो सैकड़ों वर्षों से चला आता है। चमत्कारप्रदर्शन अथवा उनके करने की शक्ति प्राप्त करने की इच्छा को अच्छा नहीं माना गया है। दोनों ने मान लिया है कि तप और योग द्वारा स्वभावतः अलौकिक शक्तियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। त्याग के प्रचारकों में सुश्री राबिया (मृत्यु ८०१ ई०), अबूयजीद बुस्तमी तथा इब्नबाज्जह के नाम प्रसिद्ध हैं। हनीफों और अहलेसफ का नाम संमान के साथ लिया गया है। सूफी विचारधारावाले तो तपस्वियों और फकीरों की चमत्कारिक शक्ति को मानते हैं, किंतु उनसे भिन्न विचारक उस शक्ति का

अस्तित्व केवल पैगंबर में ही मानते हैं। उनको वह ईश्वरप्रदत्त थी। फिर भी साधारण मुसलमान का फकीरों की करामात में विश्वास है।

सूफियों और फकीरों में योग का भी प्रचार था। हुजवीरी ने सहली संप्रदाय के विषय में लिखा है कि वे मुजाहदा (यम नियम), नशिस्त (आसन) बाँधकर हब्सदम (प्राणायाम), तजकीएनफ्स (प्रत्याहार), तफ़क्कुर (ध्यान) के द्वारा अपनी चित्तवृत्तियों के निरोध का प्रयत्न करते थे। रात्रि में एकांत में जागने, गुफाओं में तप करने और वनों में एकांतवास करके, उपवास, निरामिष भोजन और अनेक प्रकार के योग (रियाज) करनेवालों का उल्लेख ऐतिहासिक ग्रंथों और जीवनियों में मिलता है। चित्तवृत्तियों के निरोध तथा निग्रह के और आत्मदर्शन के द्वारा साधक की आध्यात्मिकता के स्तर बढ़ते जाते थे। इन्हें मकामात कहते हैं। आवेश की स्थिति 'हाल' कही जाती है। नफ्स अम्मारा (महक) के दमन और लहक की प्राप्ति के द्वारा एक मकाम (स्तर) से ऊपर दूसरे पर पहुँचता हुआ साधक ममत्व का नाश या फना कर सकता है। शांति (तमकिनत) की स्थिति और अंततोगत्वा वह अमृतत्व (बका) प्राप्त कर लेता है।

मन की वृत्तियों को वश में करने से कुछ साधक संतुष्ट नहीं होते थे। शांति के सिवा वे ज्ञान (सहव) अथवा प्रेम की मस्ती (सुक्र) की अनुभूति को वांछनीय मानते थे। भावुकता (जौक) में मगन हो जाने से सुख दुःख एक समान हो जाते हैं और अलौकिक अनुभूतियाँ प्राप्त होती हैं। साधक श्रवण, मनन कीर्तन से आनंद संदोह (वज्द) में निमग्न (इस्तिगराक़) हो जाता है। ऐसी स्थिति में परमात्मत्व (जात) और ऐश्वर्य (सिफात) का रहस्य खुल जाता है जो मन और वाणी की गति से भी आगे है। कैवल्य की पूरी अनुभूति तथा तल्लीनता प्राप्त हो जाती है जिससे साधक समाधि (मुकाशिफा) में स्थित हो जाता है। चिंतन (महासिब) में वे य, अ, ह, द, याहू अथवा लाइला इल लिल्लाह इत्यादि का जप करते थे। मुसलमानों में अधिकतर भक्तियोग और राजयोग का प्रचलन था। अधिकतर वे गृहस्थाश्रम में रहकर सिद्धि प्राप्त करने के पक्ष में थे, उसी में विरक्ति की साधना करते थे। कभी कभी, किंतु बहुत कम, हठयोगी का भी वर्णन मिलता है। साधन एवं सिद्धि परमात्मा की कृपा से ही प्राप्त होती है। मुसलमान होने के कारण सूफी मूर्तिपूजा नहीं मानते, जैसा हिंदुओं में आर्यसमाज आदि संप्रदाय में मिलता है किंतु वे प्रत्येक पदार्थ को ईश्वरीय विभूति का द्योतक मानते हैं, प्रत्येक वस्तु में उसका प्रतिबिंब देखते हैं :

यद्यत विभूतिमत्सत्वं यद्यदर्जितमेववा।
तत्तदेवाभिगच्छंत्वममतेजोंश सम्भवम्॥

गीता का यह सिद्धांत उनके विश्वासों से पूरा मेल खाता है। मूर्तिपूजा और तत्संबंधी चर्या के बदले वे वंदन, जप, कीर्तन और साधन करते हैं।

हिंदू धर्म में वेदांतदर्शन का बहुत बड़ा स्थान और महत्व है। इस्लाम में भी उस पर बहुत जोर दिया गया है। 'वाहद' और 'वहदत' में विश्वास और श्रद्धा रखना इस्लाल धर्म की आधारशिला है। वेदांतियों में द्वैत तथा अद्वैत के अनेक संप्रदाय संभवतः इसी कारण हुए कि उपनिषदों में कुछ वाक्य ऐसे भी मिलते हैं जो द्वैतपरक हैं। न्यूनाधिक ऐसी ही स्थिति कुरान के कुछ वाक्यों से उत्पन्न हुई। फलतः दोनों धर्मों में द्वैत (वहदत) और अद्वैत (सनकी) संप्रदाय प्रकट हुए और फलस्वरूप गंभीर विवेचनात्मक साहित्य की भी रचना हुई।

यद्यपि आठवीं शती (ई०) में ही मोअतजला अलजाहीज दार्शनिक दृष्टिकोण की ओर मुस्लिम विचारकों का ध्यान खींचने लगा था, तथापि उसका विशेष प्रयोग नवीं शती में याकूब अल किंदी ने किया और २०० से अधिक ग्रंथ लिखे। उसके मत के अनुसार एकमात्र अव्यक्त निर्गुण सत्ता परात्पर स्वयंभू की है। स्वेच्छानुसार वह व्यापक चेतना (अक्लकुल) का आविर्भाव करता है, जिससे विश्वात्मा (अक्ल फआल) तथा प्रकृति तत्व प्रकट होते हैं। विश्वात्मा अमर और शाश्वत है; उसी से जीवों का परिस्फुरण होता है जो शरीर में बँध जाता है, किंतु प्रयत्न द्वारा उससे मुक्त होकर पुनः विश्वात्मा में अंतर्धान हो जाता है। प्रकृति रूप से (माद्दाऊला) रूप, गति, काल, आकाश आदि की सृष्टि होती है।

दूसरा, किंतु तत्वदर्शन में अग्रणी, दार्शनिक अबू नस्रमोहम्मद फाराबी (६५० ई०) है। अनेक शास्त्रों का अध्ययन कर वह इस परिणाम पर पहुँचा कि ज्ञान के ही द्वारा सत्यात्मक ईश्वर का दर्शन संभव है, किंतु पूर्णकाम अर्थात् पूर्णता की सिद्धि प्रेमाशक्ति से ही प्राप्त हो सकती है। भौतिक प्रेम और शरीरजन्य मोह जीव को नीचे की ओर घसीटते हैं। वासनाओं के अनेकानेक पर्दे जीव को ढके हुए हैं। यावन्ममत्वमिदमात्मन इन्द्रियार्थ माया वलम् भगवतो जन ईश पश्येत् तावन्न संकृतिरसौ प्रतिसंक्रमेति।" (भागवत)। आवरणों का अपहरण हो जाने पर दिक्काल अविच्छिन्न परात्पर का अनुभव होता है और यह रहस्य खुल जाता है कि ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान अथवा प्रेय, प्रेम और प्रेमी वस्तुतः एक ही हैं। दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्त चिन्मात्र मूर्तये। स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे" (भर्तृहरि)। फाराबी में न्याय और वेदांत का गंभीर तथा सुंदर समन्वय है। वह ज्ञान, कर्म और भक्ति के समुच्चय का समर्थक प्रतीत होता है। उसकी धारणा थी कि जो तत्व ब्रह्मांड (आलमे अकबर) में हैं वे ही पिंड अर्थात् मनुष्य (आलमे असगर) में हैं। सिद्धांततः व्यक्त और अव्यक्त में गूढ़ और तात्विक संबंध है।

फिर भी सत्यात्मक परात्पर से न तो विश्व पृथक् है और न वह केवल विश्वरूप अथवा विराट् रूप है। वस्तुतः वह विश्व का उत्क्रमण करके अचिंत्य, अनंत और अद्वय (लाहूती) स्थिति में आत्मस्थित है।

उपर्युक्त दार्शनिक धारा का सांगोपांग निरूपण १३वीं शती (ई०) में मुहीउद्दीन इब्न अल अरबी ने किया। उनके सिद्धांत का भी सारांश यह था कि ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय वस्तुतः एक ही हैं। फलतः अव्यक्त जब व्यक्त होता है तब ब्रह्मांड का आविर्भाव होता है। जो तत्व ब्रह्मांड में हैं, वे ही पिंड (मनुष्य) में हैं। अतएव सिद्धांततः परात्पर से न तो विश्व पृथक् है और न वह केवल विश्वरूप है। वस्तुतः वह विश्व का उत्क्रमण करके अचिंत्य, अव्यक्त, अनंत और अद्वय स्थिति में आत्मस्थित है।

इब्ने अरबी की धारणा में जगत् एक लच्छेदार स्वप्न है। ईश्वर के सत्य ज्ञान की वह परछाईं है। गोस्वामी तुलसीदास के कथन 'यत्सत्वादमृषैव भातिसकलम्' का पूरा समर्थन उसके सिद्धांत से हो जाता है। इसके सिवा और भी अनेक बातों में, जैसे जीव स्वतंत्र है अथवा परतंत्र, दया धर्म इत्यादि विषयों में बहुत कुछ समानता है। इब्ने अरबी के सिद्धांत को कुछ लोग अद्वैत और कुछ विशिष्टाद्वैतपरक मानते हैं। इसमें कोई आश्चर्य नहीं। श्री कोकिलेश्वर शास्त्री ने शंकर के मत का ऐसा निरूपण किया है जिससे उनके और रामानुज के मतों की विभाजनरेखा मिटती सी जान पड़ती है। सृष्टि के आविर्भाव और तिरोभाव का वर्णन करने में इब्न अरबी ने श्वास निःश्वास की प्रक्रिया का भी संकेत किया है। उन गहन विषयों को ठीक ठीक समझने के लिये गहरे ऊहापोह की आवश्यकता है।

इब्ने अरबी के सिवा इब्ने रुश्द (१२वीं शती) आदि ने अपने अपने ढंग से निरूपण किया है। अबूअली इब्ने मस्कवैहृ (११वीं शती) के विचार विशिष्टाद्वैतपरक हैं। अपने अखंड ऐश्वर्य से खुदा (स्वयंभू) प्रकृति को पैदा करता है जिससे फिर बहुलता का परिस्फुटन होता है। जब वह प्रकृति की ओर प्रेरित करता है तो संसार उत्पन्न होता है और जब निवृत्ति चाहता है तब सब लीलाओं का संवरण हो जाता है। इब्नेसिना (१०वीं शती) तथा मुल्ला अब्दुर्रज्जाक लाहिजी के अनुसार परात्पर के विविध प्रकारों के आविर्भाव से ही सृष्टि और संसार होता है और तिरोभाव से लय हो जाता है। शुद्धाद्वैत का सिद्धांत शहाबुद्दीन सहरवर्दी मक़तूल (११४४-१२३४) के दर्शन में मिलता है। उसके अनुसार संसृति को ईश्वर की छाया या प्रकार मानते हैं। ईश्वरीय तेज के प्रतिबिंब अनेकानेक रूप रंग में जगमगाते हैं। जीव में उसके प्रकाश की अधिक छटा है

और जड़ में कम, किंतु है एक ही तत्व। फलतः जितने व्यापार संसार में हो रहे हैं वे शुद्ध व्यवस्थिति की काले पट पर छाया से हैं।

मध्वाचार्य का सा द्वैत अथवा त्रिकूसिद्धांत इब्न रुश्द (१२वीं शती) की रचना में दिखाई देता है। उसके अनुसार प्रकृति अनादि है। ईश्वर उसे जब अनुप्राणित कर देता है तब वह विविध रूपों और नामों से खुल खेलती है। उसी प्रकार चैतन्य भी अविनाशी है, जिसकी कला जीव में तब दिखाई देती है जब वह शरीर में अटक जाता है। कुछ विद्वानों का यह मत है कि इब्न अल अरबी, शेख अकबर अरबी और शेख अहमद मुजद्दिद (१६वीं-१७वीं शती) का भी मत वही था जो रामानुज का, किंतु आगे चलकर मुजद्दिद ने सत्ता की वास्तविक और प्रातिभासिक दो रूपों में कल्पना की, जिसकी तुलना मध्वाचार्य के सिद्धांत से की जा सकती है। इस प्रसंग में यह कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि श्रीचैतन्यदर्शन के अनुसार ईश्वरानुभूति की जो तीन उत्तरोत्तर महत्व की सीढ़ियाँ हैं—ब्रह्म, परमात्मा, भगवान्—उसी क्रम को शेख अहमद सरहिंदी ने भी निरूपित किया है। भारत के दूसरे धर्माचार्य शाह वलीउल्लाह (१८वीं शती) के विचार में वास्तविक तथा प्रातिभासिक सत्ता में केवल शब्दों का भेद है, न कि तात्विक तथ्य का। विषय दुरूह है, किंतु सर अहमद हुसैन के अनुसार अनुमान होता है कि उनका मत रामानुज के सिद्धांत से अधिक मिलता जुलता है। सर अहमद हुसैन के अनुसार इबनुल अरबी का सिद्धांत शांकर अद्वैत से, शेख अहमद सरहिंदी का मध्वाचार्य के द्वैत सिद्धांत से और शाह वलीउल्लाह का रामानुज के मत से तात्विक समानता रखता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल दो एक दार्शनिकों को छोड़कर इस्लाम धर्म के जितने दार्शनिक हुए हैं वे ईश्वर की ध्रुव, शाश्वत सत्ता मानकर चले हैं। भारत में सांख्य को भी सेश्वर बनना पड़ा। 'हमः अंदर ओस्त' तथा 'अंदर हमः ओस्त' के विश्वासमार्ग पर हिंदू और मुसलमान दोनों यात्रा करते रहे हैं।

दार्शनिक दृष्टि को छोड़कर यदि साधना की ओर ध्यान दें तो वहाँ भी हिंदुओं और मुसलमानों के विचार एक दूसरे से बहुत मिलते हैं। अबूबक्र, इब्नेबज्जह (१२वीं शती) ने त्याग, तप, ज्ञान, भक्ति और कर्म के योग का महत्व और उनकी आवश्यकता का वर्णन किया है। उसी शती में इब्ने तुफैल और इब्ने वाजह ने ज्ञान को इतनी प्रधानता दी है कि उसकी सिद्धि से ही, बिना धर्मग्रंथों की सहायता के, मनुष्य पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। ऐसी ही मनोभावना के उन्मेश में नजीरी नैशापुरी ने लिखा है: 'किताब हफ्त दो मिल्लत बख्वानद आदमी आमेस्त। न ख्वानद ताजज़ुग वे आश्नाई दास्तनशरा।

सूफी मत का आरंभ मिस्र देश से माना जाता है, किंतु उसका विकास पश्चिम एशिया, ईरान और तूरान में विशेष रूप से हुआ। यह स्मरण रखना चाहिए कि पश्चिमी ईरानवाले अपने धर्म के अलावा भारतीय तथा पाश्चात्य देशों के मतों और उनके सिद्धांतों से भी परिचित थे। सूफी मतावलंबी प्रारंभ में त्याग और ईश्वर के भरोसे पर धार्मिक आदेशों का प्रतिपालन करते थे। उनको नरक की यातना का अत्यंत भय था। प्रलयांतर न्याय का ध्यान आते ही वे भय से विकंपित हो जाते थे : भयात्‌अग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः भयात् प्राणश्च वायुश्च मृत्युर्धावति।

नवीं शती में खुरासन के सूफी अबुलहुसैन मूरी ने यह घोषित किया कि ईश्वर का ज्ञान ईश्वर की कृपा से ही प्राप्त होता है; बुद्धि, कर्मकांड, दर्शनशास्त्र या विज्ञान से वह प्राप्त नहीं होता। ईश्वर के प्रति भक्ति, पवित्र भावना और सदाचार मनुष्य को उस ज्ञान का पात्र अवश्य बना देते हैं। उसी शती में बल्कव के सूफी यहया मआज ने कहा कि सच्चा सूफी वह है जो ईश्वरप्रेम में इतना लीन हो कि उसे न वर्तमान और न भविष्य, संसार में अथवा उसके पार किसी स्थिति या अन्य गति की परवा हो। सांसारिक सुख क्या वह स्वर्ग तक की कामना नहीं रखता। प्रेमावेश ही प्रेमी का सर्वस्व है। बायजीद बुस्तामी के अनुसार ईश्वर के प्रेमी में उदारहृदयता और दैन्य स्वभावतः ही आ जाता है : यस्यास्तिभक्ति र्भगवत्यकिंचना सर्वैगुणाः तत्र समासते सुराः भारा।

सूफीदर्शन के अनुसार आत्यंतिक सत्ता ज्ञान, ज्योति और सौंदर्य की पराकाष्ठा है। सौंदर्य का स्वभाव अपनी सुंदरता को व्यक्त करना है। द्वैत मत के सूफी संसार को सत्य मानते हैं, मायिक नहीं। सौंदर्योपासना भक्त का गुण और स्वभाव है। चूँकि मनुष्य में तामसिक, राजसिक और सात्विक् अंश होते हैं, अतएव उसे साधन द्वारा नियंत्रित कर गुरु के निर्देश से अपनी प्रवृत्तियों को शुद्ध या प्रखर करना आवश्यक है। सविधि कर्म, ज्ञान के द्वारा मनुष्य जब अपनी बुद्धि और हृदय को शुद्ध कर लेता है और भक्तिभाव से ओतप्रोत हो जाता है, तब भगवत्कृपा का द्राव एवं स्राव होता है जिससे परमात्मा का आवेश द्वारा साक्षात्कार और विभोर तन्मयता का प्रसाद प्राप्त होता है। सूफियों के 'इन्सान कामिल' की कल्पना हिंदुओं की पुरुषोत्तम कल्पना से अनेकांशों में मिलती जुलती है। भारत और अरब का भ्रमण तथा गंभीर चिंतन करके अब्दुल्करीम जीली ने (१३६५) परात्पर के विभिन्न प्रकारों में 'हकीकते मोहम्मदी' अर्थात् मुहम्मदी मतत्व सत्ता की संस्थापना की और उसको 'अक्ल अव्वल' या 'रुहुल कुद्स' का पर्यायवाची घोषित किया। उस तात्विक कलासंसार का प्राण आत्मा है जो संसृति के चक्र का परिचालन करता है। इस विचारधारा में महा-

यानिक तथा पौराणिक अवतारवाद की बहुत कुछ समता झलकती है। यह विचारणीय विषय है कि उस काल में योरप से लेकर भारत तक भक्तिमार्ग का विस्तृत और वेगवान् प्रवाह होता रहा। हिंदू और मुसलमान दोनों गंगा यमुना की तरह अथवा सिंधु और ब्रह्मपुत्र नदों के समान मानसरोवर से चलकर सांस्कृतिक सागर में मिलने के लिये प्रगतिशील थे।

सर्वदर्शनों का अध्ययन और विवेचन करके उनका समन्वय करनेवाले इमाम गजाली (१०७२-११२७) हुए जिनकी विद्या और अनुभूति का संमान आज तक होता चला आ रहा है। उन्होंने और इमाम फखरुद्दीन राजी ने (११६६-११२२) बौद्धिक ज्ञान की गति को सीमित प्रमाणित करके नैय्यायिकों के धुर्रे उड़ा दिए हैं। उनके सिद्धांत के अनुसार ईश्वर ही संसार का संचालक और नियंता है। अलअशरी का कथन है कि ईश्वर संसारचक्र चलाने में कोई विशेष कारण नहीं और न उसे कोई लाभ ही है; वह तो उसकी इच्छा मात्र है। यह कथन उपनिषद् के सैच्छत् सकाम्यत् और भागवत् के 'नते भवस्येशभवस्य कारणम् विना विनोदम् विततर्क यामहे' (भाग०) से चौकस मिलता है। गजाली ने इस मत पर शंका की और अपने दार्शनिक विचार उपस्थित किए। विश्वास, श्रद्धा और अनन्य भक्ति तथा साधनों द्वारा मनुष्य उत्तरोत्तर स्तरों का ज्ञान और अनुभव करता हुआ ध्यानावस्थित और समाधिस्थ होकर ईश्वर का अनुभव करता है। गजाली भी कार्यकारण की अनिवार्यता के कायल न थे। ईश्वर पैगंबरों तथा सुपात्रों आदि को स्वयं अपनी सत्ता का उद्घाटन करा देता है। जीव और ईश्वर में आध्यात्मिक संबंध है क्योंकि उसमें ईश्वर का लघुतम प्रकाश प्रतिष्ठित है। सृष्टि ईश्वर का अंश नहीं, बल्कि उसकी रचना है। लोक तीन हैं। इंद्रियग्राह्य लोक आलमे मलकूज है जो परिवर्तनशील है। तीसरा आलमेफलकूत है जिसमें जीवतत्व निवास करता है और जो परिवर्तनशील नहीं, और दोनों के मध्य में आलमेजबरूत है। कुरान जबरूत लोक में और इस्लाम मलकूत लोक में प्रतिष्ठित हैं। तीनों लोक एक ही समय में विद्यमान् रहते हैं। पात्रता के अनुसार उनका बोध मनुष्य को होता है। कार्याकार्य का ज्ञान ईश्वरप्रदत्त धर्मज्ञान से ही प्राप्त होता है।

अद्वैतवादी मोऐहिद दार्शनिक परमात्मा को अशरीरी मानते थे और उन लोगों का विरोध करते थे जो उसकी सावयव कल्पना कर तजसीम का पोषण करते थे। मोऐहिद इब्ने जमूरत का सिद्धांत था कि ईश्वर के गुण की कल्पना भ्रमात्मक है, वस्तुतः जिन्हें लोग गुण समझते हैं वे ईश्वर के नाम हैं। वेदों की तरह ईश्वर की कल्पना 'नेति नेति' अर्थात् 'यह नहीं, ऐसा नहीं', कहकर ही संभव है।

उपर्युक्त विषय के संकेत मात्र से यह अनुमान सरलता से किया जा सकता है कि हिंदू और मुसलिम विचारधाराओं में कितना घनिष्ठ संबंध है। इस प्रसंग में जितना पैठा जाय उतना ही अधिक सामीप्य प्रतीत होता है। सिद्धांतनिरूपणों की शैलियों तथा चर्यायों एवं साधनों में थोड़ा बहुत भेद होना संभवतः विषय एवं विधान के लचीलेपन और वैचित्र्य का द्योतक है, न कि सिद्धांत, विश्वास और ध्येय का जिनमें एकरसता है। दर्शन तथा साधनों के आंदोलन और उनके विविध स्वरूपों पर जर्मन, फ्रेंच तथा अंग्रेजी भाषा में तो कुछ लिखा गया है, किंतु हिंदी और संभवतः उर्दू में भी गवेषणापूर्ण प्रामाणिक ग्रंथों की कमी बहुत खटकती है। दार्शनिक तथा भावप्रधान अनुभवों का समुचित ज्ञान हमारी मध्ययुग (१०वीं से १८ वीं सदी तक) की संस्कृति, साहित्य, कला एवं भावनाओं के ठीक ठीक मूल्यांकन के लिये आवश्यक है। इसका अध्ययन ज्ञानसंवर्धन के साथ ऊँचे स्तर का मनोरंजन और व्यावहारिक लाभ प्रदान करनेवाला होगा।

सिद्धांतों और दार्शनिक विचारों के प्रसंग को छोड़कर यदि आप उनके आचारदर्शन का अवलोकन करें तो उसमें भी बहुत कुछ समता दिखाई देगी। जिस प्रकार हिंदू वेद को वैसे ही मुसलमान कुरान को ईश्वर का अनुशासन मानकर उनको आचारशास्त्र का आधार या मूल मानते हैं। हिंदू आचारधर्म को प्रथम स्थान देते हैं और मुसलमान भी उसका पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक मानते हैं। श्रद्धा, विश्वास, संध्यावंदन (नमाज), व्रत, उपवास (रोजा), दान (जकात), तीर्थाटन (हज) सिद्धांततः दोनों मानते हैं, यद्यपि उनकी विधियों और बाहरी रूपों में अपनी अपनी विचित्रताएँ हैं। जिस प्रकार हिंदू धर्मविचारक कर्तव्य, अकर्तव्य तथा गुण-दोष-रहित कर्म मानते हैं, ठीक उसी प्रकार मुसलमान भी फर्ज, नारवा, फासिद, हराम तथा मकरूह अर्थात् जिनका करना वर्जित तो नहीं, किंतु उनका विचार न करना अच्छा है। गुनाह कबीर और गुनाह सगीर अर्थात् महापातक तथा पातक का विचार पातकविनिश्चय में किया जाता है। गुनाह सगीर का हार्दिक तोबा (प्रायश्चित) से, जुरमाना या हरजाना देने से, कुछ शारीरिक और कुछ मृत्युदंड से, और घोरतम पातक नरकयातना (दोजख) से दूर होते हैं। कुछ ऐसे पाप भी हैं जो प्रायश्चित्त से भी दूर नहीं होते। पाँच महापातकों में हैं — सुरापान, ब्रह्महत्या, भयंकर व्यभिचार और चोरी। मनुस्मृति के अनुसार उपपातकों की संख्या कम से कम २२ है जिनमें नाच गान का पेशा, ठगी, सूदखोरी, व्यभिचार इत्यादि हैं। यदि स्मृतियों में दी हुई पातकों की तालिका से फिक् की तालिका का मिलान किया जाय तो सिद्धांतों तथा व्यावहारिक विचारों के बहुत बड़े अंश में एकसूत्रता और समानता दिखाई देगी।

मुसलमानों और हिंदुओं के कुलगत और सामाजिक व्यवहारों तथा विचारों में एक सा ही आदर्श दिखाई पड़ता है। माता पिता और बड़े बूढ़ों का संमान, मादक द्रव्यों का त्याग, वैवाहिक जीवन, अतिथिसत्कार आदि अन्यान्य बातों में इतनी समानता है, मानो दोनों एक ही वृक्ष की दो विभिन्न शाखाएँ हों। समाजशास्त्र के विद्वानों को चाहिए कि वे इस विषय का सांगोपांग अध्ययन करके प्रामाणिक ग्रंथों का प्रकाशन करें।

यद्यपि अभी कोई प्रामाणिक सुबोध पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई, तथापि इतिहास के निरीक्षकों को ज्ञात हो गया है कि हिंदू और इस्लाम के राजनीतिक संगठन में भी बहुत सादृश्य है। 'राजा प्रशास्ति धर्मेण स्वकर्मनिरता प्रजा' दोनों में घटता है। जिस समय तुर्क लोग इस्लाम धर्म को लेकर भारत में आए उस समय तक जनतंत्रात्मक सिद्धांत मुसलमानों और हिंदुओं में अस्तप्राय हो चुका था। यद्यपि भिन्न भाषाभाषी होने के कारण संज्ञाओं और शब्दों में भेद है, तथापि शासन और अनुशासन के सिद्धांतों और संगठन में गहरी समानता है। दोनों में गुण दोष भी एक ही प्रकार के मिलते हैं।

अशिक्षितों की तो चर्चा ही दूर रही, अच्छे खासे पढ़े हुए लोग हमारी विभिन्नताओं से अधिक परिचित हैं, जिसके अनेक कारण हो सकते हैं। किंतु समानताओं का यथार्थ ज्ञान न होने से उनकी धारणाएँ असंतुलित और भ्रांतिजनक हो गई हैं। कुछ शोचनीय कारणों से, जिनमें अज्ञान तथा दुराग्रह की विशेष प्रधानता है, हिंदू मुसलमान अपनी मूलगत धार्मिक और सांस्कृतिक तथा सामाजिक एकता का यथावत् स्वरूप देख नहीं पाए और अपने वास्तविक रूप को नहीं पहचान पा रहे हैं। इसी कारण उनकी राजनीतिक और आर्थिक समस्याएँ उलझ सी गई हैं। इस भ्रमजाल का निवारण साहित्य और सत्यज्ञान से हो सकता है। मैं असत्य का प्रचार करने का पक्षपाती नहीं हूँ। यदि उससे कोई लाभ भी हुआ तो वह क्षणिक होगा और भेद खुल जाने पर उसकी प्रतिक्रिया भी अच्छी नहीं होगी। व्यक्ति अथवा समाज का जीवन सत्य और सहानुभूति की आधारशिला पर ही मजबूती और स्थायी रूप से रखा जा सकता है।

मतभेद, वेशभूषा, रीतिरिवाजों की भिन्नता पर तो राजनीतिक तथा आर्थिक स्वार्थ के लिये जो संघर्ष हुए हैं, और दोनों मतावलंबियों को जो उससे हानियाँ हुई, और हो रही हैं उनको बिसारने अथवा उनपर डटे रहने से किसी का भी लाभ या उपकार न हुआ और संभवतः न होगा। यह भूलना न चाहिए कि ऐसे संघर्ष मुसलमानों में भी हुए हैं और हिंदुओं में भी। फिर भी यह आवश्यक नहीं कि उनके कारण हम धार्मिक भावना, संस्कृति तथा सामाजिक व्यवहार आदि लौकिक

एवं पारलौकिक विषयों की ओर से विरक्त रहें और एक दूसरे को समझने और पहचानने का प्रयत्न न करें। हिंदी तथा उर्दू के साहित्यसेवियों और विद्याविलासियों को यह काम शीघ्रातिशीघ्र उठाना चाहिए। वैज्ञानिक और दार्शनिक दृष्टि और सत्यनिष्ठा से यदि हिंदू और मुसलमान इस ओर प्रयत्न करें तो हमारा वाङ्मय लोकोपकारी भी हो सकता है।

*

शब्ददर्शन

रामस्वरूप शास्त्री

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥
—भर्तृहरि : वाक्यपदीयः

उत्पत्ति और विनाश से रहित अतएव नित्य 'पश्यंती' वाणीरूप शब्दतत्व ब्रह्म है। जो पृथक् 'क, ख, ग······' इत्यादि वर्णरूप, वैखरी वाक् का निमित्त होता हुआ अविद्यारूप बाह्य अर्थ की वासना से 'कमल, खनन, गगन – –' इत्यादि शब्दों के रूप में भासमान होता है।

अतएव शब्द और अर्थ उभयरूप और पूर्वभाव अपरभाव से रहित जिसका क्रम है, ऐसे 'शब्द' नाम के तत्व से विकारजन्य जगत् की उत्पत्ति अथवा व्यवहार प्रवर्तित होता है।

भावार्थ—सिद्धांत रूप से वाणी तीन प्रकार की है, 'भर्तृहरि' का भी यही मत है। 'पश्यंती मध्यमा, वैखरी' इनमें ग्रहण करने योग्य वस्तु और ग्रहण करने वाला इन आकारों से रहित, अखंड और पूर्वभाव परभाव इस क्रम से वर्जित पश्यंतीरूप वाक् ब्रह्म है। वही अविद्यास्वरूप और केवल अंतरंगरूप में (अंतर्हृदय में) दर्शक है अवस्था जिसकी, ऐसे भोगकर्ता के रूप से शून्य चैतन्य मात्र 'जीव' कहा जाता है। यथा—

स एव जीवो विवरप्रसूतिः, प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः ।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्यरूपं, मात्रा स्वरा वर्ण इति प्रविष्टः ॥
भागवत स्कं० ११, अ० १२, श्लोक १७

पश्यंती (विवक्षित पदार्थ को देखनेवाला) वाक्रूपी शब्द ही 'जीव' है, जो अर्थकथन की इच्छा से उपलक्ष्यमाण होने पर मनोविज्ञान रूप में आस्थासंपन्न होते हुए मध्यमा वाक् (शब्द) कहा जाता है और वह मध्यमा वाक मुख में प्राप्त होकर विभिन्न 'अ, क, ख, च, त······' इत्यादि वर्णों के भिन्न भिन्न 'कंठ, तालु······' आदि स्थानों में विद्यमान—अ, क······ इत्यादि वर्णरूप वैखरी वाक् कही जाती है, जो अन्य व्यक्ति को ज्ञान कराने में समर्थ है। वैखरी वाक् बहिःस्थित अर्थों की वासना, जो अविद्यारूप है उसके द्वारा 'आकाश, कमल, गगन ······' आदि भिन्न भिन्न आकारों में भासमान